पाणिनीय अष्टाध्यायी के रचना-सिद्धान्त



डॉ॰ विशन लाल गौड़ 'व्योमशेखर'

पाणिनीय अष्टाध्यायी के रचना-सिद्धान्त

पाणिनीय अष्टाध्यायी
के
रचना-सिद्धान्त

शिक्षा-मंत्रालय, भारत सरकार की वित्तीय सहायता से प्रकाशित

डॉ० विशन लाल गौड़ 'व्योमशेखर'
एम० ए०, पी-एच० डी०, व्याकरणाचार्य
प्राचार्य,
अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज, अतर्रा (बांदा) उ० प्र०

लोकालोक प्रकाशन
156, श्याम पार्क साहिबाबाद (ग़ाज़ियाबाद)

प्रकाशक : लोकालोक प्रकाशन
156, श्यामपार्क साहिबाबाद (ग़ाज़ियाबाद)

वितरक : अभियान प्रकाशन
204-ए, मुनीरका गांव,
पोस्ट—जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली-110067

मूल्य : सौ रुपये

संस्करण : 1985

मुद्रक : शान प्रिंटर्स, शाहदरा दिल्ली-32

PANINIYA ASTADHYAYI KE RACHANA-SIDDHANT
by : Dr. Vishan Lal Gaur 'Vyomshekhar' Rs. 100.00

मूर्द्धन्य प्राच्यविद् गोल्ड स्टूकर को समर्पित

Herrn Gold stucker, dem Indologen, gewidmet.

पूर्वाभाष्यम्

'पाणिनीय अष्टाध्यायी के रचना-सिद्धांत' नाम से प्रकाश में आ रही यह कृति पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत किये गये मेरे शोध-प्रबंध का ही संस्करण है। यह कार्य आज से बारह वर्ष पूर्व 1973 ई० में सम्पन्न हो चुका था। इसके अब तक प्रकाश में न आने का कारण इसी प्रकार के अन्य श्रम-साध्य कार्यों की सुविदित नियति से भिन्न कुछ नहीं था। हमारे विश्वविद्यालयों में ऐसी कोई सुनिश्चित व्यवस्था नहीं है कि विना अतिरिक्त भागदौड़ के शोध की सभी उपलब्धियां प्रकाशित होती रहें। विश्वविद्यालयों का कर्त्तव्य उपाधि प्रदान कर पूरा हो चुका होता है। उपाधि प्राप्त करने वाला अपना एक नवीन अलंकरण प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाता है।

अस्तु, अपने देश की शिक्षा-पद्धति में हम सब इन मलालों के साथ जीने के अभयस्त हो चुके हैं। इधर लेखक का अपना कुछ मौसम बदला है। भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय की कृपा से यह कृति प्रकाशित हो पा रही है। लेखक इससे स्वयं को धन्य अनुभव कर रहा है तथा शिक्षा-मंत्रालय के प्रति अपना आभार व्यक्त करता है।

अब थोड़ा-सा लेखकीय प्रामाणिकता सूचित करने की दृष्टि से अपने तथा अपनी कृति के बारे में बताना भी आवश्यक है। पाणिनीय व्याकरण के क्षेत्र में नव्य-व्याकरण नाम से विख्यात अध्ययन पद्धति से मेरा गहरा सम्बन्ध रहा है। नव्य-न्याय की पदार्थ-परिष्कार की जटिल शैली से साजात्य निभाने वाली व्याकरण के अध्ययन की इस विधा का भी अपना विशिष्ट सिक्का चलता है। पाणिनीय सूत्रों के पदार्थ-विवेचन को लेकर जो बाल की खाल नव्य-व्याकरण की विधा खींचती है उसके बारे में अधिक न कहना ही अच्छा है। पाणिनीय सूत्रों के गूढ़ परिष्कारों को विना आत्मसात् किये इसके अधिकांश अध्येता पाणिनि, कात्यायन

तथा पतञ्जलि का ऋण उतारते रहे हैं। यह एक कटु सत्य है कि इन परिष्कारों में प्रतिपाद्य उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता जितना कि इसकी वाग्जालपूर्ण-शैली। श्रम के आगे तो सभी जालों को कटना होता है ऐसा ही कुछ मेरे साथ भी रहा।

नव्य-व्याकरण के परम्परागत अध्ययन के अतिरिक्त मेरा जुड़ाव अध्ययन की अद्यतन विधाओं से भी जैसे-तैसे चलता रहा। अवसर-अवसर पर परम्परागत वैयाकरणों की धज्जियां उड़ाने वाले आधुनिक भाषाशास्त्रियों का भी सम्पर्क मिला। इस प्रकार सबसे महत्त्वपूर्ण सम्पर्क मेरठ के डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का रहा। वे उन दिनों 'संस्कृत-शिक्षण की नवीन योजना' पुस्तक तैयार कर रहे थे। मुझे भी उस योजना में आंशिक भागीदारी का अवसर मिला। इस रचना के पीछे लेखक के इरादे क्रांतिकारी लगते थे परन्तु पाणिनि की छाया वहां भी पीछा नहीं छोड़ती थी। पाणिनीय शास्त्र की तहों में बिना जाये भी कुछ टिप्पणियां हो जाया करती थीं। बस, यहीं से मेरे वैयाकरण के अन्दर का पाणिनि जाग उठा। वह निठल्ला तो पहले भी नहीं था परन्तु अब तो अपने मंच से हाथ दिखाने की चुनौतियां ही सामने थीं। तभी मैंने अपने शोध-कार्य का विषय पाणिनीय अष्टाध्यायी को चुना जिसका प्रतिफल यह कृति है।

मेरे शोध-अध्ययन के दौरान डा० विद्यानिवास मिश्र की 'डिस्क्रिप्टिव टेकनीक आव पाणिनि' से पाला पड़ा। इस महत्त्वपूर्ण कृति ने पश्चिम के कितने ही भाषावैज्ञानिकों की कृतियों का अध्ययन करने को विवश कर दिया। मुझसे जितना हो सका बढ़ा और बढ़ता ही चला गया। मेरे लिये वह सब एक रोमांचक कहानी है।

मेरे अन्दर के श्रमवादी लेखक को संतोष है कि उसका श्रम बाजी नहीं हारा। जो उस समय मथा जा सका था भरसक मथा। जो तब नहीं हो सका उसे आगे जारी रखा और अब भी जारी है। मुझे पूरा भरोसा है कि मैं स्वयं को पाणिनि के अन्दर गहरे और गहरे उतारने में कुछ न कुछ अवश्य सफल रहा और वह किया जो मेरे जैसे पाणिनीय अध्येता द्वारा अपनी सीमाओं में रहकर किया जा सकता था।

पूरे के पूरे कार्य में किसी भी प्रकार के प्रमाद को टालने का पूरा प्रयत्न किया गया है। जहां कहीं आवश्यक लगा है कात्यायन की तरह नोंक-झोंक भी की गई है। अधिकांश प्रयत्न पतञ्जलि की शैली से पाणिनीय तकनीक का वैज्ञानिक और व्यवस्थित रूप ही प्रकाश में लाने का रहा है। पाणिनीय अष्टाध्यायी के रचना-सिद्धांतों के सभी तकनीकी पक्षों का व्याख्यान किया है तथा अद्यतन वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान के साथ उसका संवाद भी कराया है। संस्कारवशात् मेरा परंपरागत वैयाकरण भी स्थान-स्थान पर रौब-दाब दिखाने में नहीं चूका है।

अध्यवसायी विद्वान एक से एक अच्छा कार्य कर रहे हैं। श्रमनिष्ठ लेखक के लिए ऐसे साधारण से कार्य पर अधिक गर्व करने जैसी कोई बात नहीं है। पाणिनीय व्याकरण का अध्येता इसके सहारे अपने शास्त्र की तकनीकी विधा से यदि जुड़ सके तो समझा जाएगा कि श्रम सार्थक रहा।

इस कार्य में जिन विद्वानों की कृतियों से दिशा मिली है तथा जिनकी सम्मतियों ने नैतिक संबल प्रदान किया है उनके प्रति बहुत-बहुत आभार। मेरे शोध-कार्य के निर्देशक असाधारण रूप से विनम्र विद्वान् डा० केशवराम पाल तथा मेरे आचार्य-कुल के लिए शब्दों की श्रद्धा बहुत लघीयसी पड़ती है।

मेरे प्रिय साथी डा० जानकीप्रसाद शर्मा तथा डॉ० राजकुमार शर्मा, जिन्होंने मेरी लेखनी को प्रकाश में लाने के लिए असाधारण सहयोग किया है, के लिए मेरा कृतज्ञतानिवेदन स्वाभाविक है। मेरे जैसे-तैसे जीवन के अध्यवसाय को निभाने में सभी प्रिय और अप्रिय झेलकर जिसका सहयोग रहा है उस मेरी प्रिय साथी रत्ना गौड़ की भूमिका भी न भुलाने योग्य है। अस्तु, पाणिनीय भाषा में कहें तो नामों का उल्लेख तो 'पूजार्थ' है। बड़ा कठिन होता है उन सभी सहयोगी तन्तुओं का उल्लेख कर पाना जो किसी कृति का जन्म देने में भूमिका निभाते हैं।

—विशन लाल गौड़ 'व्योमशेखर'

संक्षेप-सूची

अ०	अध्याय
अष्टा०	अष्टाध्यायी
आ०	आहि्नक
का०	काण्ड
न्या०	न्यायसूत्र
पा०	पाद
पृ०	पृष्ठ
परिभा०	परिभाषेन्दु शेखर
पस्पशा०	पस्पशाह्निक
ब्र० का०	ब्रह्म काण्ड
भूषण०	वैयाकरणभूषणसार
मञ्जूषा०	वैयाकरण सिद्धांत लघु मञ्जूषा
मनोरमा०	प्रौढ़ मनोरमा
महा०	महाभाष्यम्
मीमांसा०	मीमांसा सूत्र
लघु० कौ०	लघुसिद्धान्त कौमुदी
लघु० श०	लघुशब्देन्दु शेखर
वा०	वार्तिक
वाक्य०	वाक्यपदीयम्
शब्दशक्ति	शब्दशक्तिप्रकाशिका
सि० कौ०	सिद्धान्तकौमुदी

आंग्लभाषा के भाषावैज्ञानिक शब्दों के समानार्थी हिन्दी शब्द

Abstract	प्रतीक, अमूर्त
Accent	आघात, स्वर
Allo	प्रतिनिधि, आदेश
Allomorph	संरूप
Allophone	संध्वनि
Alternant	आदेश
Alternaion	आदेशन, परिवर्तन
Circular	वृत्तगतिक
Combinatlon	समुच्चय
Complete substitution	सर्वादेश
Component	घटक, अवयव
Composite	अखण्ड, कूट
Continuous	अखण्ड
Descriptive Linguistics	वर्णनात्मक भाषाविज्ञान
Discoutinuous Theory	विखण्डन सिद्धान्त
Eme	स्थानी
Empty morpheme	अर्थहीन रूपग्राम, स्वार्थप्रत्यय
Gender	लिंग
Immediate Constituent	अव्यवहित घटक
Item	इकाई, उपादान
Item and Arrangement	उपादान एवं व्यवस्थापन

Item aud Process	उपादान एवं प्रक्रम
Lexicon	अभिधान-कोष
Linguistics	भाषाविज्ञान
Linguistic item	भाषिक-उपादान
Methodology	विधा
Morpheme	रूपग्राम
Morphophoneme	रूपध्वनिग्राम
Neutralisation	असिद्धता
Neighbourhood	उपश्लेष
Operation	विधि
Partial Substitution	एकदेश्यादेश, एकदेशविकार
Phone	ध्वनि
Phoneme	ध्वनिग्राम
Representation	प्रतिनिधान
Represented	प्रतिनिहित
Sememe	अर्थग्राम
Sequence	शृंखला
Set	वर्ग
Stratum	स्तर
Structural analysis	संरचनात्मक विश्लेषण
Structural Linguistics	संरचनात्मक भाषाविज्ञान
Sub-set	उपवर्ग
Suffix	प्रत्यय
Unit	उपादान
Zero morpheme	शून्य रूपग्राम

अनुक्रम

अध्याय 1

भूमिका

पाणिनि तथा संस्कृत की व्याकरण-परम्परा

1.1. संस्कृत-व्याकरण के प्रवर्तकों में पाणिनि का स्थान

जर्मन विद्वान् गोल्डस्टूकर उस क्षण निःसन्देह एक बहुत बड़े यथार्थ का अनुभव कर रहा था जब उसकी लेखनी ऋषि पाणिनि तथा उसकी अद्वितीय व्याकरण-कृति के विषय में ये उद्‌गार अंकित कर रही थी—"पाणिनि का व्याकरण पुरातन साहित्य की विस्तृत तथा महत्त्वपूर्ण शाखा का केन्द्र है। भारत के वैज्ञानिक विकास की भूमि में उसकी कृति से अन्य किसी की जड़ें इतनी गहरी नहीं पहुंची हैं। यह कृति भाषा-साधुता का प्रमाण है,—वैदिक भाष्यों की आधारशिला है। कोई भी भाषावैज्ञानिक, जब भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी कठिनाई अनुभव करता है, इसकी ओर देखता है। उन प्रकाशात्मक ऋषियों के अतिरिक्त, जिनके कार्य 'हिन्दू-विश्वास' के मूल हैं, उन व्यक्तित्वों में, जोकि वैज्ञानिक कृतियों के उपज्ञाता हैं तथा वास्तविक अर्थ में 'व्यक्तित्व' माने जा सकते हैं, पाणिनि ही एकमात्र है जो अन्वर्थतः 'ऋषि' है—वह उपज्ञाता जिसकी कृति का मूल देव-शक्ति के वरदान में समझा जाता है।" 'पाणिनि'—यह त्र्यक्षर नाम भारत की उस भाषावैज्ञानिक प्रतिभा का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे शब्द-विद्या की जन्मदात्री होने का श्रेय भले ही न दिया जा सके तथापि जिसके सर्वातिशायी व्याकरणशास्त्र ने अपने उदय से पूर्व की सभी वैयाकरण-कृतियों को शास्त्र-सन्दर्भों में नाम-शेष कर दिया तथा पश्चाद्भावी कृतियों को उनकी साम्प्रदायिक परिसीमाओं में रहने को विवश कर दिया।

1.2. पाणिनि का स्थिति-काल

अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्र के रूप में 'मानव-मेधा की एक महत्तम कृति'[1] के जन्मदाता तथा 'भारत के सर्वोत्कृष्ट आप्त वैयाकरणों में अन्यतम'[2] पाणिनि के स्थिति-काल का अध्ययन करते हुए हम यह नहीं भुला सकते कि मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई से प्रकाश में आने वाली सिन्धु-सभ्यता के परिचय के अतिरिक्त संभवत: कोई ऐसी ऐतिहासिक उपलब्धि नहीं हुई है जिसके आधार पर 19वीं शती के यूरोपियन प्राच्य-विशेषज्ञों की भारत के पुरातन से सम्बन्ध रखने वाली कालिक मान्यताओं में बहुत बड़ा परिवर्तन किया जा सके। सिन्धु-सभ्यता के उदय से भारत के पुरातन इतिहास में एक आदिम अध्याय ही और जुड़ा है। उससे आर्य-वैदिक सभ्यता के कालिक विकास के विवरण पर सिवा इसके कि भारत की प्राचीनतम सभ्यता का स्थान ऋग्वैदिक सभ्यता के स्थान पर 'सिन्धु-सभ्यता' को मिला है, निष्कर्षों में परिवर्तन लाने वाला कोई अन्य प्रभाव नहीं हुआ। अत: स्वाभाविक है कि अपने पुरातन की किसी भी घटना या किसी भी व्यक्ति की कालिक स्थिति के सम्बन्ध में हम भारतीयों का अध्ययन उन्नीसवीं शती के अपने उन्हीं पाश्चात्य मित्रों की मान्यताओं से आरम्भ होता है, जिनके प्रति इस दिशा में हम वस्तुत: ऋणी हैं। उन्होंने हमारे इतिहास को अन्धकार से न केवल उभारा, अपितु भारतीय अध्येता की इतिहास के प्रति लज्जास्पद उदासीनता को दूर किया और साथ ही इतिहास को संजोने की दिशायें भी दीं। इस सब का ही यह परिणाम हुआ कि भावी भारतीय अध्येताओं ने अपने पुरातन को सतर्क दृष्टि से झांका है और स्वतन्त्र अध्ययनों के द्वारा जहां कहीं अतथ्यात्मक लगा पाश्चात्य मान्यताओं में संशोधन की सम्भावनाएं भी प्रस्तुत की हैं।

पाणिनि के स्थित-काल का सही निर्धारण कर पाना भारत के प्राचीन इतिहास की खोज करने वाले पुराविदों के लिए बड़ी चुनौती रहा है। इस महत्त्वपूर्ण विषय[3] पर पाश्चात्य तथा भारतीय मनीषियों के न्यूनाधिक अन्तर से अनेक

---

1. Bloomfield, 'Language', p. 11.
2. T. Gold Stucker, Panini, p. 289.
3. Gold Stucker, Panini, p. 95 : "The Sanskrit philology should not yet possess the means of ascertaining the date of Panini's life, is no doubt a serious impediment to any research concerning the chronology of ancient Hindu works. For Panini's Grammar is the centre of a vast and important branch of the ancient literature. No work has struck deeper roots than his in the soil of the scientific development of India."

निष्कर्ष प्राप्त किये हैं। उनके निष्कर्षों का तुलनात्मक अध्ययन निश्चित ही हमारे लिए विषय की यथार्थता के निकट पहुंचने में सहायक सिद्ध होगा।

1.3. बार्टलिक तथा मैक्समूलर का निष्कर्ष

इन दोनों महानुभावों ने सोमदेव के 'कथासरित्सागर' (11वीं शती) तथा कल्हण पंडित की 'राजतरंगिणी' (12वीं शती) के प्रमाण से कात्यायन तथा पाणिनि दोनों का समय 350 ई० पू० निर्णीत किया है। कथासरित्सागर की एक कहानी में पाणिनि के नन्द सम्राट् की सभा में पाटलिपुत्र जाने का वर्णन है। राजतरंगिणी में कश्मीरी शासक 'अभिमन्यु' (100 ई० पू०) के निर्देश से कश्मीर में चन्द्रवैयाकरण के द्वारा पतञ्जलि के महाभाष्य की शिक्षा के प्रचार का उल्लेख हुआ है। बार्टलिक ने आनुमानिक रीति से महाभाष्य की रचना का काल अभिमन्यु से 50 वर्ष पूर्व माना है। साथ ही सूत्रकार तथा महाभाष्यकार के मध्य उसने वार्तिककार, परिभाषाकार और कारिकाकार तीन वैयाकरणों की पीढ़ियों का व्यवधान मानते हुए प्रत्येक पीढ़ी के मध्य 50 वर्ष का अन्तर स्वीकारा है। बार्टलिक ने इस रीति से पाणिनि को 350 ई० पू० माना है।[1] प्रो० मूलर ने बार्टलिक के निष्कर्ष को पर्याप्त सही मानते हुए केवल एक अंश में विरोध रखा है। वह पाणिनि और कात्यायन को समसामयिक मानते हैं।[2]

1.4. प्रो० वेबर का निष्कर्ष

प्रो० वेबर ने बार्टलिक की स्थापना को अष्टाध्यायी के अन्तःसाक्ष्य के विपरीत माना है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी 4.1.49 में 'यवन' शब्द का प्रयोग किया है तथा अष्टाध्यायी 3.2.21 में 'लिपि' का प्रयोग किया है। वार्तिककार ने 'यवनानी' का 'लिपि' अर्थ में प्रयोग पाणिनि-सम्मत माना है।[3] साथ ही अष्टाध्यायी 4.2.45 सूत्र के अन्तर्गत पठित गणपाठ में 'क्षुद्रक-मालव' सेना का नाम आया है। प्रो० वेबर ने दोनों ही साक्ष्यों के आधार पर पाणिनि का समय सिकन्दर के आक्रमण (327 ई० पू०) के पश्चात् मानने की पेशकश की है।[4] उसकी मान्यता है कि भारतीय वैयाकरण को 'यवन' तथा 'यवनानी' लिपि का परिचय उक्त आक्रमण के पश्चात् ही सम्भव है। क्षौद्रकमालवी सेना को भी वेबर ने सिकन्दर के प्रतिरोध हेतु संगठित क्षुद्रक तथा मालव गण की संयुक्त सेना के रूप

---

1. गोल्ड स्टूकर, पाणिनि, पृ० 93
2. वही, पृ० 91, 93
3. महा० 4 अ० 1 पा० 2 आ० वा० 5183, 'यवनाल्लिप्याम्'
4. ए० वेबर, 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर', पृ० 217-221

में लिया है।

1.5. गोल्डस्टूकर का निष्कर्ष

गोल्डस्टूकर का 'पाणिनि' हमारे महान् वैयाकरण के स्थिति-काल के अध्ययन की दिशा में एक अद्भुत कृति है। लेखक ने बाह्य सामग्री का थोथा सहारा न लेकर अष्टाध्यायी के अन्तःसाक्ष्यों को पुरातन वाङ्मय की विविध कृतियों की तुलना में आमने-सामने तौला है। गोल्डस्टूकर की असाधारण तर्कशक्ति, वाग्मिता तथा उसके द्वारा प्रस्तुत उपलब्ध प्रमाणों का सुनियोजित संकलन पाणिनि के अध्येता को सचमुच भारत के अदृश्य पुरातन में गहरे और गहरे बैठने का आह्वान करना है। उसने भारतीय काल-गणना में अपने समसामयिक विद्वानों विशेषतः मैक्समूलर,[1] बार्टलिक[2] तथा वेबर[3] के निष्कर्षों को पूरी तरह निरस्त कर दिया है। उसके द्वारा प्रस्तुत दिशा से पाणिनि का समय कात्यायन के समय से चार-पाँच पीढ़ी पूर्व होना चाहिए। यह मोटे तौर पर 700 ई० पूर्व[4] होता है।

तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर गोल्डस्टूकर ने ये निष्कर्ष प्राप्त किये हैं:

(क) वैदिक संहिताओं में पाणिनि ऋक्, यजुष्, साम की सूचना देता है। अथर्ववेद का कोई उल्लेख नहीं करता।[5]

(ख) पाणिनि के समय तक याज्ञवल्क्य की शुक्ल-यजुर्वेद संहिता (वाजसनेयि-संहिता) का निर्माण नहीं हुआ था।[6]

(ग) पाणिनि अपने दो सूत्रों में 'ब्राह्मण' और 'कल्प' का उल्लेख करता है[7] किन्तु ये ब्राह्मण और कल्प 'पुराण-प्रोक्त' हैं न कि 'शतपथ' आदि समसामयिक या पश्चाद्भावी। आरण्यक और उपनिषद् तो सुतराम् पश्चाद्भावी लगते हैं।[8]

---

1. टी० गोल्डस्टूकर, 'पाणिनि', पृ० 87-92
2. वही, पृ० 92-93
3. वही, पृ० 205-208
4. वही, पृ० 230
5. वही, पृ० 156

   'There is no evidence to show that he (Panini) knew an Atharva-veda'.
6. वही, पृ० 154
7. पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (अष्टा० 4. 3. 105)
8. टी० गोल्डस्टूकर, 'पाणिनि', पृ० 154

(घ) उपलब्ध प्रातिशाख्य (विशेष रूप से ऋक् प्रातिशाख्य तथा वाजसनेयि प्रातिशाख्य) पाणिनि से उत्तरकाल की रचनाएं हैं।[1]

(ङ) यास्क पाणिनि का पूर्ववर्ती है।[2]

(च) पाणिनि गौतम बुद्ध से पूर्वकालिक हैं।[3]

उपर्युक्त निष्कर्ष प्राप्त करने में गोल्डस्टूकर ने जिस असाधारण विद्वत्ता और तर्कशक्ति का उपयोग किया है वह पाणिनि का स्थिति-काल निश्चित करने में अन्तिम सफलता नहीं देती और न ही लेखक ने ऐसा दावा ही किया है। वह सत्य को खोजने की एक दिशा का सतर्क संकेत है।

1.6. युधिष्ठिर मीमांसक का निष्कर्ष

मीमांसक ने यत्र-तत्र शास्त्र-सन्दर्भ में उद्धृत नामों के सहारे यास्क, शौनक व्याडि, पाणिनि, पिंगल और कोत्स आदि को लगभग समकालिक माना है। महाभारत को प्रमाण मानकर शौनक तथा यास्क का समय कम से कम 2800 ई० पूर्व माना है।[4] उनकी रीति से यही पाणिनि का स्थिति काल होना चहिए।

1.7. भण्डारकर-परिवार के निष्कर्ष

श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने भी गोल्डस्टूकर की भांति पाणिनि का समय सप्तमी शती ई० पू० ही माना है। श्री देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर का प्रतिसंस्कृत मत पाणिनि को छठी शताब्दी ई० पू० के मध्य रखना है। भण्डारकर आरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के आचार्य आर० एन० दाण्डेकर ने भी पाणिनि की स्थिति को स्पष्टत: छठी शती ई० पू० माना है। पाणिनि द्वारा प्रयुक्त 'यवन' शब्द को उन्होंने 'आयोनिया' निवासी के लिए बताया है जिनका परिचय भारतीयों को ईरान के द्वारा था।[5]

---

1. टी० गोल्डस्टूकर, 'पाणिनि', पृ० 215-226
2. वहीं, पृ० 245
3. वही, पृ० 247
4. युधिष्ठिर मीमांसक, संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० 137
5. R. N. Dandekar, "Some Aspects of the Indo-Mediterranean Contacts" Annals of the Bhandarkar Research Institute, Vol. 'L', 1969, p. 68 : "In the sixth Century B. C. Persia served as a link between the Greeks and the Indians. Panini (6th-5th century B.C.) shows acquaintance with the Yavanas or the Ionion Greeks."

1.8. मनोमोहन घोष तथा श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती के निष्कर्ष

कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो० मनोमोहन घोष ने पाणिनीय शिक्षा के उपलब्ध पांच संस्करणों का तुलनात्मक अध्ययन करके 'पाणिनीय अष्टाध्यायी' के प्रमाणों से समन्वय कर उसका अष्टादश श्लोकात्मक संस्करण निर्मित किया है। इसकी प्रस्तावना में प्रो० घोष ने सतर्क इतिहास-दृष्टि से शिक्षा तथा प्रातिशाख्य शास्त्रों के उदयकाल का निर्धारण करने का प्रयास किया है। साथ ही, पाणिनि के स्थिति काल पर विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए उसे ब्राह्मण-काल की सन्ध्या माना है।[1] उनके मत से यह समय 500 ई० पू० से बाद का नहीं हो सकता।

1.9. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के निष्कर्ष

डा० अग्रवाल का 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' निस्सन्देह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। डा० अग्रवाल के इस कार्य ने अष्टाध्यायी को तत्कालीन भारत के इतिहास ज्ञान का एक मूल्यवान साधन सिद्ध कर दिया है। पाणिनि के स्थिति-काल के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का तुलनात्मक अध्ययन करके डा० अग्रवाल ने पाणिनि को पांचवीं शती ई० पू० में माना है।[2] अपनी मान्यता के समर्थन में डा० अग्रवाल ने जो साक्ष्य उपस्थित किये हैं, उनमें अधिक स्पष्ट निर्णय देने वाले ये हैं:

(क) **साहित्यिक उल्लेखों का साक्ष्य**—डा० अग्रवाल गोल्टस्टूकर की इस मान्यता से सहमत नहीं कि पाणिनीय-अष्टाध्यायी में केवल ऋक्, साम तथा कृष्ण यजुर्वेद का ही उल्लेख है। उनका दावा है कि पाणिनि के समय तक न केवल उत्तरकालीन वैदिक साहित्य,—अथर्ववेद, ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् ही प्रकाश में आ चुके थे अपितु अनेकविध लौकिक साहित्य भी विकास पा चुका था। पाणिनि स्वयं अपने सूत्रों में ब्राह्मण,[3] कल्प, उपनिषद्[4] रचनाओं का संकेत देता है। उसके युग में नट-सूत्रों[5] (नाट्य विद्या) का निर्माण हो चुका था। शिशुक्रन्दीय, यमसभीय, इन्द्रजननीय[6] जैसे लौकिक ग्रन्थ अस्तित्व में आ चुके थे। महाभारत के पात्रों का तो पाणिनि नामतः उल्लेख करता है।[7]

1. मनोमोहन घोष, 'पाणिनीय शिक्षा', प्रस्तावना, पृ० 111
2. वासुदेवशरण अग्रवाल, 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष', पृ० 468
3. पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (अष्टा० 4.3.105)
4. जीविकोपनिषदावौपम्ये (अष्टा० 1.4.79)
5. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (अष्टा० 4.3.110)
6. शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः (अष्टा० 4.3.88)
7. वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् (अष्टा० 4.3.98)

(ख) **अनुश्रुति का साक्ष्य**—सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' में तथा क्षेमेन्द्र ने 'वृहत्कथामंजरी' में पाणिनि का पाटलिपुत्र में नन्दराज की सभा में जाने का वर्णन किया है। इस तथ्य का समर्थन, 'बौद्धधर्म का इतिहास' लिखने वाले डा० तारानाथ ने भी किया है। डा० तारानाथ ने नन्दवंशीय सम्राट महानन्दिन को पाणिनि का मित्र माना है जिसका काल 5वीं शती ई० पू० का मध्यकाल था।

(ग) **यवनानी शब्द का साक्ष्य**—डा० अग्रवाल ने पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी 4.1.49 तथा अष्टा० 3.2.21 में उल्लिखित 'यवन' शब्द के साक्ष्य पर आधारित डा० वेबर के इस निष्कर्ष को कि भारतीय लोगों को 'यवन' शब्द का परिचय सिकन्दर महान् के आक्रमण के समय हुआ होगा, ऐतिहासिक सत्य के विरुद्ध बताया है। उनके मत से इस शब्द का प्रयोग 'आयोनियन' लोगों के लिए था। जिसका परिचय भारतीय लोगों को सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व ही था। पाणिनि का अभिजन गान्धार ईरानी सम्राट दारा (521-486 ई० पू०) के साम्राज्य का अंग था। दारा के अभिलेखों में आयोनियन लोगों के लिए 'यौन' शब्द का प्रयोग हुआ है। पाणिनि का 'यवन' यौन का ही रूपान्तर है जो मेसिडोनिया के यूनानी का नहीं, आयोनिया के यूनानी का संकेत करता है।

(घ) **क्षुद्रकमालवी सेना का साक्ष्य**—वेबर ने अष्टा० 4.2.45 के गणसूत्र में पठित 'क्षुद्रकमालवात् सेनासंज्ञायाम्' का प्रयोग देखकर निष्कर्ष दिया है कि यह संयुक्त सेना सिकन्दर महान् के आक्रमण के प्रतिरोध के लिए बनी थी। डा० अग्रवाल ने 'क्षौद्रकमालवी' संयुक्त सेना को ईरानी सम्राट रुषयार्श के सहयोग में यूनानियों के विरुद्ध लड़ने वाली भारतीय सेना माना है।

(ङ) **श्यूआन् चुआंग की 'सीयुकि' (शलातुर) का साक्ष्य**—श्यूआन् चुआंग ने 'सीयुकि' के वर्णन में पाणिनि को गन्धार देश का निवासी बताया है तथा तत्कालीन सम्राट द्वारा पाणिनि के शास्त्र के सम्मान की बात कही है। इन सभी तथ्यों की एकवाक्यता पाणिनि को महानन्दिन् (445 से 403 ई० पू०) के समय में रखने से हो जाती है।

(च) **राजनीतिक सामग्री का साक्ष्य**—पाणिनि ने मगध, कोसल, अवन्ति, कलिंग, सूरमस, अश्मक, कुरु, पंचाल आदि जनपदों का उल्लेख किया है जो 'एकराज' थे। यह जनपद युग महानन्दिन् का युग (450 से 400 ई० पू०) था। आगे जाकर उसके पुत्र महापद्म ने अनेक जनपदों का उच्छेद करके मगध साम्राज्य की स्थापना की। पाणिनि महानन्दिन् के मित्र थे।[1]

(छ) **नक्षत्र-विज्ञान का साक्ष्य**—पाणिनि ने अष्टा० 4.3.34 में दस नक्षत्रों की सूची दी है। इसमें सर्वप्रथम 'श्रविष्ठा' नक्षत्र का उल्लेख किया है। लगता है,

---

1. वासुदेवशरण अग्रवाल, 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' पृ० 474-75

पाणिनि के समय नक्षत्र-गणना 'श्रविष्ठा' (धनिष्ठा) से आरम्भ होती थी। आगे जाकर इसका स्थान 'श्रवण' नक्षत्र ने ले लिया। ज्योतिर्विद आचार्यों के अध्ययन से यह काल 500 ई० पू० से 400 ई० पू० के मध्य होना चाहिए।[1]

डा० अग्रवाल द्वारा प्रस्तुत व्यापक अध्ययन एवं प्रमाणों से पाणिनि का स्थितिकाल 480 ई० पू० से 410 ई० पू० का अन्तराल सिद्ध होता है।

1.10. पाणिनि की रचनाएं

पाणिनीय रचनाओं के नाम से इन रचनाओं को प्रतिष्ठा मिल चुकी है—(1) अष्टाध्यायी (2) धातुपाठ (3) गणपाठ (4) पाणिनीय शिक्षा। अन्तिम तीन रचनाएं अष्टाध्यायी के परिशिष्ट कहे जा सकते हैं। इनका उपलब्ध रूप पाणिनि-प्रोक्त है अथवा उसमें कुछ मिश्रण भी कर दिया गया है। यह पृथक् अध्ययन का विषय है।[2] अष्टाध्यायी के सन्दर्भ में इन तीनों रचनाओं का मूल्यांकन करने पर इस वास्तविकता को नहीं नकारा जा सकता कि इन पूरक कृतियों के अभाव में तो अष्टाध्यायी जैसे सूत्र-शास्त्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः न्यासकार का यह एकपक्षीय निर्णय कि गणकार और सूत्रकार दो पृथक् व्यक्ति हैं, मान्य नहीं हो सकता।[3] कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो० मनोमोहन घोष द्वारा सम्पादित 'पाणिनीय शिक्षा' तथा उसके पाणिनिप्रोक्तत्व पर सम्पादक के सतर्क प्रमाणों को पढ़कर तत्सम्बन्धी अपाणिनीयत्व की भ्रान्ति स्वतः दूर हो जाती है।

1. 11. अभिजन तथा वंश

पाणिनि का अभिजन गन्धार देश (अफगानिस्तान) का शलातुर ग्राम था। चीनी यात्री श्यूआन् चुआंङ सप्तम शताब्दी के आरम्भ में मध्य एशिया के स्थल मार्ग से भारत आया था। मध्य में वह 'शलातुर' में ठहरा था। उसके दिए गए विवरण के अनुसार उद्भाण्ड (ओहिन्द) से लगभग बीस मील पर शलातुर स्थान था। यही वह ऐतिहासिक स्थान है जहां पाणिनि ने अपने व्याकरण-शास्त्र की रचना की थी।[4] अभिजनमूलक नाम से पाणिनि को शालातुरीय भी कहा जाता है।[5] पुरुषोत्तम देव ने त्रिकाण्ड शेष (कोश) में पाणिनि के छः नाम दिए हैं—

1. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 471-72
2. इस दिशा में डा० कपिलदेव का 'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' प्रकाशित हो चुका है।
3. जिनेन्द्र बुद्धि, काशिकाविवरणपंजिका (न्यास), अष्टा० 8.4.3
4. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 14
5. वर्धमान, गणरत्न महोदधि, पृ० 2

पाणिनि, पाणिन, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, शालातुरीय, तथा आहिक।[1] युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार पाणिनि नाम युवप्रत्ययान्त है, अतः सूत्रकार के वंश का का मूलपुरुष पणिन् तथा पिता 'पाणिन' माना जा सकता है। पाणिनि नाम के के पीछे यदि यह धारणा सही है तो मानना होगा कि इतिहास सूत्रकार के वास्तविक नाम से परिचय नहीं रखता, अपितु गोत्रव्यपदेशज नाम ही प्रसिद्धि पा गया गया है।

पाणिनि की माता का नाम दाक्षी था। उसका मामा दाक्षायण व्याडि कहा जाता है।[2]

1.12. पाणिनि से पूर्व वैदिक व्याकरण

अष्टाध्यायी जिस सर्वांगपूर्ण व्याकरण के रूप में उपलब्ध हुई है उसे देखकर यह न मानने का कोई कारण नहीं कि पाणिनि की व्याकरण-कृति अपनी पूर्ववर्ती सुदीर्घ शाब्दिक परम्परा की चरम परिणति है।[3] यह ठीक है कि आज कतिपय प्रातिशाख्यों, शिक्षाग्रन्थों तथा यास्कीय निरुक्त के अतिरिक्त, जिनकी पाणिनि से पूर्ववर्तिता उपलब्ध रूप में कितनी ही सन्दिग्ध[4] क्यों न हो, मूलरूप में अवश्य मानी जाएगी। अष्टाध्यायी का अध्येता अपने शास्त्र की स्वतन्त्र विधा तथा सर्वांगपूर्णता के कारण इन रचनाओं को भले ही आज व्याकरण मानने से मना कर दे किन्तु वास्तविकता यह है कि मूलतः शिक्षा, प्रातिशाख्य और निरुक्त जैसी रचनाओं ने व्याकरण शास्त्र की पृष्ठभूमि तैयार की है।[5] वाक्यों का पदों में, पदों का प्रकृति-प्रत्ययों में और उनका भी तदुच्चारणादि वैशिष्ट्य वाली वर्णध्वनियों में विभाजन; तथा उनके पारस्परिक संरचनात्मक सम्बन्धों का विश्लेषण करने वाला भाषाविज्ञान (व्याकरण) एक क्रमिक विकास की अपेक्षा रखता है। इसे क्षणविशेष में किसी व्यक्तिविशेष के मस्तिष्क में स्वतः की साधना अथवा देवप्रसाद के कारण होने वाली आकस्मिक घटना के रूप में लेना अतर्कसगत है। शिक्षा, प्रातिशाख्य, निरुक्त ग्रन्थों का अष्टाध्यायी के सन्दर्भ में अवलोकन करके तथा उनकी प्रवृत्ति-दिशा एवं उपादेयता के बारे में आप्त विद्वानों के निष्कर्षों की समीक्षा करके हम इन निष्कर्षों पर पहुंचते हैं :

(क) उपलब्ध शिक्षा-ग्रन्थ तथा प्रातिशाख्य वैदिक व्याकरण कहे जाने

---

1. युधिष्ठिर मीमांसक, संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 129
2. वही, पृ० 131
3. ब्लूमफील्ड, लेंग्वेज, पृ० 11
4. गोल्डस्टूकर, पाणिनि, पृ० 213-15
5. डा० सूर्यकान्त, ऋक्तन्त्र-भूमिका, पृ० 49-66

चाहिए।[1] इनके अध्ययन के विना वेद-भाषा-विषयक अनेक ज्ञातव्य तथ्य अज्ञात रह सकते हैं। संहिता का पदपाठ में परिवर्तन; पदपाठ का क्रमपाठ द्वारा संहितीकरण; उदात्तादिस्वरों की सूक्ष्मातिसूक्ष्मस्थितियां; यथास्थान स्वरवर्णों में ह्रस्व-दीर्घप्लुतभाव; वर्णध्वनियों के उच्चारण-वैशिष्ट्य तथा पौर्वापर्यमूलक लोपागम-विकार आदि का विज्ञान इन ग्रन्थों के अध्ययन के विना अपूर्ण ही नहीं, असम्भव है।

(ख) शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों की ध्वनिविज्ञान सम्बन्धी उपलब्धियों का पाणिनीय व्याकरण में पूर्ण उपयोग हुआ है। पाणिनीय शिक्षा को पाणिनि-प्रोक्त मानने से भी इस तथ्य की पुष्टि ही होती है, विरोध नहीं।

(ग) पाणिनि का व्याकरण जिस पूर्णता को लेकर चला है उसके अनुरूप उसमें ध्वनिविज्ञान, पदविज्ञान तथा वाक्यविज्ञान सभी होना चाहिए।[2] ये परस्पर इतने सापेक्ष हैं कि इनके अध्ययन के स्वतन्त्र क्षेत्र मान लेने पर भी परस्पर उपकार्योपकारकभाव मानना ही होगा। पदविज्ञान और वाक्यविज्ञान तो अष्टाध्यायी का प्रधान विषय ही है। तदर्थ अपेक्षित ध्वनिविज्ञान के लिए शास्त्रकार द्वारा स्वयं कोई शिक्षा-ग्रन्थ रचा जाना अत्यावश्यक है जैसा कि पाणिनीय शिक्षा से सिद्ध होता है। पाणिनि के 'तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्' (अष्टा० 1.1.9) तथा 'स्थानेन्तरतमः' (अष्टा० 1.1.50) आदि का यथार्थ-बोध ध्वनिविज्ञान की अपेक्षा रखता है।

(घ) वर्णनात्मक भाषाविज्ञान, यद्यपि अर्थविज्ञान से सर्वथा दूर रहने की क्षमता रखता है तथा पाणिनि का व्याकरण-शास्त्र, जैसा कि यथास्थान स्पष्ट होगा, बहुत अंश में अर्थनिरपेक्ष कहा जा सकता है, तथापि निरुक्त के विषय में यास्क के इस दावे को कि "इदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च[3]—सहसा तिरस्कृत नहीं किया जा सकता। निरुक्त के निर्वचन शब्दों की विविध अर्थ-बोधक-वृत्तियों का परिचय देते हैं जिनका वर्णनात्मक व्याकरण-शास्त्र सहज उपयोग कर जाता है। अष्टाध्यायी में चरणेभ्यो धर्मवत् (अष्टा० 4.2.46) इत्यादि द्वारा प्रकृतिविशेष से अर्थविशेष के अधिकार में विहित प्रत्ययों का अन्यार्थबोधन में अतिदिष्ट करना नैरुक्तिक अर्थ-प्रवृत्तियों के परिचय के अतिरिक्त

---

1. सिद्धेश्वर वर्मा, 'क्रिटिकल स्टडीज इन दी फोनेटिक आब्जरवेशन्स आफ इन्डियन ग्रामेरियन्स', पृ० 15

2. Robert A. Hall Jr., Introductory Linguistics, p: 32 : 'Linguistic analysis is concerned primarily with the central three of these structural levels : phonology, morphology and syntax.'

3 यास्क, निरुक्त, नैघण्टुक काण्ड, अ० 1 पा० 5 ख० 15

कुछ भी नहीं है क्योंकि जहां तक शब्द के रूपनिर्माण का प्रश्न है वह तो किसी एक ही स्थल पर समझा जा सकता है। किन्तु यह एक यथार्थ है कि वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का 'निरुक्त' लोक-व्यवहार अधिक होता है, अतः उसे कठोर अर्थों में यास्कीय निरुक्त जैसे शास्त्र का ऋणी नहीं कहा जा सकता।

1.13. उपलब्ध शिक्षाएं, प्रातिशाख्य तथा निरुक्त

अधिकांश शिक्षा-ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध शिक्षाओं में पाणिनीय शिक्षा, आपिशलीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य-शिक्षा आदि प्रमुख हैं। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में ऋक् प्रातिशाख्य, वाजसनेय प्रातिशाख्य, साम-प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य, मैत्रायणीय प्रातिशाख्य, अथर्व-प्रातिशाख्य, ऋक्-तन्त्र, साम-तन्त्र, लघु ऋक्-तन्त्र, अथर्व चतुरध्यायी उपलब्ध हैं। निरुक्त ग्रन्थों में केवल यास्क का निरुक्त ही प्राप्त है।

1.14. पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरण

शाखा, प्रातिशाख्य और निरुक्त व्याकरण से निकटता रखते हुए भी स्वतंत्र वेदांग के रूप में अस्तित्व बनाये रहे हैं। अतः जब हम पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरणों की चर्चा करते हैं तो हमारा अभिप्राय उन शाब्दिकों से होता है जिन्होंने भाषा का प्रकृति-प्रत्यय के रूप में विभाग करके विश्लेषण किया। इनमें से कुछ शाब्दिक ऐसे हैं जिनका पाणिनि ने अष्टाध्यायी सूत्रों में साक्षात् उल्लेख किया है। अनेक ऐसे हैं जिन्हें उसने 'आचार्याणाम्' जैसे सामान्य संकेतों से सूचित किया है। यहाँ हम केवल उन्हीं आचार्यों की चर्चा करेंगे जिनका पाणिनि ने स्वयं उल्लेख किया है:

(1) **आपिशलि**—पाणिनि ने 'वासुप्यापिशलेः' अष्टा० 6.1.92 में इसका उल्लेख किया है। आपिशलि व्याकरण आज उपलब्ध नहीं है। 'आपिशलि शिक्षा' नाम से एक कृति डा० रघुवीर द्वारा सम्पादित की गई है।

(2) **काश्यप**—इसका उल्लेख अष्टा० 1.2.5, तथा 8.4.67 में हुआ है। इसका कोई व्याकरण उपलब्ध नहीं है।

(3) **गार्ग्य**—गार्ग्य का उल्लेख अष्टा० 7.3.99, अष्टा० 8.3.20, अष्टा० 8.4.67 में हुआ है। गार्ग्य का कोई व्याकरण उपलब्ध नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि इस नाम के व्यक्ति को व्याकरण, निरुक्त[1] और प्रातिशाख्य[2] तीनों क्षेत्रों में सम्मान मिला है।

---

1. निरुक्त, अ० 1 पा० 4 ख० 1, पृ० 76
2. डा० सूर्यकान्त, ऋक्-तन्त्रम्, प्रस्तावना, पृ० 62

(**4**) **गालव**—इस आचार्य को पाणिनि ने अष्टा० 6.3.61, अष्टा० 7.1.74, अष्टा० 7.3.99, अष्टा० 8.4.67 में स्मृत किया है। इसका कोई व्याकरण उपलब्ध नहीं है। किन्तु पुरातन वाङ्मय में इसे 'शिक्षा-प्रणेता' तथा 'क्रम का प्रवक्ता' कहा है।[1]

(5) **चाक्रवर्मण**—पाणिनि ने अष्टा० 6.1.130 में चाक्रवर्मण का उल्लेख किया है। इसका भी कोई व्याकरण उपलब्ध नहीं है।

(6) **भारद्वाज**—अष्टा० 7.2.63 में इसका उल्लेख हुआ है। वैयाकरण रूप में इसका अस्तित्व भी केवल यत्र-तत्र उद्धरणों तक सीमित है।

(7) **शाकटायन**—इसका उल्लेख अष्टा० 3.4.11, अष्टा० 8.3.18 तथा अष्टा० 8.4.50 में हुआ है। शाब्दिक जगत् में शाकटायन निस्सन्देह सर्वतोमुखी प्रतिभा का व्यक्तित्व लगता है। शाकटायन के नाम से ये रचनाएं जुड़ी हुई हैं :

(क) ऋक्-तन्त्र

(ख) उणादि सूत्र

शाकटायन का व्याकरण सम्प्रति अनुपलब्ध है तथापि उसका 'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि' सिद्धांत सूचित करता है कि उसके व्याकरण में प्रकृति-प्रत्यय का व्यापक विवेचन रहा होगा।

(**8**) **शाकल्य**—इसका उल्लेख पाणिनि ने अष्टा० 1.1.16, अष्टा० 6.1.127, अष्टा० 8.3.19, अष्टा० 8.4.51 में किया है। शाकल्य का कोई व्याकरण उपलब्ध नहीं है और केवल ऋग्वेद के पदपाठ के कर्त्ता के रूप में ही इसका सम्मान किया जाता है।

(9) **सेनक**—अष्टा० 5.4.11 में इसका उल्लेख हुआ है इसका न तो कोई व्याकरण शेष है और न अन्यत्र इसके सिद्धान्तों की चर्चा है।

(**10**) **स्फोटायन**—अष्टा० 6.1.123 में इसका उल्लेख हुआ है इसका भी कोई व्याकरण उपलब्ध नहीं है।

उपर्युक्त जिन दस शाब्दिकों की चर्चा की गयी है उनकी रचनाओं के अभाव में हम उनका यथार्थ मूल्यांकन भले ही न कर सकें किन्तु जब पाणिनि जैसा महान् वैयाकरण उन्हें अपने शास्त्र में 'पूजार्थ' स्मरण करता है तो यह मानने का पर्याप्त कारण है कि उसके समय में इन सबकी रचनाएं लब्धप्रतिष्ठ थीं। साथ ही जिन-जिन सन्दर्भों में इनका उल्लेख हुआ है यदि उन्हें गहराई से देखें तो यह निष्कर्ष पाने में कठिनाई न होगी कि पाणिनि के व्याकरण में अपनाई गई संरचना-विश्लेषण की सभी तकनीकें जैसे प्रकृति-प्रत्यय का विभाग, लोप, आगम, विकार, अनुबन्ध-प्रयोग, नाम-धातु-विकास आदि सभी प्रवृत्तियां उक्त आचार्यों द्वारा

---

1. युधिष्ठिर मीमांसक, 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास', पृ० 110

अपनाई गई थीं। समासान्त 'टच्' के सन्दर्भ में 'सेनक' का स्मरण, 'सुब्' धातु तथा उपसर्ग की सन्धि में 'आपिशलि' का स्मरण, 'लङ्' सम्बन्धी 'झि' को 'जुस्' आदेश करने में शाकटायन मत का विशेष उल्लेख, 'ङकार' अनुबन्ध सहित 'अवङ्' आदेश के प्रसंग में 'स्फोटायन' का स्मरण सूत्रों में किसी प्रकार की पाद-पूर्ति के लिए नहीं माना जा सकता। यह वस्तुतः पाणिनि से पूर्व की विकसमान शब्द-विद्या का संकेत देता है। उसकी चरम परिणति पाणिनीय अष्टाध्यायी के रूप में उपलब्ध है। पाणिनि की सर्वातिशायिनी प्रतिभा ने परम्परा से प्राप्त भाषावैज्ञानिक सामग्री का आदर्श-शैली से उपयोग किया। उसके शब्दानुशासन के प्रकाश में आ जाने पर सभी पूर्ववर्तियों का नाम शेष हो जाना ही उसकी वैज्ञानिक प्रतिभा का प्रमाण है।

1.15. पाणिनि के पश्चाद्भावी वैयाकरण

पाणिनि के उत्तर काल में व्याकरण की प्रगति का विवरण पाने के लिए उसे दो दिशाओं में देखना उचित होगा—(1) पाणिनीय प्रस्थान (Paninian School) (2) पाणिनीयेतर प्रस्थान (Non-Paninian School)

1.16. पाणिनीय प्रस्थान के मुख्य वैयाकरण

पाणिनि की अष्टाध्यायी भारत के शाब्दिक जगत् में एक युगप्रवर्तक कृति के रूप में अवतीर्ण हुई। यह कहना असंगत न होगा कि इस आश्चर्यकारी कृति ने पाश्चात्य शाब्दिकों के हाथों में पहुच कर भाषाविज्ञान के क्षेत्र में पुनः एक नवीन युग का सूत्रपात किया है।[1] अस्तु, यहां हमारा उद्देश्य भारत के उन मुख्य शाब्दिकों का संक्षिप्त परिचय पाना है जिन्होंने पाणिनीय शब्दानुशासन के अध्ययन को प्रगति की दिशा दी। अध्ययन की सुविधा के लिए उन्हें पांच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

(1) वार्तिककार (2) भाष्यकार (3) वृत्तिकार (4) व्याकरण-दर्शनग्रन्थ-कार (5) प्रक्रियाग्रन्थकार।

(1) पाणिनि के वार्तिककार : कात्यायन (400 ई० पू०)

महाभाष्य के अनुशीलन से अष्टाध्यायी के अनेक वार्तिककारों का नाम-

1. Bloomfield, Language, p. 11 : "The Indian Grammar presented to European eyes, for the first time, a complete and accurate description of a language, based not upon theory but upon observation. Moreover, the discovery of Sanskrit disclosed the possibility of a comparative study of languages."

परिचय मिलता है। परन्तु कात्यायन ही एकमात्र वह महान् व्यक्तित्व है जिसके लिए 'वार्तिककार' नाम रूढ़-सा हो गया है। महाभाष्य से कात्यायन के दाक्षिणात्य होने का संकेत मिलता है। परम्परा से इन्हें पाणिनि का समसामयिक तथा उनका प्रतिद्वन्द्वी माना जाता है। मैक्समूलर के अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों के मत से कात्यायन न तो पाणिनि का समकालीन है[1] और न दाक्षिणात्य ही। वे इसे पाणिनि से कम से कम एक शती पश्चात् रखना चाहते हैं तथा प्राच्य मानते हैं। कात्यायन को पाणिनि का प्रतिद्वन्द्वी अथवा ईर्ष्यालु मानना उसके प्रति अन्याय होगा। यथार्थ तो यह है कि उसके वार्तिकों ने पाणिनीय सूत्र-शास्त्र में 'उक्त-अनुक्त तथा दुरुक्त पक्षों' की मीमांसा[2] करके उसके वैज्ञानिक महत्त्व को लोकविदित कर दिया। साथ ही, अपने उपसंख्यान-वार्तिकों द्वारा उसे युगीन सन्दर्भ से जोड़ दिया।

(2) भाष्यकार : पतञ्जलि (150 ई० पू०)

150 ई० पूर्व भारत ने पतञ्जलि नाम का एक महान् आचार्य पैदा किया। भारत की परम्परा उसे योग-दर्शन, चरक (वैद्यक-शास्त्र) तथा शब्दविद्या का महान् आचार्य मानती है। पाणिनीय अष्टाध्यायी के अध्ययन की दिशा में पतञ्जलि का योगदान कात्यायन-वार्तिकों के औचित्य का मूल्यांकन करना तथा पाणिनीय-सूत्रों की बहुमुखी व्याख्याओं द्वारा उनकी अर्थ-व्याप्ति का विस्तार कर देना रहा है।[3] उसका भाष्य जिसे सामान्यतः 'महाभाष्य' के नाम से जाना जाता है, पाणिनीय व्याकरण के विवादग्रस्त सन्दर्भों में अन्तिम निर्णायक समझा जाता है। महाभाष्य पर भर्तृहरि (7वीं शती) की महाभाष्यदीपिका, कैयट (11वीं शती) की 'प्रदीप' तथा नागेश (17वीं शती) की 'उद्योत' महत्त्वपूर्ण टीकाएं हैं।

(3) पाणिनि के वृत्तिकार

(i) **जयादित्य और वामन (7वीं शती)**—अष्टाध्यायी सूत्र-क्रम से पाणिनीय सूत्रों की यथोद्देश स्थिति को ज्यों का त्यों बनाए हुए उनकी अर्थ-विवृति तथा लक्ष्य में प्रयोग दिखाना काशिका का महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। इस कृति

1. मैक्समूलर पाणिनि तथा कात्यायन को समकालीन मानता है। देखिए—गोल्डस्टूकर, पाणिनि, पृ० 93
2. गिरधर शर्मा चतुर्वेद, नवाह्निक महा० भूमिका, 'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः'।
3. वही, 'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः'।

के आदिम चार अध्याय जयादित्य तथा अन्तिम चार वामन के नाम से जोड़े जाते हैं।[1] काशिका पर लिखी गई टीकाओं में जिनेन्द्रबुद्धि (8वीं शती पूर्वार्द्ध) की **काशिकाविवरणपंजिका** (न्यास) तथा हरदत्त (12वीं शती) की **पदमञ्जरी** अत्यन्त प्रामाणिक हैं।

(ii) **पुरुषोत्तमदेव** (1150 ई०)—वंगदेशीय बौद्ध लेखक पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी के वैदिक स्वर-प्रक्रिया के सूत्रों को छोड़कर लौकिक संस्कृत से सम्बन्ध रखने वाले सूत्रों पर 'भाषा-वृत्ति' नाम की टीका लिखी है।

(4) पाणिनीय व्याकरण-दर्शन के ग्रन्थकार

(i) **व्याडि** (450 ई०)—व्याकरण-दर्शन नाम चौंकाने वाला लग सकता है। परन्तु हमें यह वास्तविकता नहीं भुलानी है कि हमारे समस्त व्यावहारिक जीवन की जो भी अनुभूतियां या प्रतीतियां हैं वे उल्लिखित और अनुल्लिखित दोनों ही स्थितियों में शब्दतत्त्व से गुंथी रहती हैं। उन्हें हम शब्द के माध्यम से ही व्यक्त करते हैं[2]। मानव-मस्तिष्क की विचार-प्रक्रिया तथा उसकी अभिव्यक्ति के साथ शब्दतत्त्व (भाषा) का इतना अधिक निकट का सम्बन्ध है कि दार्शनिक और तार्किक भूमि पर उसकी व्याख्या के बिना भाषा का कोई भी व्याकरण स्वयं को वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकता। अतः 'शब्द' का वस्तु-रूप क्या है ? शब्दबोध्य 'अर्थ' क्या है। दोनों में क्या सम्बन्ध है ? वे दोनों नित्य हैं या कार्य ? पदार्थ जाति है या व्यक्ति ? शब्द-अर्थ तथा उनके सम्बन्ध के बारे में व्याकरण क्या दृष्टि रखता है ? आदि-आदि ऐसे प्रश्न हैं जो शाब्दिक जगत् के सम्मुख प्रतिपद उपस्थित किए जा सकते हैं। इन प्रश्नों के तर्कसंगत समाधान खोज निकालना ही व्याकरण-दर्शन कहा जाता है। इस दिशा में सर्वप्रथम महत्त्व-पूर्ण कार्य, जिसका परिचय हमें कात्यायन-वार्तिक तथा महाभाष्य से मिलता है, व्याडि का 'संग्रह' नाम का ग्रन्थ था जो आज अनुपलब्ध है। 'दाक्षायण' व्याडि जैसा कि उसका नाम उसे दक्ष का युवापत्य सूचित करता है, पाणिनि का मातृ-वंशी तथा उससे दो-एक पीढ़ी पश्चात् होना चाहिए।[3]

(ii) **भर्तृहरि** (7वीं शती)—वार्तिक, भाष्य तथा व्याडि के संग्रह में विकीर्ण व्याकरण-आगम के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला महान् वैयाकरण दार्शनिक भर्तृहरि हुआ है। पाणिनीय जगत् उसकी दो मूल्यवान् कृतियों— **महाभाष्यदीपिका** तथा **वाक्यपदीयम्** के लिए उसका ऋणी रहेगा।

1. श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती, काशिका विवरणपञ्जिका, प्रस्तावना, पृ० 16
2. "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
   अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥" वाक्य० का० 1 कारिका० 124
3. रामगोविन्द शुक्ल, वाक्यपदीयभूमिका, पृ० 1

(iii) **कौण्डभट्ट** (17वीं शती)—भट्टोजिदीक्षित द्वारा प्रणीत 'कारिकावलि' जिसमें व्याकरण आगम की दृष्टि से पद, प्रकृति-प्रत्यय तथा वाक्य के द्वारा उपस्थाप्य अर्थ-बोध की मीमांसा की गई है, इस दिशा की मूल्यवान् कृति है। कौण्डभट्ट ने उस पर 'वैयाकरण भूषण सार' व्याख्या की है।

(iv) **नागेश** (17वीं शती का उत्तरार्द्ध)—नागेश भट्ट को पतञ्जलि के पश्चात् यदि सर्वमूर्धन्य वैयाकरण कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। व्याकरण-दर्शन की दिशा में जैसा स्वतन्त्र एवं उन्मुक्त चिन्तन नागेश की वैयाकरण सिद्धान्त-लघुमंजूषा में मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है।[1] पाणिनीय जगत् को नागेश ने अनेक मूल्यवान् रचनाएं दी हैं—जिनमें महाभाष्य की उद्योत टीका, सिद्धान्त कौमुदी की लघुशब्देन्दुशेखर टीका, परिभाषेन्दुशेखर, वैयाकरणसिद्धान्त लघुमंजूषा उल्लेखनीय हैं।

(5) **प्रक्रियाग्रंथकार**

(i) **धर्मकीर्ति** (1090 ई०)—अष्टाध्यायी सूत्रों को शब्दरचना-प्रक्रिया की दृष्टि से प्रकरण-बद्ध करके नए युग का सूत्रपात्र करने वाला आचार्य धर्मकीर्ति था। इसका 'रूपावतार' ग्रन्थ प्रक्रिया-ग्रन्थों में सर्वप्रथम है।[2]

(ii) **रामचन्द्र** (1400 ई०)—इसका ग्रन्थ प्रक्रिया-कौमुदी के नाम से प्रसिद्ध है।

(iii) **भट्टोजिदीक्षित** (1600 ई०)—प्रक्रिया-ग्रन्थों में भट्टोजिदीक्षित की 'सिद्धान्त कौमुदी' को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त हुई। यही नहीं, वैयाकरण-निकाय में काशिका तथा महाभाष्य आदि के अध्ययन को इसने पीछे धकेल दिया। इस पर नाना टीकाएं और उपटीकाएं लिखी गई हैं। इसका ही लघुरूप वरदराजाचार्य (18वीं शती) की लघुसिद्धांत कौमुदी है।

1.17 पाणिनीयेतर व्याकरण-प्रस्थान

अष्टाध्यायी के पश्चात् भी भारत में संस्कृत-व्याकरण के सूत्र-शास्त्रों की रचना समय-समय पर होती रही है। पणिनीयेतर व्याकरण-प्रस्थान निम्नलिखित हैं:

(1) **चान्द्रव्याकरण**—इस व्याकरण का प्रवर्तक चन्द्रगोमिन् है। कथासरित्-सागर के अनुसार इसका समय 100 ई० पू० होना चाहिए। चन्द्रगोमी बौद्ध था।

(2) **कातन्त्र व्याकरण**—शर्ववर्मा (द्वितीय शती ई० पू०) प्रणीत यह व्याकरण कालाप तथा **कौमार** व्याकरण के नाम से भी जाना जाता है।

1. गोपीनाथ कविराज, मंजूषा—प्राक्कथन, पृ० 1
2. युधिष्ठिर मीमांसक, संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 378

(3) **शाकटायन व्याकरण**—इस व्याकरण का निर्माता शाकटायन जैन (8वीं शती) था।

(4) **हैमशब्दानुशासन**—जैन आचार्य हेमचन्द्र सूरि (12वीं शती) ने इस व्याकरण-शास्त्र की रचना की है। इसमें आठ अध्याय और बत्तीस पाद हैं। इसका महत्त्वपूर्ण कार्य अन्तिम अध्याय में प्राकृत और अपभ्रंश जनभाषाओं का वर्णन करना है।[1]

(5) **जैनेन्द्रव्याकरण**—जैनधर्म के आचार्य देवनन्दी (5वीं शती) ने इस व्याकरण का प्रवर्तन किया था।

(6) **सारस्वत व्याकरण**—अनुभूतिस्वरूपाचार्य (13वीं शती) द्वारा प्रणीत यह व्याकरण केवल सात सौ सूत्रों में निबद्ध है। यह अति सरल और संक्षिप्त व्याकरण है।

(7) **मुग्धबोध-व्याकरण**—बोपदेव (13वीं शती) द्वारा यह व्याकरण विरचित हुआ किन्तु इसका प्रभाव बंगाल से बाहर न हो सका।

1.18. पाणिनीय भाषा

पाणिनि का व्याकरण जिस भाषा का संरचनात्मक वर्णन करता है वह संस्कृत-भाषा के विकास के उस सन्धि-युग का प्रतिनिधित्व करती है जबकि वैदिक भाषा शनैः-शनैः वैदिक ग्रन्थों में सिमट रही थी तथा उसका स्थान विकसमान भाषा प्राप्त कर रही थी। छान्दस वाङ्मय से भिन्न शब्द-कुल जिसे पाणिनि 'भाषा' नाम से व्यवहृत करता है दैनिक सामाजिक जीवन की भाषा है। पाणिनि की कृति का उद्देश्य समसामयिक लौकिक भाषा का पूर्ण तथा वैज्ञानिक संरचनात्मक विश्लेषण करना तथा लोक-भाषा के साथ **वैदिक भाषा** का आनुवंशिक साजात्य बोधित करने के लिए वैदिक भाषा का प्रासंगिक वर्णन करना है।

1.19. आधुनिक युग में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन

आधुनिक युग में पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन की मुख्यतः निम्नलिखित प्रवृत्तियों का उदय हुआ है :

(क) पाणिनीय व्याकरण का सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक अध्ययन।

(ख) वैदिक-व्याकरण (शिक्षा, प्रातिशाख्य) के साथ पाणिनीय-व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन।

(ग) अष्टाध्यायी में प्रयुक्त वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान की विधाओं का

---

1. भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान, पृ० 541

अध्ययन।

(घ) शब्द-रचना सम्बन्धी पाणिनीय प्रक्रिया का अध्ययन।

(ङ) भाषा-दर्शन के सम्बन्ध में पाणिनीय मान्यताओं का अध्ययन।

(च) पाणिनीय व्याकरण का तुलनात्मक भाषाविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन।

(छ) वैदिक भाषा के व्याकरण में पाणिनि के योगदान का अध्ययन।

प्रथम प्रकार के अध्ययन में वासुदेवशरण अग्रवाल का 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' महत्त्वपूर्ण कृति है।

द्वितीय प्रकार के अध्ययन के अन्तर्गत सिद्धेश्वर वर्मा का 'क्रिटिकल स्टडीज़ इन दि फोनेटिक आब्ज़रवेशन्स आफ इण्डियन ग्रामेरियन्स' जैसी कृतियों को लिया जा सकता है।

तृतीय प्रकार का अध्ययन अमरीका के ब्लूमफील्ड स्कूल के प्रभाव से बहुत अधिक महत्त्व पा रहा है। इस दिशा में डा० विद्यानिवास मिश्र की 'दि डिस्क्रिप्टिव टैक्नीक ऑफ पाणिनि' एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन है।

चतुर्थ प्रकार के अध्ययन सम्बन्धी प्रयत्नों में बैटी शेफ्ट्स की 'ग्रेमेटिकल मैथड इन पाणिनि' तथा बुश्कूल के 'दि त्रिपादी' को लिया जा सकता है।

पंचम प्रकार के अध्ययन के अन्तर्गत डा० सत्यकाम वर्मा का 'भाषा-तत्त्व और वाक्य-पदीय' द्रष्टव्य है।

षष्ठ प्रकार के अध्ययन की दिशा में संभवतः पूर्ण अध्ययन के रूप में कोई कृति प्रकाश नहीं पा सकी है तथापि इस प्रवृत्ति के अध्ययन के लक्षण डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री की 'संस्कृत-शिक्षण की नवीन योजना' में यत्र-तत्र स्फुटित हुए हैं।[1]

सप्तम प्रकार के अध्ययन की दिशा में पाल थीमे का 'पाणिनि एण्ड वेद' प्रशस्य कृति है।

1.20. प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य

(क) पाणिनीय अष्टाध्यायी की अध्ययन परम्परा को नवीन समीक्षात्मक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना;

(ख) अष्टाध्यायी-अध्ययन को एक सुनियोजित विधा के रूप में प्रस्तुत करना तथा उस विधा के आधारभूत सिद्धान्तों का विवेचन करना;

(ग) प्राच्य-प्रतीच्य भाषा-शास्त्रियों की दृष्टि से वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान की कृति के रूप में अष्टाध्यायी की समीक्षा;

---

1. डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, संस्कृत-शिक्षण की नवीन योजना, विषय-प्रवेश, पृ० 1 से 9

(घ) पाणिनीय विश्लेषण-पद्धति के बारे में उत्पन्न सन्देहों का निराकरण;

(ङ) अष्टाध्यायी की रचना-विधा को यथाशक्ति मौलिक रूप में प्रस्तुत कर उसके अध्ययन को अधिकाधिक प्रगति देना।

डा० एस० डी० जोशी के शब्दों में, "विद्या के अध्ययन का अर्थ उन मौलिक सिद्धान्तों का अध्ययन है जो उन व्याकरणिक अवधारणाओं में अन्तर्निहित होते हैं जोकि भाषा-संरचना के ज्ञान के लिए अपरिहार्य हैं।"[1] प्रस्तुत कृति इस दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

1. S. D. Joshi, "Two Methods of Interpreting Panini", Journal of the University of Poona, Humanities section, No. 23, p. 53-61.

अध्याय 2

पाणिनीय विधा की वर्णनात्मक भाषावैज्ञानिक प्रवृत्तियां

2.1. किसी भी शास्त्र का सही मूल्यांकन करने को उसकी प्रवृत्ति का क्षेत्र एवं दिशा का निर्धारण करना प्रथम आवश्यकता है। इसके बिना शास्त्रकार के प्रयत्नों को न्याय्य मूल्य देना तो दूर रहा, उसके अध्ययन में अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणाएं उत्पन्न होने का भय रहता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी की संरचना के पीछे शास्त्रकार की भाषावैज्ञानिक मान्यताएं क्या हैं? उनका क्या औचित्य है? विचाराधीन भाषा का संरचनात्मक व्याकरण प्रस्तुत करने के लिए उसने जो पद्धति उपज्ञात की है, उसका वस्तुरूप क्या है? शास्त्रकार अपने उद्देश्य में कितना सफल या असफल रहा है? साथ ही, शास्त्र में आपाततः आए हुए दोष क्या हैं तथा उनके दूर करने की क्या सम्भावनाएं हैं? इन सभी प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त करने के लिए भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अष्टाध्यायी की प्रवृत्ति-दिशा का निर्धारण करना आवश्यक है। एतदर्थ भाषाविज्ञान के अध्ययन की विविध दिशाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना आवश्यक है।

2.2. भाषावैज्ञानिक अध्ययन के विविध रूप

(1) **वर्णनात्मक या विवरणात्मक भाषाविज्ञान** (Descriptive linguistics)—वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत किसी एक भाषा के किसी एक काल में ध्वनि, रूप, शब्द, अर्थ, एवं वाक्य-गठन आदि का वर्णन किया जाता है।[1] यही विधा जब अधिक विश्लेषणात्मक हो जाती है तो 'संरचनात्मक भाषा-

1. भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान-कोश, पृ० 477

विज्ञान' नाम से पुकारी जाती है।

(2) **ऐतिहासिक भाषाविज्ञान** (Historical Linguistics)—"ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में किसी भाषा के इतिहास या विकास का अध्ययन किया जाता है तथा सिद्धान्त की दृष्टि से विकास या परिवर्तन के सिद्धान्तों, नियमों तथा कारणों आदि का उल्लेख होता है।"[1]

(3) **तुलनात्मक भाषाविज्ञान** (Comparative Linguistics)—इसके अन्तर्गत "दो या अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन होता है।"[2]

(4) **प्रायोगिक भाषाविज्ञान** (Applied Linguistics)—इस विधा का सम्बन्ध भाषाविज्ञानेतर क्षेत्रों में भाषाविज्ञान के प्रयोग से है। इसमें मातृभाषा या किसी अन्य भाषा की शिक्षा कैसे दें, अनुवाद कैसे करें, टाइपराइटर के की-बोर्ड में क्या क्रम रखें, उच्चारण की गड़बड़ी कैसे सुधारें, आदि विषयों का विचार किया जाता है।"[3]

2.3. अष्टाध्यायी : वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की कृति

उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट होना चाहिए कि पाणिनि की अष्टाध्यायी न तो तुलनात्मक भाषाविज्ञान है; न ऐतिहासिक भाषाविज्ञान। यह विशुद्ध रूप से वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की प्रतिनिधि रचना है। इसका प्रवृत्ति-क्षेत्र विवेचनाधीन भाषा का संरचनात्मक विश्लेषण करना है। विवेचनाधीन भाषा विश्व के किस भाषिक परिवार में आती है? उसकी भाषिक इकाइयों में (वाक्य, पद आदि) किस अन्य भाषा के शब्दों से कितना ध्वन्यात्मक या रचनात्मक साम्य है? उसके विवेचनाधीन वर्तमान शब्दकुल ने और उसके अर्थों ने ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों में कितने रूप-परिवर्तन किए? किन शब्दों ने अस्तित्व खोया या बनाए रखा? संरचनात्मक भाषिक इकाइयों (Linguistic Units) प्रकृति-प्रत्ययों ने क्यों और कहां सांकर्य[4] पाया? विवेचनाधीन भाषा

---

1. भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान कोण, पृष्ठ 477
2. वही।
3. वही।
4. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, संस्कृत-शिक्षण की नवीन योजना, पृ० 159 : "लोट् के रूपों में 'तस्', प्र० पु० द्वि० व०, 'थस्' म० पु० द्वि० व०, 'थ' म० पु० बहु० इनकी जगह ताम्, तम्, त, आदेश होना लुङ् से बनने वाले अति प्राचीन इंजंक्टिव मूड के रूपों से ही लिया गया है तथा अन्य ङित लकारों के समान मिप् की जगह 'अम्' इसलिए नहीं होता कि लोट् का उत्तम पुरुष वस्तुतः लेट् का रूप है।"

की वर्णध्वनियां अपने परिवार की मूल भाषा[1] में क्या रूप रखती थीं ? कैसे वर्तमान परिवर्तित रूप पाया ? आदि-आदि सभी प्रश्न अष्टाध्यायी के प्रवृत्ति क्षेत्र से बाहर हैं। इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत करने की दिशाएं स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई हैं। भाषा का संरचनात्मक विश्लेषण करने वाले वैज्ञानिक की कृति पर भाषाविज्ञान की अन्य असम्बद्ध दिशा और दृष्टियों से प्रश्नचिह्न लगाना अनुचित ही नहीं, हानिकारक भी हो सकता है। ऐसे आक्षेप विचाराधीन कृति में अवैज्ञानिकता का सन्देह उत्पन्न करते हैं और इनसे शास्त्र का वस्तुरूप आच्छन्न होने का भय रहता है। यहां डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का यह कथन द्रष्टव्य है—"पाणिनि का व्याकरण वैज्ञानिक केवल इस दृष्टि से है कि उसमें व्यवस्थित रूप से शब्दों का शुद्ध रूप एवं प्रयोग दिखाया गया है, परन्तु वह रूप या अन्य परिवर्तन क्यों हुए, यह दिखाना भाषाविज्ञान का कार्य है।"[2] उक्त कथन यथार्थता का बोध कराने को कुछ परिष्कार चाहता है। हमारी दृष्टि से पाणिनि का व्याकरण वैज्ञानिक इसलिए है कि शास्त्रकार ने विवेचनाधीन भाषा का संरचनात्मक विश्लेषण करने के लिए, यद्यपि व्याख्यान-सापेक्ष, तथापि तकनीक, परिभाषा और विधि की दृष्टि से सफल बीजगणितीय पद्धति प्रस्तुत की है। लक्षणशास्त्र होने के नाते इसमें 'शब्दों का शुद्ध रूप एवं प्रयोग' भले ही न दिखाया हो किन्तु भाषिक इकाइयों (वाक्य, पद, प्रकृति, प्रत्यय आदि) की सभी स्तरों पर संरचनात्मक अन्वितियों का पारदर्शी विश्लेषण किया गया है। निश्चित ही अष्टाध्यायी तुलनात्मक भाषाविज्ञान की रचना नहीं, किन्तु आधुनिक भाषाविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण विधा की, जिसे संरचनात्मक अथवा वर्णनात्मक भाषाविज्ञान कहा जाता है, प्रतिनिधि रचना है।

आगे वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की उन मूल प्रवृत्तियों का विवेचन किया जायगा जिनके प्रकाश में अष्टाध्यायी के संरचना-सिद्धान्तों को सरलता से समझा जा सकता है तथा शास्त्रकार को भाषा-संरचना की मौलिक दृष्टि से गहराई के साथ जुड़ा जा सकता है।

---

1. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, संस्कृत शिक्षण की नवीन योजना, पृ० 192 : "भाषाविज्ञान से पता चलता है कि 'हन्' के स्थान पर मूल भारत-यूरोपीय धातु 'घन्' या GWHEN थी। उच्चारण के सिद्धान्तों की दृष्टि से भी यह सम्भव प्रतीत होता है कि 'घ्' का 'ह्' रह जाय परन्तु 'ह्' का 'घ्' नहीं हो सकता। (ध्यातव्य है, पाणिनि ने होहन्तेर्ञ्णिन्नेषु' अष्टा० 7.3.54 से 'हन्' के 'ह्' को 'घ्' किया है।)
2. वही, पृ० 15

2.4. अष्टाध्यायी में वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की मूल प्रवृत्तियां

(1) वक्ता तथा श्रोता के मध्य ताटस्थ्य

वक्ता ने किस मानसिक या भौतिक स्थिति में, क्षणविशेष में किस अर्थ-विशेष का बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया तथा उसे सुनकर श्रोता पर उक्त प्रकार की निजी स्थितियों में क्या अर्थबोधात्मक प्रतिक्रिया हुई ? इन प्रश्नों की गहराइयों में जाना वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के कार्य-क्षेत्र में नहीं आता। इसके लिए भाषाविज्ञान की दूसरी धाराएं हैं जो सामाजिक, ऐतिहासिक अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से शब्द और उसके अर्थबोध की विभिन्न दशाओं का अध्ययन करती हैं। इनके द्वारा प्राप्त किए हुए अर्थनिर्णय भी वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान का अधिक उपकार नहीं करते। ये निर्णय भी अनुमानमूलक पूर्वधारणाओं पर आश्रित होते हैं। उन्हें अन्तिम सत्य इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि भविष्य में उनके परिवर्तन की सम्भावना बनी रहती है। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का मुख्य सम्बन्ध किसी एक काल में, किसी एक समाज में तत्तत्सन्दर्भ में अर्थ विशेष के बोधकरूप से स्वीकृत भाषा-रूपों का विश्लेषण करने से होता है।[1] भाषा-रूपों का विश्लेषण उनके सन्दर्भ विशेष में लोकस्वीकृत अर्थ की दृष्टि से किया जाता है, न कि अर्थविकास अथवा रूपविकास की दृष्टि से। इसका यह तात्पर्य नहीं कि विविच्यमान भाषारूप का किसी भी अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं बताया जाता, अपितु यही कि उसके अर्थ की वक्ता और श्रोता की दृष्टि से परिवर्तनशील दशाओं को महत्त्व नहीं दिया जाता। वर्णनात्मक व्याकरण की इस प्रवृत्ति को इस उदाहरण द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है : किसी वनप्रदेश में दो मित्र जा रहे हैं। मार्ग में एक शिकारी बन्दूक लिये मिल जाता है। तीनों में कुछ बातचीत होने लगती है कि इतने में एक सिंह आ जाता है। दो मित्रों में से एक की दृष्टि उस पर पड़ी। उसके भीरु मन पर भयपूर्ण प्रतिक्रिया हुई और वह चिल्लाया सिंह। अर्थात् मारकर खा जाने वाला पशु। उसके मित्र ने भी, जोकि उसके ही समान भीरु था 'सिंह' का वही 'हिंसक' अर्थ समझा जो वक्ता मित्र को बोधन कराने को अभीष्ट था। परन्तु इसके विपरीत उसी क्षण द्वितीय श्रोता ने, जो साहसिक शिकारी था, अन्य ही अर्थ लिया। उसने हंसते हुए तुरन्त गोली दाग दी और सिंह को मार दिया। स्पष्ट है कि शिकारी ने अपनी मनःस्थिति से 'सिंह'

1. L. Bloomfield, Language, p. 158 : "In describing a language, we are concerned primarily with the working of this co-operation at any one time in any one community, and not with its occasional failures or with its changes in the course of history."

का अर्थ उसी क्षण मारने वाला नहीं, अपितु मारा जाने वाला लिया है। अब यह उलझनपूर्ण समस्या है कि 'सिंह' शब्द के बोध्य अर्थ के रूप में 'हिंसक' अर्थ को मान्यता दी जाय अथवा 'हिंस्य' को ? मनोवैज्ञानिक ढंग से मन की स्थितिविशेष में दोनों ही अर्थ होने चाहिए।[1] यहां केवल दो भिन्न मनःस्थितियों के सन्दर्भ में ही अर्थ की भिन्नता का विश्लेषण हुआ है। ये मानसिक स्थितियां देश, काल तथा पात्र के भेद से बहुत भी हो सकती हैं। इस दशा में निश्चित अर्थ के साथ किसी शब्द का निश्चयात्मक सम्बन्ध बता पाना सम्भव न होगा।[2] अतः सन्दर्भ-विशेष में प्रचलित अर्थ का निर्धारण निश्चित रूप से वक्ता के अभिमत को ध्यान में रखकर किया जाता है, क्योंकि अर्थबोध के लिए शब्द का प्रयोग उसने ही किया है। वक्ता के द्वारा उच्चारित भाषा-शब्द से जब श्रोता तदभिमत अर्थ की बोधात्मक प्रतिक्रिया करता है तभी वक्ता स्वीकारता है कि उसने सही अर्थ समझा है। अतः जब किसी शब्द के आदि प्रवर्तक वक्ता से सन्दर्भ विशेष में अर्थ-विशेष के बोधक रूप में श्रोता को शब्द का ज्ञान हो जाता है तो वह भी उसी सन्दर्भ में उसी अर्थविशेष के बोधन के लिए उसी शब्द का प्रयोग करता है। यह क्रम इसी प्रकार परम्परा से चलता है। यह व्यवहार-परम्परा जैसा कि पूर्वोक्त 'सिंह' के उदाहरण से स्पष्ट है, वक्ता तथा श्रोता की मनःस्थितियों के अनुसार संसार के सभी अर्थों का बोध कराने में समर्थ 'सिंह' आदि शब्द को एक विशेष अर्थ में सीमित कर देती है। सभी शब्द सभी अर्थों के बोधक हो सकते हैं किन्तु सामाजिक व्यवहार निश्चित शब्द के साथ निश्चित अर्थ का सम्बन्ध जोड़ देता है। सभी अर्थों का बोध कराने के शब्द-सामर्थ्य का उल्लेख करते हुए 'योगवाचस्पत्यम्' में कहा है—'सर्वे च शब्दाः सर्वार्थाभिधानसमर्थाः इति सर्वैरर्थैः सर्वशब्दानां सम्बन्धः, ईश्वरसंकेतस्तु प्रकाशकः'।[3] अर्थात् सभी शब्द सभी अर्थों के बोधन में समर्थ हैं अतः सभी शब्दों का सभी अर्थों से 'वाच्य-वाचक-भाव' होता है। किन्तु ऐसा वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध सामान्य मानव-विज्ञान की सीमा से

---

1. Robert A. Hall Jr., Introductry Linguistics, p. 39 : "The meaning of any linguistic form is the situations in respect to which it is used."
2. L. Bloomfield, Language, p. 140 : "The statement of meanings is therefore the weak point in language study and will remain so untill human knowledge advances very far beyond its present state."
3. नागेश, मंजूषा, पृ० 40

बाहर है।[1] अतः तत्तद् अर्थ के साथ तत्तद् शब्द का सम्बन्ध पारम्परिक संकेत से होता है। इस परम्परागत मान्यता के अनुसार सृष्टि के आदि में महर्षियों को, 'इस पद का यह अर्थ है' इस रूप में ईश्वर ने साक्षात् संकेत किया और उनकी व्यवहार-परम्परा से उस संकेत का ज्ञान हम तक पहुंचा है।[2] सर्वार्थाभिधान-समर्थ शब्द का अर्थ-विशेष में संकेत 'ईश्वर' ने किया या आदि प्रयोक्तामानव ने, यह विवाद यहां कोई अर्थ नहीं रखता। भाषा का शब्दार्थ-व्यवहार हमें परम्परा से मिलता है, यह निस्सन्देह है। परम्परा के द्वारा संदर्भ-विशेष में अर्थ-विशेष के बोधकरूप में शब्द को सामाजिक मान्यता मिल जाती है।[3] इस प्रकार निश्चित शब्द का निश्चित अर्थ से वाच्य-वाचक-भाव बन जाता है। तत्तद् भाषा के शब्द-कोष, संकलित शब्दों का जिन-जिन अर्थों में वाच्य-वाचक-भाव प्रसिद्ध हो गया है, उनका उल्लेख भर कर देते हैं। वर्णनात्मक व्याकरण का कार्य भी ऐसे ही लोक-स्वीकृत अर्थों के सहारे वाक्य-रचना, पद-रचना तथा ध्वनि-सम्बन्धी नियमों का विश्लेषण करना है। इसमें संदर्भ का महत्त्व है, वक्ता और श्रोता की मनोदशा पर निर्भर अर्थ का नहीं। यही उसकी 'वक्ता और श्रोता के मध्य की तटस्थता' है। अतएव उसे 'शब्दानुशासन' सटीक नाम मिला है।[4] यहां शब्द की संरचना पर अधिक बल दिया जाता है, उसके अर्थतत्त्व पर नहीं।

(2) शब्द, अर्थ और उनके वाच्य-वाचक-भाव की नित्यता

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान किसी एक काल में किसी एक समाज की भाषा के शब्दों की संरचना का वर्णन करता है। अपनी शास्त्र-मर्यादा में वह शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को नित्य मानकर चलता है।[5] यह मान्यता उसकी आधार-

---

1. नागेश, मजूषा, पृ० 41 'सर्वैरर्थैः सर्वशब्दानां सम्बन्धश्च योगिज्ञानगम्य एव, तेषां योग-बलेनाभयरूप पराप्रत्यक्षात्।" (तुलना कीजिए—ब्लूमफील्ड—लेंग्वेज, पृ० 140)
2. वही, पृ० 40 : अतएव न्यायवाचस्पत्ये उक्तम्—'सर्गादिभुवां महर्षिदेवतानामीश्वरेण साक्षादेव कृतः सङ्केतः तद्व्यवहाराच्चास्मदादीनामपि सुग्रहस्तत्संकेतः।"
3. N. Krishnaswami, 'An Introduction to Linguistics for Language Teachers', p. 55 :

   "Language is a social behaviour and the subject matter of linguistics is the study of the behaviour patterns. It is the study of a set of habits."
4. महा०, पस्पशा०, पृ० 3, 'अथशब्दानुशासनम्'।
5. L. Bloomfield, Language, p. 158 : "Accordingly, the descriptive phase of linguistics consists in a some what rigid analysis of speech-forms, on the assumption that these speech forms have constant and definable meanings.'

भूमि है। यदि वह शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को अनित्य मान ले तो उसके द्वारा किया गया विश्लेषण तथा स्थापित निष्कर्ष अचिरजीवी और खोखले लगेंगे। शब्द, अर्थ तथा उनके सम्बन्ध की नित्यता भौतिक विज्ञान की दृष्टि से असंगत[1] लगती है किन्तु, वर्णनात्मक भाषाविज्ञान तार्किक भूमि पर इस नित्यता को स्थिर करता है। शब्द और अर्थ तथा उनका सम्बन्ध हमारे मस्तिष्क में विचार रूप से सदा स्थिर रहते हैं। वक्ता और श्रोता दोनों के बुद्धि-पटल पर उनकी संस्कारात्मक सत्ता बनी रहती है। भौतिक रूप से बाह्य अस्तित्व न रखती हुई वस्तु का भी बौद्ध अस्तित्व हो सकता है।[2] यह बौद्धसत्ता निरन्तर प्रवाहशील और अबाधित है। यही 'शब्दार्थ-सम्बन्ध' तीनों का स्फोटरूप है। वक्ता मानस-अर्थ को जब बाह्य रूप में अभिव्यक्त करना चाहता है तो उसके प्राण-वायु में स्पन्दन होता है। प्राण-वायु कण्ठ-तन्त्री से मुखविवर में पहुंचकर कण्ठताल्वादि स्थानों से आहत होता है और तत्तद् ध्वनियां उत्पन्न करता है।[3] ये वर्णात्मक ध्वनियां आन्तर स्फोट की अभिव्यक्ति का माध्यम हैं। व्यवहार में स्फोट-व्यंजक ध्वनियों को ही शब्द कहा जाता है।[4] ये ही ध्वनियां श्रोता के कर्ण-विवर से उसके मानस पर पहुंचती हैं और उसके बुद्धिस्थ शब्दार्थात्मक स्फोट को भी सक्रिय बनाती हैं। तभी वक्ता अर्थ-बोध करता है। वक्ता और श्रोता के मन में शब्दार्थ की यह स्थिति, यदि कोई प्रतिबन्धक न हो तो सतत बनी रहती है। अतएव शब्द और अर्थ की भौतिक सत्ता के उत्पाद-विनाश होने पर भी उनकी बौद्धसत्ता पर कोई आंच नहीं आती और उन्हें नित्य माना जा सकता है। ध्वनिरूप शब्द भी अपने सादृश्य-मूलक प्रत्यभिज्ञान[5] के आधार पर नित्य माना जाता है। सदृश-पद और पदार्थ के उपस्थित होने पर 'तदेवेदम् पदम्', 'स एवायमर्थः' यह प्रतीति होती है, जो उन दोनों की व्यावहारिक नित्यता बनाती है। वाक्यपदीयकार इसे

---

1. L. Bloomfield, Language, p. 76 : "The phonetician ffnds that no two utterances are exactly alike."
2. न्या० सू०, 'बुद्धिसिद्धन्तु तदसत्' (4.1.50)
3. पाणिनीय शिक्षा, श्लोक 6-8
4. महा० 1 पस्पशा०, पृ० 14, 'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।'
5. L. Bloomfield, Language, p. 76 : "Evidently the working of language is due to a resemblance between sneeessive utterances. utterances which in ordinary life we describe as consisting of 'The same' speech-forms—say, successive utterances of the sentence 'I am hungry'...."

"व्यवस्थानित्यता"[1] कहता है। इसका सीधा सच्चा आशय यह है कि भाषाशब्दों के विषय में यह निर्णय कर पाना कि वे कब जन्मे ? वैसा ही विवादग्रस्त है जैसा सृष्टि के आरम्भ का निर्णय। लोकजीवन भाषा को परम्परा से प्राप्त करता आ रहा है और यही मानकर चलता है कि जिस अर्थ के बोधन के लिए, जिस शब्द का व्यवहार किया जा रहा है वह सदा एकरूप रहा है।

(3) जाति-व्यक्ति-पदार्थता

सदृश रूप में गृहीत अनेक व्यक्तियों में अनुस्यूत धर्म 'जाति' या 'आकृति' कहलाता है। इसका आश्रय समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति होता है। जाति और व्यक्ति दोनों अविनाभाव से रहते हैं; तथापि दोनों को शब्द का बोध्यार्थ माना जाय अथवा किसी एक को, इस सम्बन्ध में अनेक शास्त्रीय विवाद हैं। ऐसे विवाद को प्रकृतानुपयोगी समझकर छोड़ा जा रहा है। 'जाति' तथा 'व्यक्ति' दोनों को शब्द का अर्थ मानने में कोई विशेष असुविधा नहीं हैं। वर्णनात्मक व्याकरण का कार्य तर्क-वितर्क द्वारा पद-पदार्थ-सम्बन्धी धारणाओं का औचित्य-अनौचित्य अथवा गौरव-लाघव आंकना नहीं है। इस विषय में वह लोक को प्रमाण मानता है। लोक में 'पद' का व्यवहार जाति और व्यक्ति दोनों का यथासन्दर्भ बोध कराता है। उदाहरणार्थ 'शिशुः निःस्पृहो भवति' इस वाक्य का एक वचन 'शिशु' शब्द सम्पूर्ण शिशुवर्ग का बोधक है। यदि यहां 'शिशु' का अर्थ एक व्यक्ति लें तो नाना व्यक्ति होने से बहुवचन का प्रयोग अनिवार्य होगा। किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। यहां 'शिशु' शब्द एक व्यक्ति का नहीं, जाति का बोध करा रहा है। जाति एक है, अतः एक वचन का प्रयोग साधु है। यदि व्यक्ति को पदार्थ-रूप से बोध कराने में तात्पर्य हो तो "शिशवः निःस्पृहाः भवन्ति" यही प्रयोग करना होगा क्योंकि शिशु व्यक्ति अनेक हैं। उक्तप्रकारक लोक-व्यवहार में जाति और व्यक्ति दोनों के पद का वाच्यार्थ होने से व्याकरणशास्त्र तदनुकूल ही एक-वचनादि[2] का नियमन करता है।

(4) वाक्य ही भाषा की अन्तिम सार्थक इकाई

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान वाक्य को भाषा की अन्तिम सार्थक इकाई मानकर

---

1. वाक्य० ब्र० का०, 48

'नित्यत्वे कृतकत्वे वा तेषामादिर्न विद्यते।
प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्थानित्यतोच्यते ॥'

2. तुलना कीजिए, 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (अष्टा० 1.2.64) तथा
'जात्याख्यायामकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (अष्टा० 1.2.58)

चलता है। वाक्य में ही प्रवृत्ति-निवृत्तिकारक अर्थबोधन का सामर्थ्य होता है।[1] जो वाक्य सन्दर्भविशेष में जिस संरचनाविशेष द्वारा जो अर्थबोध कराता है उसी को आरम्भबिन्दु मानकर वर्णनात्मक व्याकरण उसकी संरचनात्मक प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर देता है।

(5) अन्वाख्यान का साधन बीजगणितीय काल्पनिक प्रक्रिया[2]

किसी भी भाषा के वाक्यों की संख्या कर पाना असम्भव है। वाक्य में एक ही पद के संयोजन और वियोजन कर देने से वाक्य का शरीर और अर्थ दोनों ही अन्यथा हो जाते हैं। अतः वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान संरचनात्मक अन्वाख्यान के लिए वाक्य-रचना को आरम्भबिन्दु नहीं मानता। वह वाक्य का पदों में, पदों का प्रकृति-प्रत्ययों में तथा उनका वर्णध्वनियों में विखण्डन कल्पित करता है। बीजगणितीय पद्धति से उनके समुच्चय बनाता है तथा इसके बाद उनके संयोजन का प्रक्रम निरूपित करता है। इस प्रकार सारा संरचना-विश्लेषण एकरूप पद्धति से बता दिया जाता है।

पद यद्यपि वाक्य की अपेक्षा अत्यधिक न्यून संख्या में होते हैं तथापि भाषा के सम्पूर्ण पदकुल का संचय करना तथा तत्तद् संदर्भविशेष में उसके अर्थबोध की भूमिका समझकर पदों की संरचना व्याख्यात करना सरल कार्य नहीं है। प्रतिपदपाठ द्वारा शब्दविषयक ज्ञान की असम्भवता का संकेत पतञ्जलि ने रोचक शैली से किया है—'एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपादोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम।'[3] प्रतिपद पाठ द्वारा विशाल शब्द-भण्डार का ज्ञान दुष्कर जानकर पश्चाद्भावी शाब्दिकों ने प्रतिपद पाठ की अवैज्ञानिक विधा को त्यागकर उत्सर्गापवाद-शैली द्वारा शब्दविद्या का विकास किया। पाणिनीय शास्त्र भारतीय मनीषा का इस दिशा में किये गये चिर प्रयास का सन्तोषजनक अविकल प्राप्त अवशेष है। इस विधा के अन्तर्गत वाक्यों में पदों के आवाप (inclusion) और उद्वाप (exclusion) की कल्पना से वाक्य का पदों में विभाजन, तथा पदों का प्रकृति-प्रत्ययों में विभाजन करके कल्पितान्वय-व्यतिरेक द्वारा पदों के भिन्न-भिन्न अर्थ तथा प्रकृति-प्रत्यय के खण्डशः अर्थ किये

---

1. मंजूषा, पृ० 1, 'तत्र वाक्यस्फोटोमुख्यो लोके तस्यैबार्थबोधकत्वात्तेनैवार्थसमाप्तेश्च।'
2. वि० नि० मिश्र, The Descriptive Technique of Panini, p. 111.—
   'Therefore a set theoretical concept of model as suggested by suppes is a useful tool for bringing formal order into the theory of experimental design and analysis of data"
   तुलना कीजिए भूषण, स्फोटनिर्णय (का० 69)
3. महा०, पस्पशा०, पृ० 43

जाते हैं।[1] इस बीजगणितीय कल्पना से अखण्ड वाक्य में कल्पितपद-समुदाय तथा पदों में प्रकृति-प्रत्यय समुदाय और उनके खण्डशः कल्पित अर्थ केवल शब्दशास्त्रीय अर्थ रखते हैं।[2] उदाहरण के लिए 'पुस्तकं पठ' वाक्य एक अखण्ड भाषा-इकाई है जिसका सन्दर्भ-विशेषगत अखण्ड अर्थ भी हम जानते हैं। इसी वाक्य को जब हम 'पुस्तकं पश्य' तथा 'शीघ्रं पठ' ऐसे दो वाक्यों से तौलते हैं जिनमें क्रमशः 'पश्य' का आवाप तथा 'पठ' का उद्वाप, और द्वितीय में 'शीघ्रं' का आवाप तथा 'पुस्तकं' का उद्वाप है तो हमें तीनों वाक्यों में आर्थिक समता और विषमता को समझने में देर नहीं लगती। वाक्य में किसी एक पद के संयोग-वियोग की कल्पना तथा उस पर आधारित अर्थ-प्रतीति का भावाभाव वाक्य के पदों में विभाजन तथा पदों से तत्तद् अर्थविशेष का 'वाच्यवाचकभाव' स्थापित करने में सहायक होती है। इसी प्रक्रिया से पदों का प्रकृति-प्रत्यय रूप में विभाजन किया जाता है।[3] 'घटं आनय' तथा 'घटेन जलं आनय' आदि वाक्यों में प्रयुक्त 'घटं' और 'घटेन' की शरीर-तुलना हमें सूचित करती है कि दोनों आकृतियां आंशिक समता तथा आंशिक विषमता रखती हैं। साथ ही दोनों से प्राप्त अर्थबोध में भी आंशिक समता और विषमता स्पष्ट होती है। 'घटं' और 'घटेन' का संरचनात्मक अन्तर 'अम्' और 'इन' भाग में अन्तर पर निर्भर है। घट अंश तो दोनों में समान है। दोनों पदों द्वारा प्रतीयमान घटनिष्ठ फलाश्रयता तथा घटनिष्ठ साधनता अर्थों में घटरूप अर्थांश समान है। केवल फलाश्रयत्व (कर्मत्व) और साधनत्व-रूप अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। अतः सहज निष्कर्ष प्राप्त होता है कि दोनों पदों द्वारा बोध्य अर्थ में उभयनिष्ठ घटरूप अर्थ का वाचक 'घट' शब्द है तथा विषमांश के वाचक

---

1. Robert A. Hall Jr., Introductory Linguistics, p. 128 : "In describing the grammatical core of a language, the linguistic analyst's task is, first of all, to isolate the functors and to ascertain their meanings, and also to identify the different possibilities of combinations, of both functors and contentives, in meaningful order (especially, but not exclusively, syntactic combination)."

2. मंजूषा, पृ० 7 : 'तेषामर्था अपि कल्पिताः।'

3. Rob rt A. Hall Jr. : Introductory Linguistics, p. 26 : "There are three criteria which are normally observed in the process of classification : distribution, similarity, and identity of function. By distribution, we mean the conditions under which the various elements (allephones, allomorphs, etc.) occur, i. e., the positions in which they are found with respect to each other and to other elements."

'अण्' और 'इन' हैं। उनके अन्वय-व्यतिरेक से दोनों शब्दभागों में तत्तद् अर्थांश का भाव या अभाव होता है। इस प्रकार वाक्य का पदों में, पदों का प्रकृति-प्रत्ययों में कृत्रिम विभाजन करके तथा उन्हें कृत्रिम व्याकरणिक अर्थों में नियुक्त करके शब्दों की संरचनात्मक व्याख्या कर दी जाती है।

उक्त प्रकार से विभक्त की हुई भाषिक इकाइयों के संरचनात्मक नियमों का का उल्लेख करना, उनके मध्य वर्तमान परिपूरक सम्बन्धों पर आधारित होता है। भाषा-रूपों की संरचना का ऐसा व्यवस्थित विवेचन तभी संभव है जब व्याकरणशास्त्र 'वृत्तगतिक तथा बीजगणितीय हो'।[1] उक्त प्रकारक संरचनात्मक विश्लेषण में शास्त्रकार की प्रकृतिप्रत्यय-कल्पना कभी-कभी एकपक्षीय और मनमानी लगती है।[2] इस कृत्रिम प्रक्रिया में शास्त्रकार विश्लेषण-सौविध्य की दृष्टि से प्रकृति-प्रत्ययरूप उपादान-कल्पना करने में स्वतन्त्र होता है। कोई शाब्दिक 'अस्ति' रूप की संरचना 'अस्' को धातु मानकर करता है तो अन्य 'स्' को धातु मानकर उसे 'अ' आगम का प्रविधान कर देता है। रूप-सरचना दोनों प्रक्रिया से एक होनी है। प्रक्रिया का औचित्य और अनौचित्य केवल उसकी सुबोधता, दुर्बोधता अथवा संरचना-नियमों की अल्पसंख्यता या अतिसंख्यता से आंका जाता है।[3] संरचनात्मक उपादानों का वर्गीकरण जितना अधिक विस्पष्ट, पूर्ण तथा वैज्ञानिक योजना पर आधारित होगा, विश्लेषण उतना ही अधिक पारदर्शी एवं सुबोध होगा।[4]

---

1. देखिए—विद्या निवास मिश्र : The Descriptive Technique of Panini p. 10.
2. Robert A. Hall Jr. : Introductory Linguistics, pp. 34-35. "This approach is based on a listing of items involved and of 'proces es' which the items 'undergo'. For this type of of description, it is always necessary to choose some one member of a set of forms and to describe it as basic and the others as derived from it—a choice which is on occasion difficult and can also sead to highly arbitrary or artificial results."
3. S. M. Lamb : "The simplest grammar of a language is that which has the fewest statments of representation."
   See, Descriptive Technique of Panini : V. N. Mishra, page, 94.
4. N. Krishnaswamy, 'An Introduction to Linguistics for Language Teachers', p. 55. "The analysis and description must conform to the requirements laid down by a scientific theory which should be simple, consistent, complete, useful and elegant."

(6) संरचना विश्लेषण की दो दिशायें : इकाई एवं व्यवस्थापन तथा इकाई एवं प्रक्रम

वर्णनात्मक व्याकरण भाषारूपों का संरचनात्मक विवरण देने के लिए दो दिशायें अपनाता है—इकाई एवं व्यवस्थापन तथा इकाई एवं प्रक्रम। प्रथम विधा के अन्तर्गत भाषा-रूपों के संरचनात्मक स्तरों तथा संरचनात्मक इकाइयों (उपादान) का विभाजन करना होता है। यह विभाजन अर्थ-ग्राम (Sememe) रूपग्राम (Morpheme), रूपध्वनिग्राम (Morphophoneme), ध्वनिग्राम (Phoneme), तथा ध्वनि (Phones) के रूप में होता है। परम्परागत व्याकरण-शास्त्र इन्हें प्रकृति, प्रत्यय, उनके अर्थ, वर्ण-समुदाय तथा वर्ण-ध्वनियों के रूप में विभक्त करता रहा है। दूसरी विधा के अन्तर्गत 'प्रक्रम' शब्द अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका आशय संरचना की उस विधा से है जो विभक्त की हुई संरचनात्मक इकाइयों के क्रमिक संयोजन और परिवर्तन से शब्द के वस्तुरूप को प्राप्त करती है।[1] पाणिनीय पद्धति, जैसा कि आगे बताया जायेगा, दोनों का समन्वय है।[2] अष्टाध्यायी के प्रथम पांच अध्यायों में पाणिनि ने संरचनात्मक इकाइयों तथा स्तरों का व्यवस्थापन किया है तथा अध्याय छः, सात और आठ में उन इकाइयों के माध्यम से संरचना प्रक्रिया का वर्णन किया है।

2.5. वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की उक्त प्रवृत्तियों के प्रकाश में अष्टाध्यायी पर एक दृष्टि

(1) अर्थ के प्रति तटस्थता

पाणिनि का सूत्रशास्त्र जिन भाषा-रूपों का संरचनात्मक विश्लेषण करता है उनका प्रयोग तत्तद् अर्थ-सन्दर्भों में किन स्थितियों की देन है; वक्ता और श्रोता की विभिन्न मानसिक स्थितियों का प्रतीयमान अर्थ में क्या योगदान रहा है इसका कोई महत्त्व नहीं। संरचना-विश्लेषण की यह शैली वक्ता और श्रोता के

---

1. Robert A. Hall Jr. : "Introductory Linguistics, p. 35. "The Ip approach, carried to its logical extreme, is rhe basis of the transformation type of grammar (cf. chap. 38)."
2. विद्या निवास मिश्र, ' The Descriptive Technique of Panini', p. 65. "In a way the setting of these symbols is an achievement of Panini a real synthesis of the 'item and process' and 'item and arrangement' methods."

मध्य की तटस्थता है। इस शैली में शब्द के रूप का महत्त्व है, अर्थ का नहीं।[1] अर्थ केवल सामान्य रूप से संरचना-प्रक्रिया का आरम्भिक स्तर अवश्य है। पाणिनि का मस्तिष्क इस दिशा में सर्वथा स्पष्ट था। उसका सूत्र 'स्वं रूपं शब्द-स्याशब्द संज्ञा' (अष्टा० 1.1.68) उसके शास्त्र की इसी प्रवृत्ति को बताता है कि उसके शास्त्रीय विश्लेषण का आधार विन्दु शब्द का रूप है, उसका अर्थ नहीं। 'अग्नि' शब्द से कब किसने 'आग' बताना चाहा और कब अग्नि नाम का मनुष्य, पाणिनि को इससे कोई सरोकार नहीं। उसे तो 'अग्नि' शब्द की विभिन्न संरचना-त्मक स्थितियों का विश्लेषण करना है। 'पयस्' शब्द से वक्ता 'दुग्ध' कहना चाहता है या 'पानी' और श्रोता इन दोनों में से कौन-सा अर्थ ग्रहण करता है, ये वे ही जानें। संरचनात्मक व्याकरण का प्रणेता होने के नाते 'पयस्' की रूप-संरचना तथा उसकी भिन्न-भिन्न संरचनात्मक रूप-स्थितियों को उत्पन्न करने वाले उपादानों का वर्णन करना उसका कार्य है।

यह ध्यातव्य है कि यदि कोई अर्थविशेष शब्द-रूप को प्रभावित करता है तब तो व्याकरण का उधर से आंख मींचना सम्भव न होगा। अर्थभेद का आधार लिये विना रूपगत वैशिष्ट्य बता पाना असम्भव है। भाषा-संरचना को प्रभावित करने वाले अर्थ-सन्दर्भों के प्रति पाणिनि की अवेक्षा बहुत सतर्क है। उनकी यह सतर्कता कुछ उदाहरणों से स्पष्ट की जाती है—पाणिनि-काल में पुत्रादिनी' शब्द का प्रयोग दो रूपों में था। जब किसी स्त्री के प्रति 'आक्रोश' प्रकट किया जाता था तो 'पुत्र' के 'त्' को द्वित्व नहीं होता था। किन्तु इसी शब्द का प्रयोग गाली रूप में न होकर जब यथार्थ कथन में होता था तो तकार को द्वित्व किया जाता था, जैसे—'पुत्त्रादिनी सर्पिणी'। इसी प्रकार 'प्रशंसा' अर्थ में 'सुसिक्तम', किन्तु 'निन्दा' अर्थ में 'सुशिक्तम्' (षत्व-विशिष्ट) रूप होता था। इन रूपों का अन्तर अर्थभेद पर आधारित है। इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पाणिनि संरचना-विश्लेषण में अर्थ का सहारा लेता है। उसके ये दो सूत्र—'नादिन्या क्रोशे पुत्रस्य' (अष्टा० 8.4.48) तथा 'सुः पूजायाम्' (अष्टा० 1.4.95) इस प्रवृत्ति के प्रमाण हैं।

(2) सिद्धे शब्दार्थसम्बन्ध : शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की रचना होने के नाते अष्टाध्यायी भाषा-शब्दों को उनके अर्थों तथा दोनों के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध को नित्य मानकर चलती

1. Robert A. Hall Jr. : Introductory Linguistics, p. 33. "In the analysis of the linguistic structure, however, considerations of form must take predecence over considerations of meanihg."

है। सूत्रों के द्वारा प्रकृति और प्रत्ययों के पुर्जों को घटित-विघटित कर तथा उनमें नाना प्रकार के आगम और विकार उत्पन्न समझकर जिसने शब्द-रचना सीखी है, उस अध्येता को, उक्त नित्यतावाद चौंका सकता है। परन्तु सूत्रकार की शास्त्रीय मान्यता समझ लेने पर किसी भ्रान्ति की सम्भावना नहीं रहती। पाणिनीय अष्टाध्यायी शब्दोत्पादन की उद्योगशाला नहीं है। उसका शास्त्र सिद्धरूप से प्राप्त शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध का विश्लेषण करता है। इसमें भी शब्द अर्थविशेष से सम्बन्धोल्लेख संरचना-विश्लेषण का साधनमात्र है, साध्य नहीं। 'पितरौ' शब्द लोक-व्यवहार में माता-पिता दोनों का बोधक है। अत: इस अर्थ को संरचना का प्रथम स्तर मानकर, माता-पिता दोनों पदों का 'द्वन्द्व' समास बता दिया जाता है। 'पिता' का 'एक शेष' कहकर उससे द्विवचन बता देना वर्णनात्मक व्याकरण के लिए कुछ अनुचित नहीं है।

अष्टाध्यायी जिसमें लगभग चार हज़ार सूत्र हैं, और जिनका तीन चौथाई भाग भाषा-रूपों के प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन, उनका संयोजन तथा इस प्रक्रिया के मध्य होने वाले ध्वनि-विकारों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है, उसमें इस कृत्रिम अवयव-संघटन-विघटन की प्रक्रिया के फलस्वरूप मिलने वाले किसी लक्ष्य (शब्दरूप) को उद्धृत नहीं किया गया है। इसकी पृष्ठभूमि में शास्त्रकार का शब्द-नित्यता सिद्धान्त ही निहित है। उनकी दृष्टि से शब्द पूर्वस्थित वस्तुतत्त्व है, जिसमें कृत्रिम प्रक्रिया से संरचनात्मक प्रवृत्तियों को विश्लेषित किया जा रहा है। केवल यह ही नहीं सूत्रकार अपनी इस मान्यता को तब और पुष्ट करता दिखाई देता है जब प्राचीन वैयाकरणों के उन कतिपय सूत्रों को उद्धृत करके, जिनसे व्याकरण-शास्त्र की शब्द निर्माणशाला होने की गन्ध आती है, 'अशिष्य' घोषित करता है। पाणिनि ने पूर्वाचार्यों[1] के 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने', 'विशेषणानां चाजाते:' (अष्टा० 1.2.51-52) इन दोनों सूत्रों से अर्थविशेष में विहित प्रत्यत के 'लुप्' होने पर तदन्त से 'युक्तवद् व्यक्तिवचन' के नियम को 'तदशिष्यम् संज्ञा प्रमाणत्वाद्' (अष्टा० 1.2.53) से 'अशिष्य' घोषित किया है।

पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरणों ने कुछ शब्द-प्रकृतियों द्वारा, विना अपना लिंग-वचन त्यागे अर्थान्तरसूचक प्रत्यय के बिना ही संज्ञादि अर्थसूचित करने पर वहां तदर्थाभिधायक प्रत्यय-विधान किया; उसका 'लुप्' किया और प्रत्ययार्थ में मूल प्रकृति के 'लिंग' तथा 'वचन' का अतिदेश किया (अष्टा० 1.2.51)। पाणिनि को यह शैली वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की प्रवृत्ति के विरुद्ध लगी। उसने अर्थ को लोकप्रमाण मानकर ऐसे नियमों को 'अशिष्य' बताया। अपने पक्ष के समर्थन में उसने अष्टा० 1.2.54 से 1.2.57 तक हेतु प्रस्तुत किये हैं, जिनका

1. काशिका (अष्टा० 1.2.51-52) 'व्यक्तिवचने इति च लिंगसंख्ययो: पूर्वाचार्यनिर्देशस्तदीयमेवेदंसूत्रम्।'

तत्वार्थ यही है कि भाषा की अर्थात्मक धारणाएं लोकप्रमाणक हैं। वर्णनात्मक व्याकरण का कार्य शब्दसंरचना बता देना है। पाणिनि द्वारा 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (अष्टा० 6.3.109) इत्यादि निपातसूत्रों का प्रस्तुत किया जाना भी उसके शब्द-विषयक नित्यता के सिद्धान्त की पुष्टि करता है।

कात्यायन ने पाणिनीय शास्त्र की इस प्रवृत्ति को समझने में कोई चूक नहीं की। उसने सर्वप्रथम वार्तिक—'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे लोकतः, लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः'[1] द्वारा पाणिनीय शास्त्र की आधारभूत मान्यता उल्लेख किया है। शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की सिद्धता में लोक को प्रमाण बताकर, अन्य शास्त्रीय प्रमाणों से प्राप्त निष्कर्षों को यहां मूल्यहीन बता दिया है। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान को अन्य शास्त्रों की शब्द की नित्यता-अनित्यता-सम्बन्धी मान्यता से कोई प्रयोजन नहीं।[2] पतञ्जलि ने शब्दार्थ और उनके सम्बन्ध की नित्यता को बहुत ही सटीक दृष्टान्त से बोधित किया है। पतञ्जलि का कहना है – तद् यथा घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वा आह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तद्वच्छब्दान् प्रयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह 'कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य'[3] इति। अर्थात् जैसे घट का अभिलषुक कुम्भकार के यहां आकर कहता है: 'घट बना दो' मुझे कार्य करना है वैसे शब्दों का प्रयोक्ता वैयाकरण के पास जाकर नहीं कहता कि 'शब्द बना दो मैं प्रयोग करूँगा'। वैयाकरण से माँगे बिना ही अर्थविशेष का प्रयोग करता है।

प्रश्न उठता है कि इस दशा में व्याकरणशास्त्र की क्या उपयोगिता है? वार्तिककार इस प्रश्न का उत्तर शास्त्र को 'धर्मनियम'[4] के लिए उपयोगी मानकर देता है। धर्मनियम की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि ने 'शब्देनैवार्थो अभिधेयो नापशब्देन' ऐसा नियम-विधान बताया है। इस धर्मनियम को यदि थोड़ा व्यापक

---

1. महा०, वा० 1
2. Robert A. Hall Jr., Introductory Linguistics, p. 34 : "The structure of language is constantly changing throughout time... yet it is useful to describe a language as if it existed at a given point of time without any changes taking place; in fact, this approach (wich is termed descriptive or synchronic) is not only helpful but necessary both for the historical (diachronic) study of successive stages of a language, and for the application of linguistics in practical way."
   Also compare : 'Patanjali' Maha. 1.1.1. p. 46
   "तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्यः अथापि:, कार्यं उभयथाऽपि लक्षणं प्रवर्त्यमिति।"
3. महा०, पस्पशा० पृ०, 50
4. वही, 'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः'

रूप में लें तो व्याकरण-शास्त्र का कार्य पर्याप्त अंश में भाषा का साधूकरण (मानकीकरण) करना है। शास्त्र का साधुतानियम एक ओर अपभ्रंश शब्द-कुल को साधु-शब्द-कुल के प्रवृत्ति-क्षेत्र में आने से रोकता है; साथ ही भाषा के वैज्ञानिक स्वरूप को समझने की प्रेरणा देता है।

(3) 'जाति' तथा 'व्यक्ति' की पदार्थता

पाणिनीय व्याकरण जाति और व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानता है। जाति अथवा व्यक्ति का बोध कराने के लिए जैसे भाषा-रूप का व्यवहार होता है, तदनुकूल ही संरचना-नियम निर्धारित होते हैं। व्यवहार में जातिबोध कराने के लिए एकवचनान्त और बहुवचनान्त दोनों प्रकार का शब्दप्रयोग देखा जाता है। पाणिनि तदनुकूल ही 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (अष्टा० 1.2.58) सूत्र की रचना करता है। 'जाति' एक है, अतः उसके बोध के लिए एकवचन का ही प्रयोग हो, यह नियम करना; अथवा एकत्वविशिष्ट जाति के लिए बहुवचन पद का प्रयोग क्यों आया? अथवा एकवचनान्त पद से अनेक व्यक्ति का बोध कैसे होता है? इन प्रश्नों का उत्तर उसके शास्त्र की परिधि में नहीं आता।[1] व्यक्ति को पदार्थ मानकर पाणिनि ने 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (अष्टा० 1.2.64) सूत्र की रचना की है। चतुर्दशसूत्री में अ, इ, उ आदि स्वर अपने सभी दीर्घादि भेदों के अत्वादि जाति-रूप से प्रतिनिधि हैं। अतः सूत्रकार उनके भेदोपभेदों का पाठ नहीं करता। व्यवहार में उच्चारण-भेद से वर्ण-व्यक्तियों का भेद देखा जाता है। अतः व्यक्तिपदार्थता-पक्ष में 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (अष्टा० 1.1.69) से सवर्णग्राहकता-नियम भी बना दिया।

2.6. वाक्य ही अन्तिम संरचनात्मक इकाई

अष्टाध्यायी में पूरे तीन अध्यायों (3,4,5) में सुदीर्घ प्रकृति-प्रत्ययमाला तथा दो अध्यायों में उनके संयोग से होने वाले विविध रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तनों का वर्णन देखकर सहसा यह सोचा जा सकता है कि अष्टाध्यायी का मुख्य प्रतिपाद्य विषय पदविज्ञान ही है। यह निष्कर्ष सत्य से दूर होगा। पाणिनि के विवेचन का

1. L. Bloomfield, Language, p. 77 : "It is possible that some science other than linguistics may define this difference in accurate terms, providing even for the case where we use 'man' for more than one individual."

आदि और अन्तिम लक्ष्य वाक्य ही है।[1] पदों की संरचना का वर्णन तो वाक्य-संरचना का माध्यम है। यही कारण है कि 'सुवन्त' और तिङन्त' पदों को बनाने वाले प्रकृति-प्रत्ययों का विस्तृत वर्णन देने से पूर्व उसने द्वितीय अध्याय में वाक्यगत कारक-सम्बन्धों का परिचय दिया है जो कि वाक्य की ही संरचना का विवरण है, साथ ही कारक-प्रकरण के पश्चात् समासों का वर्णन भी वाक्य का ही रूपान्तरण है। प्रति वाक्य संरचनात्मक अन्वाख्यान करना प्रायः असम्भव है, अतः कृत्रिम बीजगणितीय प्रक्रिया से कूटस्थ वाक्य को पदों में, पदों को प्रकृति-प्रत्ययों में, तथा उनको भी लघुतर वर्णात्मक इकाइयों में विभक्त करके वाक्य का अन्वाख्यान किया गया है।[2] पाणिनीय व्याकरण वाक्य और पदों में कोई तात्विक भेद नहीं मानता।[3] सूत्रकार द्वारा किया गया पदरचना का सविस्तार वर्णन क्रमशः अखण्ड वाक्य-संरचना का बोध कराने के लिए है।[4]

उपर्युक्त विवेचन से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी भाषा-संरचना की वर्णनात्मक विधा प्रस्तुत करने वाली एक अद्वितीय एवं सर्वांगपूर्ण कृति है। इसके प्रकाश में किसी भी योगात्मक भाषा का व्यवस्थित संरचनात्मक व्याकरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

---

1. V. N. Mishra, 'The Descriptive Technique of Panini', p. 113. "Panlni had in view the sentence as the starting, as well as ultimate point in description. The entire frame-work is that of substitution for one syntactic concept either by way of compounding, derivation (primary or secondary) of inflection."
2. Rodert A. Hall Jr. : Introductory Linguistics, p. 32 : "Linguistic analysis is concerned primarily with the central three of these structural levels : phonology morphology and syntax."
3. वाक्य० ब्र० का० 73 :

   पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेश्ववयवा न च।
   वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥
4. मंजूषा, पृ० 5 : तत्तदवयवतत्तदर्थबोधनेन समुदायस्य समुदायार्थस्य च बोधने तात्पर्यमृषीणाम्।

अध्याय 3

वाक्य, पद तथा प्रकृति-प्रत्यय का पाणिनीय स्वरूप

वाक्य, पद, प्रकृति तथा प्रत्यय किसी भी भाषा का वर्णनात्मक व्याकरण की विधा से संरचना-विश्लेषण करने के लिए सम्बद्ध भाषा की संरचनात्मक इकाइयों —पद, प्रकृति, प्रत्यय और वर्ण—का स्पष्ट स्वरूप-निर्धारण तथा वर्गीकरण आवश्यक होता है। यहां हम पाणिनीय विधा के अन्तर्गत वाक्य, पद, प्रकृति और प्रत्ययों का स्वरूप और वर्गीकरण प्रस्तुत करेंगे। वर्णों का अध्ययन आगे किया जाएगा।

3.1. अष्टाध्यायी में वाक्य का स्वरूप

वाक्य भाषा की सर्वाधिक अर्थपूर्ण और आधारभूत संरचनात्मक इकाई है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी के किसी सूत्र के द्वारा 'वाक्य' की परिभाषा नहीं की है। यद्यपि उसने अपने सूत्रों में 'वाक्य' शब्द का प्रयोग[1] अनेकशः किया है तथा तत्तद् वाक्य रूपों में सन्दर्भविशेष में पदों के स्वराघात तथा प्लुतभाव करने के नियम बनाये हैं। पाणिनि द्वारा वाक्य की परिभाषा के न दिये जाने का यह अर्थ नहीं कि पाणिनि ने वाक्य का अन्वाख्यान न करके केवल पदों की संरचना का अन्वाख्यान किया है। वास्तविकता तो यह है कि अष्टाध्यायी के अन्वाख्यान का मुख्य विषय

1. 'वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासंमतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु' (अष्टा० 8.1.8), 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' (अष्टा० 8.2.82)

वाक्य ही है।[1] पद-संरचना तथा वाक्य के प्रतिनिधान करनेवाले समास, तद्धित सनाद्यन्तादि वृत्तिरूपों का निरूपण वाक्य के रूपान्तरण प्रकारों का अध्ययन है। अष्टाध्यायी के संज्ञापरिभाषा-प्रकरण के अन्तर्गत ही पाणिनि ने कारकों का विवेचन किया है जो कि वाक्य की संरचना का ही निरूपण है। इसके अनन्तर वाक्य के ही रूपान्तरण 'समास' का निरूपण किया है। कारक और समास वाक्य के ही विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक प्रतिरूप हैं। सिद्धान्त रूप से पाणिनि ने पद और वाक्य का भेद नहीं माना है क्योंकि पद का वाक्य से पृथक् कोई सार्थक अस्तित्व नहीं बनता।[2] पदों में जो अर्थ-बोधकता प्रतीत होती है अथवा जिस अर्थ में शास्त्रकार उसका व्युत्पादन करता है वह उसे वाक्य से ही प्राप्त होता है।[3] इस सबका यह आशय भी नहीं है कि शास्त्रकार पद और वाक्य का व्यावहारिक भेद भी नहीं मानता। यदि ऐसा होता तो उसे 'वाक्य' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता ही न रहती। पाणिनि यह देखता है कि पदसंरचना के स्तर से ऊपर भी पद-समुच्चयरूप वाक्यात्मकस्तर है, जिसकी अपनी विशिष्ट संरचनात्मक प्रवृत्तियां हैं। वाक्यस्तर की संरचनात्क स्थितियों का नियमन पद या उसके अवयवों के नाम से नहीं हो सकता क्योंकि वाक्य में कुछ ऐसे वैशिष्ट्य हैं जो पदों की पारस्परिक अन्विति के द्वारा परिलक्षित होते हैं। अत: वाक्यगत संरचनात्मक वैशिष्ट्य बताने को पदरचना से उच्चतर स्तर पर 'वाक्य' संज्ञा अपेक्षित होती है। पाणिनि के व्यवहार से लगता है कि उसने वाक्य की तकनीकी परिभाषा देना इसलिए अनावश्यक समझा है क्योंकि उसके संरचनात्मक नियमों में वह लोकाभिमत 'वाक्य' संज्ञा का कोई विरोध नहीं देखता। शास्त्र में 'कृत्रिम' और 'अकृत्रिम' दोनों ही प्रकार की संज्ञाएं प्रयुक्त होती हैं।[4] लोकप्रसिद्ध शब्दों को सूत्रकार जब

1. वि० नि० मित्र—"The Descriptive Technique of Panini:, p. 113 : "Panini had in view the sentence as the starting, as well as the ultimate point in description. The entire frame-work is that of substitution for one syntactic concept either by way of compounding, derivation (primary or secondary) or inflection."

   तुलना कीजिये : मंजूषा, पृ० 5, 'तत्तदवयवतत्तदर्थबोधनेन समुदायस्य समुदायार्थस्य च बोधने तात्पर्यमृषीणाम्।'

2. वाक्य० का० 1 कारि० 73 : "वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।"

3. वाक्य का० 2 कारि० 76 : "न हि किञ्चित्पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित। पदानामर्थरूपं हि वाक्यार्थादेव जायते।"

4. महा० 1 अ० पा० 4 आ० 3, पृ० 240 : "इह हि व्याकरणे ये वा एते लोके प्रतीतपदार्थका: शब्दास्तेनिर्देशा: क्रियन्ते, या वा एता कृत्रिमाष्टिघुभादि संज्ञा:"
   तुलना कीजिए—'उभयगतिरिह भवति' (परिभा० पृ० 27)

व्याकरणिक अर्थों में नियत कर देता है तो वे 'कृत्रिम' संज्ञा बन जाते हैं। अन्यथा अकृत्रिम रूप से ही शास्त्र में उपयुक्त होते रहते हैं। 'वाक्य' संज्ञा का उपयोग पाणिनि ने अकृत्रिम रूप में ही किया है।

पाणिनीय वाक्य का स्वरूप उसके सूत्रों पर विचार करने से निर्धारित हो सकता है। पाणिनि ने अपने दो सूत्रों में 'वाक्य' का प्रयोग किया है—

(क) वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासंमतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु (अष्टा० 8.1.8)

(ख) वाक्यस्य टे: प्लुत उदात्त: (अष्टा० 8.2.82)

प्रथम सूत्र 'असूया' आदि अर्थों में विद्यमान 'वाक्य' के आदिघटक 'आमन्त्रित'[1] को द्वित्व करता है, अतः विधिसूत्र है। द्वितीय अधिकार सूत्र है जो आगे के सूत्रों में यथास्थान अपना अर्थ देता जाता है। प्रथम सूत्र पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रकार 'पद समूह' को 'वाक्य' नाम से व्यवहृत करता है, क्योंकि उक्त सूत्र में जिस 'आदि आमन्त्रित' को वह द्वित्व कर रहा है, वह पद-समूह का ही आदि हो सकता है। सूत्र 8.2.82 के अधिकार में पठित सूत्र 8.2.83-105 द्वारा जो प्लुत विधान हुए हैं उनसे भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

प्रश्न उठता है कि क्या पाणिनि किसी भी पदसमूह को वाक्य मान सकता है? इसका सीधा उत्तर नकारात्मक है। सूत्रकार का तत्तद् अर्थों के अभिधान करने में समर्थ पदसमूह को 'वाक्य' सूचित करने से स्पष्ट हो जाता है कि वह अभिप्रेत अर्थ के बोधक पदसमूह को वाक्य मानता है।[2] इस निष्कर्ष को प्राप्त करने में भी थोड़ी सावधानी अपेक्षित है क्योंकि 'पदसमूह' रूप द्वितीय अंश वाक्य-परिभाषा का अपरिहार्य अंग नहीं है। पदसमूह के अर्थ में 'एक पद' का भी प्रयोग कर लिया जाता है। उस दशा में अकेला पद भी वाक्य कहला सकता है।[3] उदाहरणार्थ दूर से सम्बोधन करने में 'आगच्छ देवदत्त3' का प्रयोग न करके केवल देवदत्त का प्रयोग करें तो भी 'आगच्छ' आदि गम्यमान क्रिया का बोध होगा ही और इस स्थिति में पाणिनीय नियम (दूराद्धूते च-अष्टा० 8.2.84) वाक्यार्थ में पर्यवसित 'देवदत्त' पद को एकपदात्मक 'वाक्य' मानकर 'टि'[2] को प्लुत कर देगा।

उक्त संरचनात्मक कारणों से पाणिनि ने 'वाक्य' को लौकिक मान्यता पर

1. सामन्त्रितम् (अष्टा० 2.3.48) सम्बोधन प्रथमान्त 'आमन्त्रित' होता है।
2. काशिका (अष्टा० 8.1.8) 'एकार्थः पदसमूहो वाक्यम्'
3. वाक्य० का० 2 (कारिका 326) 'वाक्यं तदपि मन्यन्ते यत्पदं चरितक्रियम्' का अर्थ अन्तर्भूत क्रिया अथवा गम्यमान क्रिया वाला पद है।
4. पाणिनि ने 'टि' संज्ञा विवेचनाधीन शब्द के 'अन्त्याच्पूर्व' भाग की बताई है; तथापि अकेले अन्त्याच् को भी व्यपदेशिवद् रीति से टि' माना जाता है। यह भी स्पष्ट रहे कि ह्रस्वदीर्घप्लुत स्वर के धर्म हैं न कि 'टि' समुदाय के। अतः तपस्विन् आदि सम्बोधन में 'टि' के प्लुत भाग का अर्थ अन्त्य अच् को ही प्लुत करना है। देखिए 'अचश्च' (अष्टा० 1.2.28)

छोड़ दिया। ऐसा करने से उसके शास्त्रीय विवेचन में कोई बाधा नहीं आती।

3.2. वाक्य की कतिपय परिभाषाएं तथा पाणिनीय दृष्टि

यहां वाक्य की कुछ परिभाषाएं प्रस्तुत की जाती हैं ताकि उनके सन्दर्भ में पाणिनि के दृष्टिकोण को समझा जा सके—

1. आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम ।[1]
2. सक्रियाविशेषणं च ।[2]
3. एकतिङ् वाक्यम् ।[3]
4. अर्थैक्यादेकं वाक्यं साकाक्षं चेद् विभागे स्यात् ।[4]
5. सुप्तिङन्तचयो वाक्यम् क्रिया वा कारकान्विता ।[5]
6. साकांक्षावयवं भेदे परानाकांक्षशब्दकम् ।[6]
   क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमुच्यते ।

उक्त परिभाषाओं में प्रथम, द्वितीय और तृतीय परिभाषाएं वार्तिककार कात्यायनकृत हैं। इसमें विशेष बल 'आख्यात' अर्थात् तिङन्त क्रिया पर दिया गया है। कात्यायन वाक्य में तिङन्त क्रिया को अत्यावश्यक मानता है। अन्य तीनों परिभाषाओं का सार वाक्य में क्रियार्थ की प्रधानता होने में है। क्रिया-पद आख्यात है या कृदन्त, अथवा आख्यात एक है या अनेक, इसका महत्त्व नहीं है महत्त्व इसका है कि वाक्य की पूर्णता किसी क्रिया के अर्थ में आकर हो। कात्यायन की परिभाषाएं एकदेशीय हैं। क्योंकि उनका उद्देश्य 'युष्मद्' 'अस्मद्' को होने वाले अनुदात्त 'वाम्' 'नौ' 'वस्' 'नस्' 'ते' 'मे' आदेशों के बारे में 'समान वाक्यता' की अनिवार्यता लगानाहै। तदनुकूल ही उसने 'ऐकतिङ्, वाक्यम्' परिभाषा दी है।

लगता है, कात्यायन के युग में उक्त आदेश समुच्चित वाक्यों में न होकर केवल 'एकतिङ्, वाक्यम'[7] में ही होते थे। यही नहीं, वह इन्हें अन्वादेश में अनिवार्य (नित्य) अन्यथा विकल्प से मानता है। पाणिनि ने इन आदेशों के बारे में केवल इतना सूचित किया है कि ये वाक्यारम्भ में नहीं होते। इनका पद से परे होना आवश्यक है तथा ये 'अनुदात्त' होते हैं। साथ ही श्लोकादि के पाद के आरम्भ में नहीं आते। अन्य तीनों परिभाषाएं वाक्य का व्यावहारिक पक्ष रखती हैं। उनके

---

1. महा० अ० 2 पा० 1 आ० 1 वा० 1199
2. वही, वा० 1200
3. महा० अ० 2 पा० 1 आ० 1, वा० 1201
4. जै० सू० 2.1.46
5. अमर कोष—का० 1, वर्ग-शब्दादि, श्लोक 2
6. यह कारिका नागेश ने 'एकतिङ् वाक्यम' वार्तिक की व्याख्या करते हुए उद्धृत की है।
7. महा० अ० 2 पा० 1 आ० 1 वा० 1202 : "समानवाक्ये निपात युष्मदष्मदादेशाः।"

साथ कात्यायन की परिभाषा की भांति पदप्रयोग का नियमन करने की कोई व्याकरणिक धारणा नहीं है। पाणिनि का इनमें से किसी परिभाषा से विरोध नहीं है। उसने तो स्वयं तिङतिङः[1] (अष्टा॰ 8. 1. 28) सूत्र द्वारा 'पचति भवति'[2] जैसे लौकिक वाक्यों को जिनमें दो तिङ् हैं स्वीकार लिया है।

3.3. अष्टाध्यायी के सूत्रसाक्ष्य द्वारा वाक्य प्रतिरूपों के वर्गीकरण की तीन दिशाएं[3] हो सकती हैं :

1. संघटक पदों के आधार पर वाक्य का रूप,
2. वक्ता की मनोगत दशा के सूचक पदों के द्वित्वभाव, प्लुतभाव, उदात्तीकरण आदि पर आधारित वाक्य का रूप,
3. वाक्यात्मक अर्थसंधारणा[4] का अग्रिम रूपग्रामीय स्तर पर होने वाले प्रतिनिधान के आधार पर वाक्य का रूप।

प्रथम कोटि के अन्तर्गत वाक्य के निम्नरूप हो सकते हैं—

(क) सुबंत और तिङन्त का अन्वित समूह[5] : जैसे—देवदत्तः ग्राम गच्छति।

(ख) तिङन्त और तिङन्त का अन्वित समूह[6] : जैसे—पचति भवति।

(ग) सुबन्त और सुबन्त का अन्वित समूह[7] : जैसे—तेन शयितव्यम्।

---

1. यह सूत्र अतिङन्त पद से आगे तिङन्त को अनुदात्त करता है। स्पष्ट है कि अतिङन्त उल्लेख से वाक्य में तिङन्त से परे तिङन्त की स्थिति भी प्रकट होती है, जहां अनुदात्त नहीं होता।
2. नागेश, उद्योत (महा॰ अ॰ 2 पा॰ 1 आ॰ 1) 'एकतिङ् वाक्यम्' वार्तिक के अंतर्गत—'परे त्वाख्यातं सविशेषणं वाक्यम् इति लक्षणम् तिङतिङः इति सूत्रे तिङ्ग्रहणं कुर्वतः सूत्रकारस्याभिमतम् लौकिकमेव पचति भवतीत्येतत्साधारणम्।'
3. वि॰ नि॰ मिश्र, The Descriptive Technique of Panini, p. 114 : The classification of sentence in Panini's grammar is based on : (i) Situations in terms of certain boundary markers (ii) Grammatical combinations in terms of components, and (iii) Representation at the morphemic level.
4. अर्थ-संधारणा स्फोट-रूप में बौद्ध अस्तित्व रखती है, उसका ही प्रतिनिधान ध्वन्यात्मक-स्तर पर वाक्य अथवा रूपग्रामों से होता है।
5. क्रिया के साथ सुबन्त का अन्वय बताना ही 'कारके' (अष्टा॰ 1.4.23) प्रकरण का विषय हैं।
6. तिङतिङः (अष्टा॰ 8.1.28) अतिङन्त से परे तिङ् के निपात का नियम करता है। सूत्रकार का अतिङन्तप्रतिषेध तिङन्त से परे तिङन्त के प्रयोग का परिचायक है।
7. तेन प्रोक्तम् (अष्टा॰ 4.3.101) आदि सूत्र ऐसे वाक्यों के प्रतिरूप हैं।

(घ) सुप्तिङन्त और तिङन्त का अन्वित समूह[1] : जैसे—पश्य मृगो धावति।

(ङ) केवल सुबन्त या केवल तिङन्त पद रूप साकाङ्क्ष वाक्य[2] : जैसे—गेह्‌म, गच्छ आदि।

द्वितीय कोटि के वाक्यप्रतिरूपों को निम्नलिखित तालिका द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—

वाक्य का प्रतिरूप	अष्टाध्यायी-सूत्र-संदर्भ		वाक्यगत वैशिष्ट्य
1. असूया	'वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासंमति-कोपकुत्सनभर्त्सने	(8.1.8)	वाक्य के आदि आमन्त्रित (सम्बोधन) को द्वित्व
2. संमति	"	"	"
3. कोप	"	"	"
4. कुत्सन	"	"	"
5. भर्त्सन	"	"	"
6. आभीक्ष्ण्य	'तिङो गोत्रादीनि कुत्सनाभीक्ष्ण्ययोः'	(8.1.27)	तिङन्त से परे गोत्रादि को अनुदात्त।
7. प्रत्यारम्भ	'नह प्रत्यारम्भे'	(8.1.31)	तिङन्त अनुदात्त नहीं।
8. प्रश्न	'सत्यं प्रश्ने'	(8.1.32)	"
9. अप्रातिलोम्य	'अङ्गाप्रातिलोम्ये'	(8.1.33)	"
10. परीप्सा	'पुरा च परीप्सायाम्'	(8.1.42)	विकल्प से तिङन्त अनुदात्त नहीं।
11. अनुज्ञेषणा (अनुमति चाहना)	'नन्वित्यनुज्ञैषणायाम्'	(8.1.43)	तिङन्त अनुदात्त नहीं।
12. क्रियाप्रश्न	'किं क्रियाप्रश्नेऽनुपसर्गमप्रतिषिद्धम्'	(8.1.44)	'किम् द्वारा क्रिया सम्बन्धी प्रश्न होने पर तिङन्त अनुदात्त नहीं।
13. प्रहास	'एहिमन्ये प्रहासे लृट्'	(8.1.46)	तिङन्त अनुदात्त नहीं।
14. प्रत्यभिवाद	'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे'	(8.2.83)	वाक्य की 'टि' को प्लुत और उदात्त।

1. 'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च' (अष्टा० 1.4.106) प्रहास सन्दर्भ में मन्यति उपपद रहते धातु से मध्यम पुरुष करता है, साथ ही 'मन्य' से उत्तम पुरुष और एकवचन करता है। दोनों क्रियाओं में एकवाक्यता बिना किये 'प्रहास' प्रतीत नही होगा।

2. युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः (अष्टा० 1.4.105) युष्मत् के प्रयोग और अप्रयोग दोनों में मध्यमपुरुष की यह विधि प्रमाण है कि एकतिङ् भी वाक्य होता है। यह स्थिति सुबन्त की भी मानी जा सकती है।

15. दूरात् सम्बो-धन या आह्वान्	'दूराद्धूते च'	(8 2.84)	"
16. अभ्यादान (आरम्भ)	'ओमभ्यादाने'	(8.2.87)	'ओम्' को प्लुत उदात्त ।
17. पृष्टप्रतिवचन	'विभाषा पृष्टप्रति-वचने हेः'	(8.2.93)	'हि' को प्लुत उदात्त ।
18. निगृह्यानु-योग	'निगृह्यानुयोगे च	(8.2.94)	'टि' को प्लुत उदात्त ।
19. विचार्यमाण	'विचार्यमाणानाम्'	(8.2.97)	"
20. प्रतिश्रवण	'प्रतिश्रवणे च'	(8.2.98)	"
21. प्रश्नान्त	'अनुदात्तं प्रश्नाताभि-पूजितयोः'	(8.2.100)	"
22. अभिपूजित	"	"	"
23. क्षिया (निन्दा)	'क्षियाशीः प्रेषेषु तिङाकाङ्क्षम्'	(8.2.104)	वाक्य की 'टि' को प्लुत स्वरित ।
24. आशीः	"	"	"
25. प्रेषा	"	"	"

तृतीय कोटि के वाक्य प्रतिरूप भी प्रायः द्वितीय कोटि के अन्तर्गत तालिका-बद्ध किये गये वाक्य-प्रतिरूपों के सदृश ही हैं। अन्तर केवल पाणिनि द्वारा उन्हें पृथक् पृथक् 'स्तर' पर प्रस्तुत करने का है। द्वितीय कोटि में जिन 'प्लुतभाव' तथा 'द्वित्व' आदि की चर्चा की गई है वे वस्तुतः ऐसे रूपध्वनिग्रामीय प्रतिनिधान हैं जिनके द्वारा वाक्यात्मक-रूपग्राम ऐसे ध्वनि वैशिष्ट्य (ध्वनिग्रामीय परिवर्तन) पाता है जो उसे कुत्सनादि अर्थों का प्रतिनिधान करने के योग्य बनाते हैं। ऐसा ही प्रतिनिधानमूलक वर्गीकरण तृतीय कोटि के वाक्यों का समझना चाहिए। यहां द्वितीय वर्ग से इतनी विशेषता है कि वहां शास्त्रकार ने निष्पन्न हुए वाक्य[1] या निष्पन्न हुए तद्घटक पद[2] को कुत्सन आदि अर्थों का प्रतिनिति माना है जबकि यहाँ प्रक्रिया-व्यवस्था में रूपग्रामीय उपादान रूप से गृहीत प्रत्ययों[3] को उन-उन अर्थधारणाओं का प्रतिनिधि मानकर संरचना-विश्लेषण किया है। इस वर्ग के वाक्यों को तीन उपवर्गों में समझा जा सकता है :

1. अर्थमूलक वर्ग : वाक्यों के वे प्रतिरूप जिनकी, विधि-आमन्त्रण, आज्ञा

1. वाकस्य टेः प्लुत उदात्तः (अष्टा० 8.2.82)
2. वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासंमतिकोप कुत्सनेषु (अष्टा० 8.1.8)
3. लिङाशिषि (अष्टा० 3.4.11) आशीः का लिङ् से प्रतिनिधान है।

आदि अर्थात्मक संधारणाओं को लकारादि प्रत्ययों द्वारा प्रतिनिहित बताया गया है, इन्हें विधिवाक्य, आमन्त्रणवाक्य आदि रूपों में विभक्त किया जा सकता है।[1]

2· वाच्यमूलक-वर्ग : लकारस्थानिक तिङ् प्रत्ययों तथा कृत्प्रत्ययो के द्वारा वाच्य 'कर्तृकर्म-भाव' के भेद से तीन भेद होते हैं : (क) कर्तृवाच्य, (ख) कर्म-वाच्य, (ग) भाववाच्य।[2]

3. कालमूलक-वर्ग : 'लकार' आदि द्वारा प्रतिनिधीयमान काल-भेदों पर आधारित वाक्यभेद के ये रूप हैं—

(क) **भूतकाल** : (1) सामान्य भूत[3]
(2) अनद्यतन भूत[4]
(3) परोक्ष भूत[5]

(ख) **वर्तमान** : (1) वर्तमान[6]

(ग) **भविष्यत्** : (1) सामान्य भविष्यत्[7]
(2) अनद्यतन भविष्यत्[8]

3.4. पाणिनि शास्त्र में 'पद' का स्वरूप

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वाक्य में प्रयोगार्ह[9] है सम्बन्धतत्त्व से युक्त शब्दरूप पद कहा जाता है। पदनिष्ठ यह सम्बन्धतत्त्व किसी प्रत्ययविशेष से द्योतित होता है अथवा शब्द के प्रयोग स्थान से (जैसा कि चीनी भाषा में) यह बात पृथक् है।

निरुक्तकार यास्क ने पद के चार[10] वर्ग माने हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग

---

1 ऐसे वाक्यों का प्रतिरूप अष्टाध्यायी में प्रधानरूप से तृतीय अध्याय के तीन पादों के सूत्र में मिलता है। वैसे शास्त्रकार ने जहां कहीं भी अर्थ-वैशिष्ट्य की दृष्टि से कोई संरचना बताई है वहां ही एक वाक्यात्मक प्रतिरूप सूचित होता है।

2. लः कर्मणि च भावेचाकर्मकेभ्यः (अष्टा० 3.4.69); कर्तरि कृत् (अष्टा० 3.4.67); तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (3.4.70)

3 लुङ् (अष्टा० 3.2.110)

4. अनद्यतने लङ् (अष्टा० 3.2.111)

5. परोक्षे लिट् (अष्टा० 3.2.115)

6. वर्तमाने लट् (अष्टा० 3 2.123)

7. लृट् शेषे च (अष्टा० 3.3.13)

8. अनद्यतने लुट् (अष्टा० 3.3.15)

9. डा० भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान कोश, पृ० 548 'वाक्य में प्रयोग के योग्य रूप ही पद या रूप कहलाता है।'

10. निरुक्त अ० 1 पा० 1
चत्वारि पदजाजानि—नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च।

और निपात ।

पाणिनि ने सुप्तिङन्तम् पदम् (अष्टा० 1. 4. 14) द्वारा 'सुबन्त' और 'तिङन्त' को पद कहा है। वस्तुतः पाणिनि की पदपरिभाषा का भाषावैज्ञानिक परिभाषा से कोई मौलिक विरोध नहीं है। पाणिनिकृत परिभाषा की एक ही विशेषता है कि वह संरचनात्मक तकनीकी शब्दों से की गई है। उसका 'प्रयोगार्ह 'पद' वही होगा जिसमें उसकी संरचना-विधा से सुबन्तता और तिङन्तता हो जाय अर्थात् वह एक समुच्चित इकाई है। यास्क के नाम, उपसर्ग और निपातों को सुबन्त पद में समाहित करके उसने सुबन्त और तिङन्त दो ही वर्ग किए हैं।

पाणिनि की पदपरिभाषा को उसके शास्त्र की परिधि में ही जाना जा सकता है। उसके शास्त्र में ही प्रातिपादिक शब्दों से 'सु' 'औ' 'जस्' आदि प्रत्यय जिन्हें सांकेतिक 'सुप्' नाम मिला है, विहित हुए हैं; वैसे ही धातु शब्दों से तिप् तस् झि आदि 'तिङ' विहित हुए हैं। अतः तदन्त शब्दों को सुबन्त और तिङन्त नाम दिया गया है। वास्तव में यह पद की परिभाषा कम, अपितु संरचनात्मक वैशिष्ट्य के आधार पर रूप वर्गों[1] का द्विधा विभाजन अधिक है।

पाणिनि ने, जिसके शास्त्र में प्रत्येक संज्ञा शब्द-संरचना के नियमों में संक्षिप्तता और एकरूपता लाने की दृष्टि से परिभाषित हुई है, पदसंज्ञा की विषयता सुबन्त और तिङन्त से बढ़ाकर प्रातिपदिक मात्र तक पहुँचा दी है। ऐसा उसने पदसंज्ञामूलक व्याकरणिक नियमों को मात्र प्रातिपादिक पर लागू करने की दृष्टि से किया है। ऐसे पद को 'कृत्रिमपद' कहा जा सकता है क्योंकि वास्तविक पद तो वाक्य में प्रयोगार्ह सुबन्त और तिङन्त शब्द ही होता है। अष्टाध्यायी में इस प्रकार के कृत्रिम 'पद' के निम्न सन्दर्भ हैं—

1. क्यच्, क्यङ्, क्यष् प्रत्ययों के परे होने पर नकारान्त शब्द 'पद' संज्ञा पाता है।[2]
2. सित् प्रत्यय परे होने हर पूर्ववर्ती प्रातिपादिक 'पद' संज्ञा पाता है।[3]
3. सु और अस्, अम्, ओट् (सुट्) इन सर्वनाम प्रत्ययों को तथा यजादि को छोड़ अन्य प्रातिपादिक विहित सभी प्रत्ययों के परे रहते पूर्व प्रातिपादिक 'पद' संज्ञा पाता है।[4]

उक्त स्थलों में पाणिनि के पदत्व पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि

1. Charles F. Hockett : A Course in Modern Linguistics, p. 162. "A class of forms which have similar privileges of occurrence in building larger forms is a form-class."
2. नः क्ये (अष्टा० 1.4.15)
3. सिति च (अष्टा० 1.4.19)
4. स्वादिष्वसर्वनाम स्थाने (अष्टा० 1.4.17)

यह पदत्व वाक्य में शब्द की प्रयोगार्हता नहीं, अपितु संरचना-नियमों की एकरूपता और संक्षितता का निर्वाह करने के लिए मात्र प्रातिपादिक में आरोपित पदधर्म है।[1]

3.5. प्रकृति का स्वरूप

पाणिनि ने प्रकृति शब्द का अनेकत्र प्रयोग तो किया है परन्तु इसकी परिभाषा नहीं की है। पाणिनीय सूत्रों में प्रकृति शब्द का प्रयोग मूल कारण[2] तथा स्वभाव[3] (मूल रूप) के अर्थ में हुआ है। इस अर्थ में प्रकृति-शब्द का प्रयोग निरुक्त[4] और प्रातिशाख्यों[5] में भी हुआ मिलता है।

लगता है, व्याकरण जगत् में 'प्रकृति' शब्द सांख्य दर्शन से लिया गया है। सांख्य के अनुसार 'प्रकृति' को सारे महदादि सृष्टि के विस्तार का मूल कारण माना गया है साथ ही, प्रकृति स्वयं किसी की विकृति नहीं है अर्थात् वह किसी कारण से उत्पन्न नहीं है। व्याकरण शास्त्र में मूल भी धातु और मूल प्रातिपादिक जिनसे तत्तद् अर्थप्रत्यायक प्रत्यय-तत्वों की संसृष्टि होती है, प्रकृति नाम से पुकारे जाते हैं।

व्याकरण की उक्त 'प्रकृति' के सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि वह एक सापेक्ष स्थिति का प्रातिनिधित्व करती है, जिस प्रकार सांख्य में 'महत्' 'अहम्' तथा पंच-तन्मात्राओं को एकादशेन्द्रिय और पंचस्थूलभूतों की प्रकृति तथा प्रधान (अव्यक्त) को विकृति माना गया है[6] उसी प्रकार व्याकरण में मूलधातु से व्युत्पन्न, तथा मूलप्रातिपदिक से व्युत्पन्न द्वितीय स्तर के धातु और प्रातिपदिकों को प्रकृति-विकृति स्थिति में आ जाते हैं। कारण स्पष्ट है, मूल प्रकृति और प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न शब्द भी प्रत्यय-योग पाकर अन्य शब्दों का व्युत्पादन करते हैं। इस प्रकार वे मूलप्रकृति की अपेक्षा विकृति (व्युत्पन्न) तथा व्युत्पाद्य शब्द की अपेक्षा प्रकृति होते हैं। पाणिनीय रीति से मूल प्रकृति तथा व्युत्पन्न प्रकृति के निम्न लिखित रूप हैं—

---

1. वि० नि० मिश्र, The Descriptive Technique of Panini, p. 117 : "Panini's word as a syntactic unit is different from the 'word' of the popular usage : it is, 'infra-word' and 'supra-word' fused into one."
2. जनिकर्तुः प्रकृतिः (अष्टा० 1.4.30)—यहाँ 'प्रकृति' का अर्थ मूल कारण है।
3. प्रकृत्यैकाच् (अष्टा० 6.4.163)—यहाँ 'प्रकृति' का अर्थ शब्द का मूल रूप है।
4. निरुक्त—2.2
5. सामतन्त्र, 11.5 66
6. सांख्यकारिका, का० 3.22

(1) मूल प्रकृति

क. मूलधातु, भू आदि।
ख. मूल प्रातिपदिक : अव्युत्पन्न डित्थ, उच्चैः आदि।

(2) व्युत्पन्न प्रकृति

क. व्युत्पन्न धातु; सनाद्यन्त,
ख. व्युत्पन्न प्रातिपदिक; पाचक आदि।
व्युत्पन्न प्रातिपदिक प्रकृति के निम्न तीन वर्ग हैं :
क. कृदन्त प्रातिपदिक, जैसे—कारक आदि,
ख. तद्धितान्त प्रातिपदिक, जैसे —गार्ग्य आदि,
ग. समास प्रातिपदिक, जैसे—अधिहरि, राजपुरुष आदि।

3.6. प्रत्यय

पाणिनि ने 'प्रत्यय' संज्ञा को अन्वर्थ मानकर[1] अथवा स्वसामयिक वैयाकरण जगत् में उसकी प्रतीत पदार्थकता को देखते हुए उसकी परिभाषा देना सम्भवतः आवश्यक न समझा। उसने 'प्रत्ययाः'(अष्टा० 3.1.1)द्वारा प्रत्यय संज्ञा का अधिकार किया है जो 'परश्च' (अष्टा० 3.1.2.) परिभाषा के सहयोग से धात्वादि प्रकृति से पर में विहित रूपग्राम को सूचित करता है। प्रत्यय के साथ परत्व का नियम लगाकर पाणिनि ने इसका क्षेत्र प्रातिशाख्यों के प्रत्यय की अपेक्षा सीमित कर दिया। प्राप्तिशाख्यों में इस शब्द का प्रयोग परवर्ती, पूर्ववर्ती, अन्तर्वर्ती सभी विकारों तथा आगामों के अर्थ में हुआ है।[2] अष्टाध्यायी में इस व्यापक अर्थ में 'प्रत्यय' का प्रयोग केवल 'अणुदित सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (अष्टा० 1.1.69) में हुआ है। अस्तु, पाणिनीय रीति से प्रत्यय संज्ञा 'प्रत्ययः' (अष्टा० 3.1.1) अधिकार के अन्तर्गत प्रकृति के आगे लगने वाले रूपग्रामों पर लागू होती है। केवल 'बहुच्' और 'अकच्' दो ही प्रत्यय परनियम के अपवाद हैं। जो क्रमशः प्रकृति के पूर्व[3] तथा अव्यय और सर्वनाम की (टि) से पूर्व होते हैं।[4]

3.7. प्रकृति और अङ्ग

पाणिनि ने प्रत्यय की अपेक्षा प्रकृति की सापेक्ष स्थिति को ध्यान में रखकर

---

1. महा० द्वितीय भाग, पृ० 7; 'यः स्वमर्थं प्रत्याययति सः प्रत्ययः।'
2. Kshitish Chandra Chatterji, Technical Terms and Techuique of Sanskrit Grammar, p. 91 ff.
3. विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु (अष्टा० 5.3.68)
4. अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः (अष्टा० 5.3.61)

उसे संचरनात्मक संज्ञा नहीं बनाया। उसकी संरचना-प्रक्रिया जब वृत्तगतिक होती है तो एक ही प्रकृति के आगे अनेक प्रत्ययों का समुदाय मिल जाता है। उस समय अंगांगिभाव पर आधारित संरचनात्मक उपादानों में जो परिवर्तन होते हैं वे प्रकृति, मध्यरूपग्राम तथा चरम-रूपग्राम सभी में होते हैं। ये सभी परिवर्तन एक साथ नहीं बताये जा सकते, अपितु जिस क्रम से ये उपादान जुटते हैं उसी क्रम से उनके परिवर्तनों का क्रम-वर्णन होता है। प्रकृति और प्रत्ययमाला की सभी कड़ियां 'अव्यवहित घटक'[1] के सिद्धान्त से संरचनात्मक लघुविराम होती हैं। इस स्थिति को उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है—

'भू' धातु से वर्तमान काल में लट् स्थानिक तिङ् के मध्य में शप (अ) भी होता है। भू-अ-ति इस दिशा में जो संरचनात्मक परिवर्तन होते हैं उन्हें 'प्रकृति' की अपेक्षा से बता पाना कठिन है, क्योंकि 'ति' और शप् दोनों की दृष्टि से भू प्रकृति है। पाणिनि 'अव्यवहित घटक' सिद्धान्त की दृष्टि से इस शृंखला में एक व्यवधान स्वीकृत करके संरचनात्मक परिवर्तन का उल्लेख करता है। वह अव्यवहित प्रत्यय की अपेक्षा से तदादि (प्रत्यय पूर्ववर्ती) भाग को उस प्रत्यय के परे रहते 'अङ्ग'[2] नाम प्रदान करता है। इस उपाय से 'शप्' की अपेक्षा 'भू' शब्द अंग होता है और 'ति' की अपेक्षा 'भू+अ'—इतना शब्दभाग अंङ्ग बन जाता है। इस स्थिति में पाणिनि को संरचनात्मक परिवर्तनों का 'अव्यवहित घटक' सिद्धान्त के वर्णन करने की सुविधा हो जाती है और वह 'शप्' की अपेक्षा 'भू' को गुणादि कार्य करने में सफल होता है। प्रकृति की 'अंङ्ग' संज्ञा द्वारा यदि अवान्तर 'अव्यवहित घटकता' कल्पित न की जाय और 'ति' को भी परघटक की दृष्टि से से ग्रहण किया जाय तो उसके ही बनाये नियम—'भूसुवोस्तिङि' (अष्टा० 7.3.88) के अनुसार गुण होना असम्भव हो जायगा। साथ ही यदि 'ति' की अपेक्षा 'भू+अ' को 'अंग' न माना जाय तो भवामि आदि में 'अतोदीर्घोयञि' (अष्टा० 7.3.101) से दीर्घ न हो सकेगा।

1. A. E. Darbyshire, Exercises in Linguistics, p. 43 : "These parts are called by the general name of Immediate Constituents, usually abbreviated to Ics. Linguistics have also invented a method of analysing structures to display what is called linear and hierarchical arrangements of any utteraneces in the language. This appratus, which is absurdly simple to operate, merely split utterances successively into their Ics in ranks, making one split per rank in any structure, starting with the larger ones and working down through the smaller to the smallest."
2. यस्मात् प्रत्ययविधितदादिप्रत्ययेऽङ्गम् (अष्टा० 1.3.13)

3.8. प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन : अखण्ड वाक् का खण्डशः प्रकल्पन

भारतीय शाब्दिकों ने भाषा को अखण्ड इकाई के रूप में लिया है। भाषा की अखण्ड वाक्यस्फोट इकाई की अन्तःसंरचना में निहित योजना का अन्वाख्यान करने के लिए साधन रूप में प्रकृति-प्रत्यय तथा उनके भी वर्णनात्मक अवयवों का कृत्रिम विभाजन किया गया है। व्याकरण की इस विधा को सायण ने इन शब्दों में सूचित किया है 'तामखण्डां वाचं विच्छिद्य मध्ये प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्'[1] पाणिनीय विधा इस दिशा में किया गया एक अद्भुत भाषावैज्ञानिक प्रयोग है।[2]

3.9. प्रकृति-प्रत्यय का सहार्थवाचकत्व

वाक्य में प्रयोगार्ह 'पद' की सुबन्त और तिङन्त के रूप में परिभाषा पाणिनीय शास्त्र के पद और प्रकृति के सहार्थवाचकत्व के सिद्धान्त की सूचक है।[3] इस सिद्धान्त के अधीन ही पाणिनीय शास्त्र द्वारा एकादिसंख्याओं से वचनसूचक विभक्तियों का तथा अव्ययों से भी औत्सर्गिक 'सुप्' का विधान होता है। जब कि अर्थबोधक तत्त्व की दृष्टि से व्यवहारतः वहाँ प्रत्यय तत्त्व की कोई उपयोगिता नहीं है।

3.10 पाणिनिकृत प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन

सुबन्त और तिङन्त नाम से पदों का द्विधा विभाजन करके पाणिनि ने सहज ही प्रकृति का द्विधा वर्गीकरण कर दिया है—सुप् को अन्त में रखने वाली प्रकृति तथा तिङ् को अन्त में रखने वाली प्रकृति। अष्टाध्यायी में इन्हें क्रमशः 'प्रातिपदिक' और 'धातु' नाम दिया गया है। धातु और प्रातिपदिक प्रकृति तथा तद् विहित प्रत्ययों का वर्गीकृत रूप तालिका (9.18) द्वारा प्रस्तुत है। इस विवेचन

---

1. सायण, ऋग्भाष्य उपोद्घात, पृ० 26
2. V. N. Misra, The Descriptive Technique of Panini, p. 109 : "To conclude the technique of Paninian description is an achievement.

   As it presents a mathematical model of linguistic description in a frame work which is one whole and unless one goes through the entire grammar one can not generate or analyse a commuicable unit of utterance, dealing with finite groups of linguistic items which are 'discontinuous'."
3. महा० अ० 2 पा० 3 आ० 1 (अनयिहिते) : "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः।"

का उद्देश्य तो पाणिनि के प्रकृति-प्रत्यय विभाजन की रूपरेखा को, जो कि उसके संरचनात्मक विश्लेषण का महत्त्वपूर्ण अंग है, स्पष्ट करना है ।

प्रातिपदिक प्रकृति के दो वर्ग

(1) धातु और प्रत्यय को छोड़कर कोई भी अर्थवान् शब्द प्रातिपदिक होता है ।[1] ऐसे शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक होते हैं क्योंकि इन्हें प्रकृति और प्रत्यय के रूप में विघटित नहीं किया जा सकता ।

(2) 'कृदन्त', 'तद्धितान्त' और 'समास' शब्द प्रातिपदिक होते हैं ।[2] इन्हें व्युत्पन्न प्रादिपदिक कहा जाता है क्योंकि इन्हें व्याकरणिक रीति से प्रकृति-प्रत्यय आदि संरचना इकाइयों में विघटित किया जा सकता है ।

प्रातिपदिक के अवान्तर्वर्ग

उक्त दोनों प्रकार की प्रातिपदिक प्रकृति को निम्न उपवर्गों में विभक्त किया है—

(1) श्रुत-विभक्तिक प्रातिपदिक; पाचकः आदि

(2) शून्यविभक्तिकप्रातिपदिक[3]; गन्तुम् आदि ।

उक्त दोनों वर्गों को सामान्य अभिधारणा से क्रमशः 'अनव्यय' तथा 'अव्यय' कहा जाता है । अव्यय प्रातिपदिक के दो वर्ग हैं—निपात तथा निपातेतर ।

प्रातिपदिक-विहित प्रत्ययों का वर्गीकरण

प्रातिपदिक विहित प्रत्ययों को अष्टाध्यायी-योजना से निम्न वर्गों में रखा जा सकता है :

(1) प्रातिपदिक को पदत्व प्रदान करने वाले 'सुप्' प्रत्यय,

(2) स्त्रीत्वबोधक प्रत्यय,

(3) तत्तद् अर्थ में विहित 'तद्धित' प्रत्यय,

(4) स्वार्थ-बोधक और 'समासान्त'[4] प्रत्यय ।

धातु-प्रकृति के भेद

पाणिनि की योजना के अनुसार 'धातु' प्रकृति के भी 'प्रातिपादिक' की भांति

---

1. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (अष्टा० 1.2.45)
2. कृत्तद्धितसमासाश्च (अष्टा० 1.2.46)
3. स्वरादिनिपातमव्ययम् (अष्टा० 1.1.37)
4. समासान्ताः (अष्टा० 5.4.68)

दो वर्ग हैं—

(1) मूलधातु

(2) व्युत्पन्न धातु

मूलधातुओं के धातु तथा काल-सूचक 'तिङ' के मध्य पड़ने वाले 'शप्' आदि 'विकरण'[1] प्रत्ययों के भेद से दश समुच्चय (गण) किए गए हैं :

क. भ्वादिगण—शप् (3.1.86)
ख. अदादिगण— लुक् (2.4.72)
ग. जुहोत्यादिगण—श्लु (2.4.57)
घ. दिवादिगण—श्यन् (3.1.69)
ङ. स्वादिगण—श्नु (3.1.73)
च. तुदादिगण—श (3.1.77)
छ. रुधादिगण—श्नम् (3.1.78)
ज. तनादिगण—उ (3.1.79)
झ. क्रयादिगण—श्ना (3.1.81)
ञ. चुरादिगण—णिच् (3.1.25)

व्युत्पन्न धातु के उनके व्युत्पादक प्रत्ययों के आधार पर ग्यारह[2] वर्ग हैं—

क. सन्नन्त—अष्टा० (3.1.5)
ख. क्यजन्त—अष्टा० (3.1.8) इत्यादि
ग. काम्यजन्त—अष्टा० (3.1.9)
घ. क्यङन्त—अष्टा० (3.1.11) आदि
ङ. क्यषन्त—अष्टा० (3.1.13)
च. णिजन्त—अष्टा० (3.1.21) आदि
छ. यङन्त—अष्टा० (3.1. 22) आदि
ज. यगन्त—अष्टा० (3.1.27)

---

1. Kshitish Chandra Chatterji, Technical Terms and Technique of Sanskrit Grammar, p. 136 : "In philology the Vikaranas are known as root determinatives."

2. गुप्तिज्किद्भ्यः सन् (अष्टा० 3.1.5) से लेकर 'कर्मणिङ (3.1.30) तक पाणिनि ने ग्यारह धातु-व्युत्पादक सनादि प्रत्ययों को पढ़ा है। इनकी संख्या ग्यारह होती है। पश्चात् वार्तिककार ने इसी क्रममें 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः आचारे क्विब्वावक्तव्यः वार्तिक से 'क्विप्' और जोड़ दिया। इस प्रकार सनादि की संख्या बारह हो गयी। देखिये 'सनाद्यन्ताधातवः' सूत्र पर 'तत्वबोधिनी'

सन्क्यच्क्यङ्क्यषोऽथाचार क्विद् णिज्यङौ तथा।
यगाय ईयङ्णिङ् चेति द्वादशामी सनादयः॥

झ. आयन्त—अष्टा० (3.1.28)
ञ. ईयङन्त—अष्टा० (3.1.29)
ट. णिङन्त—अष्टा० (3.1.30)

धातु-विहित प्रत्ययों का वर्गीकरण—

1. धातु-व्युत्पादक प्रत्यय, जैसे —सनादि।
2. धातु प्रकृति विस्तारक स्वार्थ प्रत्यय णिच्, णिङ् आदि।[1]
3. कालादि-सूचक प्रत्यय—'लकार' और 'तिङ्' प्रत्यय (देखिए तालिका 6.6)
4. धातु तथा सार्वधातुक प्रत्ययों के मध्य-पाती विकरण (Empty morpheme) जैसे—'शप्' आदि।
5. धातु से नाम व्युत्पादक प्रत्यय कृत और तदन्तर्भूत कृत्य प्रत्यय।

3.11. पाणिनि प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन की कतिपय विशेषताएं

1. पाणिनि ने एक अर्थग्राम सूचित करने को एक ही रूपग्राम[2] को प्रतिनिधि चुना है।
2. उसने प्रकृति और प्रत्यय दोनों का सहार्थ-वाचकत्व[3] माना है।
3. पदत्वनिष्पादन में एकरूपता के लिए पाणिनि से शून्यरूप-ग्राम[4] की कल्पना की है।
4. संरचनात्मक प्रक्रिया के लिए अर्थहीन रूपग्राम या स्वार्थ प्रत्यय (Empty morpheme) की कल्पना की है।
5. जिन रूपग्रामों से विरोधी प्रवृत्ति[5] के अर्थग्राम घोषित करने हैं उनकी स्थिति को सर्वथा स्पष्ट रखा है।
6. शब्दों की व्यापक अर्थ-वृत्तियों का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन करके उन्हें

---

1. ऐसे प्रत्ययों को भाषाविज्ञान की दृष्टि से स्वार्थ-प्रत्यय या रिक्त रूपग्राम (Empty Morpheme) कहना उचित है।
2. 'अनभिहिते' (अष्टा० 2.3.1) सूत्र में पाणिनि का यही आशय है कि जो अर्थ (कर्मत्वादि) अन्य तिङ् कृत्, तद्धित, समास आदि से सूचित हो जाये उसे सूचित करने को कारक विभक्तियाँ नहीं होतीं।
3. पद की परिभाषा में सुबन्तता और तिङन्तता की शर्त इसका प्रमाण है।
4. 'अव्ययादाप् सुपः' (अष्टा० 2.4.82) सुप् विभक्ति की लुक् अर्थात् शून्य रूपग्राम में में बदलता है।
5. 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' अष्टा० (3.4.69) सूत्र कर्तृवाच्य लकार और कर्मवाच्य लकार की प्रवृत्ति का स्पष्ट भेद किया गया है।

प्रत्ययभेद से सर्वथा स्पष्ट किया है। तद्धित-प्रत्ययों के अन्तर्गत शब्द की अर्थ-वृत्तियों का व्यापक रूप प्रस्तुत किया है और उनके प्रतिनिधान करने वाले रूपग्रामों की स्थति का स्पष्ट विश्लेषण हुआ है।

7. प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन सुनियोजित संरचनात्मक विधा के अनुसार हुआ है ताकि शब्द-रचना की प्रक्रिया में विशिष्ट वर्ग के विशिष्ट रूप की निष्पत्ति के क्षण आवश्यक सभी उपादान निर्विरोध मिल सकें।

3.12. प्रकृति प्रत्यय अवयवरूप वर्णों का विभाजन

वस्तुदृष्टि से भाषा-संरचना की सभी वाक्य, पद आदि इकाइयों में वर्ण ही वह उपादान है जो शब्द का मूर्तरूप अभिव्यक्त करता है। संरचनात्मक स्तरों पर प्रकृति प्रत्यादि में जो भी व्याकरणिक लोप, आगम, वर्णविकार, बताए जाते हैं उनका प्रतिफलन अन्ततः वर्णध्वनियों के रूप में होता है। अतः शास्त्रकार को संरचनात्मक सुविधा की दृष्टि से वर्णध्वनियों के भी वर्ग बनाने होते हैं जिनके द्वारा वह समान वर्ग की वर्ण-ध्वनियों के द्वारा समान कार्य और असमान वर्ग की वर्ण-ध्वनियों द्वारा असमान कार्य का निर्देश करता है। पाणिनि ने संरचनात्मक उपयोग की दृष्टि से वर्णों का न केवल उच्चारण-स्थान, प्रयत्न तथा उदात्तादि वर्ण धर्मों द्वारा वर्गीकरण किया है अपितु एक विशेष बीजगणितीय पद्धति से उनके समुच्चय तथा उपसमुच्चय बनाने हैं। वर्ण विभाजन की पाणिनीय योजना का पूर्ण परिचय चतुर्दश सूत्री के अन्तर्गत चतुर्थ अध्याय में दिया जाएगा।

3.13. निष्कर्ष

1. पाणिनि के अन्वाख्यान की मुख्य इकाई वाक्य हैं।
2. उसका सूत्रशास्त्र लक्षणशास्त्र है अतः उसमें लक्ष्य या प्रयोगों के उदाहरण नहीं दिये गये हैं। तथापि सूत्रकार के व्यवहार से वाक्य और पदों की रूपरेखा समझी जा सकती है।
3. विवेचनाधीन-भाषा का प्रकृति-प्रत्यय तथा वर्णों में विभाजन शास्त्रकार ने बहुत ही सुनयोजित रूप से किया है ताकि संरचनात्मक प्रक्रिया को निश्चित स्तरों और निश्चित उपादानों द्वारा सुस्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया जा सके।
4. वाक्य का पदों में, पदों का प्रकृति-प्रत्ययों में, तथा उनका भी वर्णों में विभाजन भाषाविज्ञान के 'अव्यवहित घटक' सिद्धान्त के अनुकूल है।

अध्याय 4

अष्टाध्यायी की प्रकरण-योजना

4.1. अष्टाध्यायी के सूत्रों की प्रकरण-योजना का विवेचन करने से पूर्व अष्टाध्यायी के परिशिष्टों का परिचय देना आवश्यक है। भारतीय शाब्दिक-परम्परा व्याकरण-तन्त्र की पूर्णता के लिए उसका पांच अंगों से सम्पन्न होना आवश्यक मानती है। व्याकरण-शास्त्र के ये पांच अंग हैं—(1) सूत्रपाठ; (2) धातुपाठ; (3) गणपाठ; (4) उणादिपाठ; तथा (5) लिंगानुशासन। इनमें सूत्र-पाठ तो शास्त्र का मुख्य भाग है, शेष उसके परिशिष्ट या 'खिल' ग्रन्थ कहे जा सकते हैं।

4.2. पाणिनीय अष्टाध्यायी के परिशिष्ट रूप में आज ये रचनाएं जोड़ी जा चुकी हैं —(1) धातुपाठ, (2) गणपाठ, (3) उणादिपाठ, (4) फिट्सूत्र-पाठ, (5) लिंगानुशासन, (6) पाणिनीय शिक्षा। ये सभी रचनाएं निश्चित रूप से किसी न किसी अंश में 'अष्टाध्यायी' की पूरक हैं। परन्तु इनमें से धातु-पाठ तथा गणपाठ और पाणिनीय शिक्षा को छोड़कर किसी को भी पाणिनीय नहीं माना जा सकता। उणादि-सूत्र जो आज अपने पंचपादी तथा दशपादी रूप में उपलब्ध है उसे भारतीय शाब्दिक परम्परा शाकटायन[1] के नाम से जोड़ती है। पाणिनि ने 'उणादयो बहुलम्' तथा 'ताभ्यामन्यत्रोणादयः' सूत्रों से उणादि की सत्ता को सूत्र-शास्त्र नहीं, अपितु कतिपय प्रत्यय-विशेषों की सूची के रूप में स्वीकारा है तथा इस आधार पर जिन उणादि प्रत्ययों में अनुबन्ध-मूलक कार्यों का

1. श्री हरि अनन्त शास्त्री फड़के, 'उणादि-सूत्राणि पाणिनिश्च' (गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ 289) "(क) पाणिनिना कानिचित् रचितानि परन्त्वेतत्करणं सर्वथाशक्यमिति बहुलग्रहणं कृत्वा विषयेऽत्र लोकाश्रयत्वालम्बनं सूचितम्। (ख) न पाणिनेरनन्तरजातेन द्वितीयशाकटायनेन यास्क-वार्तिककार-भाष्यकारेभ्यः पूर्वजातेन च बहुलग्रहणमन्यसंङ्ग्राहकं मत्वा कानिचित् सूत्राणि कृत्वा पाणिन्युणादि सूत्रेषु योजितानि।"

पाणिनीय सूत्र-शास्त्र से विरोध नहीं उन्हें इस सूची में सहज ही लिया जा सकता है।

फिट्-सूत्रों के रचयिता कोई 'शान्तनव' आचार्य हैं। पाणिनि फिट्-सूत्रों तथा उनके रचयिता से कोई परिचय सूचित नहीं करता। एक-दो प्रत्याहार-संज्ञाओं तथा प्राचीन शब्द-शास्त्रीय फिट्, सिट् आदि अपाणिनीय संज्ञाओं का प्रयोग इन सूत्रों को स्वयं अपाणिनीय बताता है। लिंगानुशासन को पाणिनीय रचना कहना पाणिनि का हो विरोध करना है—पाणिनि लिंग तथा वचन को लोक-सिद्ध मान करके उसके अनुशासन के विरुद्ध[1] है।

जहां तक पाणिनीय शिक्षा का सम्बन्ध है वह लिंगानुशासन आदि की अपेक्षा 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों की दृष्टि से अधिक उपादेय है, क्योंकि शास्त्रकार के द्वारा विहित 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (1.1.9) आदि से विहित संज्ञा-बोध के लिए वर्णों के स्थान-प्रयत्न आदि का सही ज्ञान नितान्त अपेक्षित है, परन्तु ध्वनि-विज्ञान-संबंधी यह कार्य पाणिनि से पूर्व ही प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में सम्पन्न हो चुका था। वैयाकरण पाणिनि ने ही प्राचीन उपलब्धियों का उपयोग करते हुए अपनी शिक्षा-रचना अवश्य की होगी। यह मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती।

धातु-पाठ और गण-पाठ अष्टाध्यायी की सूत्र रचना के लिए उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने प्रत्याहार-सूत्र। पाणिनि ने जिस प्रकार अपने सूत्र-शास्त्र में धातुओं और प्रातिपदिकों के वर्ग और उपवर्गों का ग्रहण करके नियम बनाए हैं, उनके आधार पर इन दोनों के पाणिनि-कृत[2] होने में सन्देह नहीं रहता।

4.3. चतुर्दश माहेश्वर-सूत्र अथवा प्रत्याहार-सूत्र

पाणिनीय सूत्र-शास्त्र की महत्त्वपूर्ण आधार-भूमि निम्नलिखित प्रत्याहार-सूत्र हैं, जो अष्टा० के अविभाज्य अंग हैं। अ इ उ ण् 1. ऋ लृक् 2. ए ओङ् 3. ऐ औच् 4. हयवरट् 5. लण् 6. ञ म ङ ण न म् 7. झ भ ञ् 8. घढ धष् 9. जब गड दश् 10. खफ छठथ चटतव् 11. कप्य् 12. शषसर् 13. हल् 14.

उक्त चतुर्दश सूत्रों को भारत का वैयाकरण-जगत् सूत्रकार पाणिनि को महेश्वर (शिव) की कृपा से उपलब्ध मानता रहा है। इस विश्वास के पीछे

1. तदशिष्यं संज्ञा प्रमाणत्वात् (अष्टा० 1.2.53)
इसी सम्बन्ध में देखिए भाष्यकार,
'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य' (महा० स्त्रियाम् 4.1.3)
2. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 6, पृ० 218 (अष्टा० 1.1.34) : "अवरादीनां च पुनः सूत्रपाठे ग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्? 'गणेपठितत्वात्' गणे ह्येतानि पठ्यन्ते।"

भारत की आस्तिक विचारधारा में शिव को विद्या का प्रदाता मानना तो कारण है ही, साथ ही विशेष क्रम में उपदिष्ट इस चतुर्दश-सूत्र का पाणिनीय सूत्र-शास्त्र में चमत्कारपूर्ण उपयोग भी इसकी दैवी उत्पत्ति की धारणा का हेतु लगता है।

पाणिनि के व्याख्याकारों में वार्तिककार कात्यायन चतुर्दश-सूत्री को पाणिनि-कृत मानकर ही उनकी समालोचना करता है। उसने चतुर्दश-सूत्री के निम्न-लिखित उद्देश्य निर्णीत किये हैं :

1. चतुर्दश-सूत्री में अकारादि वर्णों का क्रम-विशेष में उपदेश पाणिनीय सूत्र-शास्त्र की प्रत्याहार मूलक-प्रवृत्ति[1] के लिए है।
2. विवेचनाधीन भाषा में प्रयुक्त इष्ट-वर्णों के ज्ञान के लिए यह वर्णोपदेश है।
3. इस प्रकार क्रम-विशेष में सूत्रात्मक उपदेश के बिना 'णकार' आदि अनुबन्धों का लगा पाना सम्भव न था। अनुबन्धों के बिना अभीष्ट वर्णों के बोधक 'अण्' आदि प्रत्याहार नहीं बन सकते थे और उनके अभाव में 'वृद्धिरादैच्' (1.1.1), 'अदेङ्गुणः' (1.1.2) आदि प्रत्याहार-मूलक सूत्रों की रचना असम्भव थी।

4.4. चतुर्दश-सूत्री से प्रत्याहार-बोध

पाणिनि के 'हलन्त्यम्' सूत्र के अनुसार 'अ इ उ ण्' आदि सूत्रों का अन्तिम हल्वर्ण 'इत्' कहा जाता है। 'इत्' के साथ पूर्व सूत्रों में आए हुए अथवा उसी सूत्र के किसी वर्ण को आदि में जोड़ने से जो अण्, अक् आदि समुदाय बनते हैं वे आदि वर्ण से लेकर 'इत्' के पूर्व तक आए हुए सभी वर्णों का बोध[2] कराते हैं। इन समुच्चय-संज्ञाओं (प्रत्याहारों) में 'इत्' का ग्रहण नहीं होता है।[3] इस प्रकार बननेवाले पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रत्याहार इकतालीस हैं, जिन्हें तालिका द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. कात्यायन, वार्तिक 16 (महा० अ० 1 पा० 1 आ० 1, पृ० 59) : "वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः।"
2. 'आदिरन्त्येन सहेता' (अष्टा० 1.1.71)
3. सि० कौ०, पृ० 4 : प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणम्।

प्रत्याहार-तालिका

एकस्मान् ङ्ञणवटाः द्वाभ्यां षस्त्रिभ्य एव कणमाः स्युः ।
ज्ञेयो चयो चतुर्भ्यो रः पञ्चभ्यः शलो षड्भ्यः ।।काशिका।।

कुल संख्या-41

अन्त्य इत्	ण्	क्	ङ्	च्	ट्	ण्	म्	ञ्	ष्	श्	व्	य्	र्	ल्
आदि वर्ण	1	3	1	4	1	3	3	1	2	6	1	4	5	6
अ-8	अण्	अक्		अच्	अट्	अण्	अम्			अश्				अल्
इ-3		इक्		इच्		इण्								
उ-1		उक्												
ए-2			एङ्	एच्										
ऐ-1				ऐच्										
ह-2										हश्				हल्
य-5						यण्	यम्	यञ्				यय्	यर्	
व-2										वश्				वल्
र-1														रल्
म-1												मय्		
ङ-1							ङम्							
झ-5									झण्	झश्		झय्	झर्	झल्
भ-1									भष्					
ज-1										जश्				
ब-1										बश्				
ख-2												खय्	खर्	
छ-1											छव्			
च-1													चर्	
श-2													शर्	शल्

4.5. पाणिनीय दृष्टि से वर्णों का यत्न-मूलक वर्गीकरण

अष्टाध्यायी-सूत्रों में पाणिनि ने सामान्यतः वर्णों प्रत्याहारों के द्वारा ही कार्य-निर्देश किए हैं। अतः ऊपरी तौर पर लगता है जैसे कि सूत्रकार को ध्वनिधर्मों पर आधारित वर्णों के वर्गों से कोई प्रयोजन ही न हो। यथार्थ स्थिति

इसके विपरीत है। प्रत्याहार तो केवल संरचनात्मक दृष्टि से वर्णों के वर्ग (Sets) तथा उपवर्ग (Subsets) बनाने की एक विधा है। वर्ण ध्वनियों का पारस्परिक प्रतिनिधान (परिवर्तन) तो तद्गत ध्वनिधर्मों के साम्य या असाम्य से ही निर्णीत होता है। इस सन्दर्भ में पाणिनि के दो सूत्र 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (अष्टा० 1.1.9) तथा 'स्थानेऽन्तरतमः' (अष्टा० 1.1.50) विचारणीय हैं। ये दोनों सूत्र इस बात का स्पष्ट संकेत करते हैं कि अष्टाध्यायी के परिशिष्ट-रूप में सूत्रकार ने अवश्य कोई ऐसी रचना की होगी जो वर्णों का ध्वनि-वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत करती हो। पाणिनीय-शिक्षा के नाम से उपलब्ध रचना उसका ही प्रतिनिधित्व करती है।[1] पाणिनीय रीति से वर्णों के उच्चारण-स्थान, आभ्यन्तर-प्रयत्न तथा बाह्य-प्रयत्न पर आधारित वर्णों के वर्गीकरण को तालिकाबद्ध किया जा रहा है :

आभ्यन्तर-प्रयत्न तथा उच्चारण स्थान पर आधारित वर्गीकरण

आभ्यन्तर प्रयत्न नाम	ईषद् विवृत	स्पृष्ट	ईषत्स्पृष्ट	विवृत	
वर्ग	स्वर	स्पर्श	अन्तःस्थ	ऊष्म	
उच्चारण-स्थान					वर्ग
कण्ठ	अ	क् ख् ग् घ् ङ्		ह् :	कण्ठ्य
तालु	इ	च् छ् ज् झ् ञ्	य्	श्	तालव्य
मूर्धा	ऋ	ट् ठ् ड् ढ् ण्	र्	ष्	मूर्धन्य
दन्त	लृ	त् थ् द् ध् न्	ल्	स्	दन्त्य
ओष्ठ	उ	प् फ् ब् भ् म् ⌣प्	—		ओष्ठ्य
कण्ठतालु	ए, ऐ	—	—	—	कण्ठतालव्य
कण्ठोष्ठ	ओ, औ	—	—	—	कण्ठोष्ठ्य
दन्तोष्ठ	—	—	व्	—	दन्तोष्ठ्य
जिह्वामूल	—	⌣क्	—	—	जिह्वामूलीय
नासिका	ं				अनुस्वार

1. पा० शिक्षा, श्लोक 1 : 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।'

घोषादि बाह्य प्रयत्न-मूलक वर्गीकरण[1]

वर्णों के वर्ग	अघोष अल्पप्राण	अघोष महाप्राण	घोष अल्पप्राण	घोष महाप्राण	घोष-अनुनासिक अल्पप्राण
कवर्ग	क्	ख्	ग्	घ्	ङ्
चवर्ग	च्	छ्	ज्	झ्	ञ्
टवर्ग	ट्	ठ्	ड्	ढ्	ण्
तवर्ग	त्	थ्	द्	ध्	न्
पवर्ग	प्	फ्	ब्	भ्	म
अन्तःस्थ[2]	—	—	य्, व्, र्, ल्		
स्वर			अ, इ, उ, ऋ लृ, ए, ओ, ऐ, औ,		
ऊष्म	—	श्, ष्, स् ह्, :,	—	—	—

4.6. चतुर्दशसूत्री के वर्गोद्देश पर भाषावैज्ञानिक दृष्टि

उच्चारण-स्थान[3] और तद्गत प्रयत्न (आभ्यन्तर) का साम्य तो वर्णों के सवर्ण-वर्ग बनाता ही है, परन्तु इससे भी बढ़कर वर्णध्वनिगत घोष-अघोष आदि धर्म[4] हैं जो 'सवर्ण' समुच्चय में भी असमान और 'असवर्ण' समुच्चय में भी समान वर्णों के समुच्चय बना देते हैं। अतः घोषादि धर्मों को वर्ण-ध्वनियों की वह असाधारण विशेषता मानना होगा, जिसके आधार पर सवर्ण ध्वनियां भी एक-

1. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 4, पृ० 153 : "तत्र वर्णानां प्रथमद्वितीया विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः। एके अल्पप्राणा, अपरे महाप्राणाः। तृतीयचतुर्थाः संवृतकण्ठा नादानुप्रदानाः घोषवन्तः। एके अल्पप्राणा अपरे महाप्राणाः। यथा तृतीयास्तथा पञ्चमा आनुनासिक्यवर्ज्यम्। आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः।
2. महाभाष्य में घोष-अघोष आदि का परिचय वर्ग्य वर्णों के बारे में ही है, तथापि प्रातिशाख्य और शिक्षा-ग्रन्थों के आधार पर उक्त विभाजन सभी वर्णध्वनियों का है। वास्तव में वर्गगत सवर्ण वर्णों में भेदक-तत्त्व के रूप में बाह्यप्रयत्न बताना भाष्य का लक्ष्य है।
3. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 4, पृ० 153 (अष्टा० 1.1.9) : "आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते सवर्णसंज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम्।"
4. वही : पतंजलि ने 'घोष' आदि को बाह्य-प्रयत्न कहा है। इन्हें इस रूप में गिनाया है : "विवारसंवारौ, श्वासनादौ, घोषवदघोषता, अल्पप्राणतामहाप्राणता चेति।"

दूसरे से पृथक् अस्तित्व का बोध कराती हैं। 'क्' से भिन्न 'ख्' ध्वनि के अस्तित्व में 'तद्गतम' महाप्राणत्व ही प्रमाण है, 'ग्' का 'क्', 'ख्' ध्वनियों से पृथक् बोध उसके घोषत्व के कारण है, अन्यथा उच्चारण-स्थान और तद्गत प्रयत्न के समान होने से बिना किसी भेदक धर्म के उसे ध्वन्यन्तर कैसे कहा जायेगा ? थोड़ा सूक्ष्मता से विचार करें तो स्थिति का स्पष्ट चित्र सामने आ जायेगा। ज्ञानात्मक अव्यक्त स्फोट इच्छा (विवक्षा) शक्ति से प्राण-वायु में स्पन्द पैदा करता है और उसके द्वारा कण्ठताल्वादि से अभिघातित होकर घोषत्वादि धर्मों से संवलित वर्णध्वनि के रूप में अभिव्यक्त होता है।[1] पदात्मक अथवा वाक्यात्मक अभिव्यक्ति के क्षण यही स्फोट अभिव्यंजक ध्वनियों के सुविधाजनक पौर्वापर्य का अभिलषुक होता है। ध्वनियों के पौर्वापर्य में सौविध्य का आशय पूर्व और पर ध्वनियों के घोषादि धर्मों का सामंजस्य बैठाना ही है। इस प्रक्रिया में कहीं घोष-ध्वनि अघोष ध्वनि का और कहीं अघोष ध्वनि घोष ध्वनि का स्थान लेती है। ऐसा ही प्रभाव ध्वनिगत महाप्राणता और अल्पप्राणता का होता है। घोष आदि ध्वनि-धर्मों का अध्ययन हमें वर्णध्वनियों के मध्य एक दूसरे के प्रभाव से होने वाले परिवर्तनों को समझने में सहायक होगा। साथ ही इनके आधार पर वर्णों के वर्गीकरण की दिशा भी निर्धारित की जा सकती है।

4.7. कतिपय ध्वनि-नियम

हम यहां भाषाविज्ञान के विद्वानों द्वारा अध्ययन किए गए कुछ ध्वनि-नियम प्रस्तुत करके विषय को और अधिक तथ्यात्मक बनाना चाहेंगे—

(1) **ग्रिम नियम**[2]—जर्मन भाषा के पण्डित याकोब ग्रिम ने मूल भारोपीय भाषा के स्पर्श-वर्णों के जर्मन-भाषा में परिवर्तित रूप की तुलना करके कुछ ध्वनि-नियम खोजे, जो इस प्रकार हैं—

(क) भारोपीय मूल भाषा के घोष महाप्राण स्पर्श घ्, ध्, भ् जर्मन भाषा में घोष अल्पप्राण ग, द, ब हो गए।

(ख) भारोपीय मूल भाषा के घोष अल्पप्राण ग्, द्, व, जर्मन भाषा में अघोष अल्पप्राण क्, त्, प् हो गए।

(ग) भारोपीय मूल भाषा के अघोष अल्पप्राण क्, त्, प् जर्मन भाषा में संघर्षी

---

1. पाणिनीय शिक्षा, श्लोक 6.9 :

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयेत तेषां विभागः पञ्चधास्मृतः ॥"

2. भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान, पृ० 411

अघोष ख्, थ्, फ् हो गए ।

ग्रिम के ध्वनि-नियम भारोपीय परिवार की भाषाओं के विविधकालिक रूपों के तुलनात्मक अध्ययन का परिणाम है । इनके आधार पर ध्वनियों के परिवर्तन के कुछ सामान्य नियम[1] प्राप्त होते हैं, जो इस प्रकार होंगे—

(1) घोष महाप्राण ध्वनियों का स्थान घोष अल्पप्राण लेती हैं ।

(2) घोष अल्पप्राण ध्वनियों का स्थान अघोष अल्पप्राण लेती हैं ।

(3) अघोष अल्पप्राण ध्वनियों का स्थान संघर्षी अघोष महाप्राण लेती हैं ।

ग्रिम का तीसरा ध्वनि-नियम सर्वथा निरपवाद[2] नहीं रहा। उसके अनेक अपवाद ग्रिम को स्वयं मिले थे, परन्तु ग्रैसमन ने इस समस्या का वैज्ञानिक उत्तर खोज लिया—

(2) **ग्रैसमन नियम**[3]—भारोपीय मूल भाषा में यदि शब्द और धातु के आदि और अन्त दोनों स्थानों पर एक साथ महाप्राण हो तो संस्कृत, ग्रीक आदि में एक अल्पप्राण हो जाता है। संस्कृत धातुओं में महाप्राण 'अभ्यास' इसी नियम के अनुसार अल्पप्राण रूप पाता है, जैसे 'भृ' 'बभार' आदि

ग्रैसमन के नियम के भी कुछ अपवाद प्राप्त हुए जिनका 'वर्नर' ने अपने बलाघात-नियम से समाधान किया—

(3) **वर्नर का बलाघात नियम**[4]—वर्नर का निष्कर्ष था कि ध्वनि परिवर्तन पर बलाघात का प्रभाव होता है। उसके मत से मूल भाषा के क्, त्, प् के पूर्व यदि बलाघात हो तो ग्रिम-नियम वाला परिवर्तन अर्थात् संघर्षी अघोष महाप्राण होता है। यदि बलाघात क्, त्, प् के बाद वाले स्तर पर हो तो ग्रैसमन-नियम लागू होता है अर्थात् घोष अल्पप्राण होता है। संस्कृत भाषा का एक ही शब्द दोनों प्रवृत्तियों का उदाहरण है—

प्राङ्क् + षष्ठः = प्राङ्ख्ष्ठः (अघोष महाप्राण)

= प्राङ्ख्ष्ठः (अघोष अल्पमहाप्राण)

(4) **कालित्ज का तालव्य नियम**[5]—इस नियम के अनुसार भारोपीय

---

1. इन नियमों की तुलना को क्रमशः देखिए—
   (1) 'झलां जश् झशि' (अष्टा० 8.4.53) तथा 'झलां जशोऽन्ते' (अष्टा० 8.2.39)
   (2) 'अभ्यासे चर्च' (अष्टा० 8.4.54) ।
   इसी सूत्र पर ग्रिम नियम से पूरा तालमेल बैठाने वाली भट्टोजि दीक्षित की टिप्पणी देखिए; झशां जशः, खयां चर इति विवेकः सि० कौ० पृ०, 396
2. भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान. पृ० 413
3. वही
4. वही, पृ० 414
5. वही, पृ० 415

परिवार की मूलभाषा की कण्ठ्य (कवर्गीय) ध्वनियां संस्कृत, ग्रीक आदि में तालव्य ध्वनियों में बदल गयीं। संस्कृत में यह प्रवृत्ति 'करोति' के चक्रे[1] आदि रूपों से स्पष्ट है।

4.8. पाश्चात्य विद्वानों ने भिन्न-भिन्न भाषा के शब्द-रूपों का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन करके 'ध्वनि नियमों' की जिन उक्त दिशाओं का निर्धारण किया है वे हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाती हैं कि भाषा के रूप परिवर्तन तथा रूप-विकल्प आदि का अध्ययन करने को उसकी ध्वनियों का घोषादि ध्वनियों के आधार पर वर्गीकरण स्पष्ट रहना चाहिए। वही वर्गीकरण सर्वोत्तम समझा जा सकता है जो वर्ण-ध्वनियों को अधिक से अधिक ऐसे समुच्चयों में प्रस्तुत कर सके जो परिवर्त्यमान वर्णों का तथा परिवर्तक वर्णों का निःसंदिग्ध एवं आशुबोध करा सके।

4.9. इस दृष्टि से जब हम पाणिनि चतुर्दश-सूत्री पर दृष्टि डालते हैं तो उनके वर्णोपदेश की यह योजना स्पष्टतः सामने आती है—

(1) वर्णों के घोष और अघोष दो वर्ग[2] हैं। प्रथम सूत्र से दशम पर्यन्त घोष-वर्ण तथा एकादश से त्रयोदश पर्यन्त अघोष है। इनमें कोई साङ्कर्य नहीं है।

(2) घोष-वर्णों के स्वर तथा व्यंजन वर्ग पृथक्-पृथक् हैं। प्रथम सूत्र से चतुर्थ तक स्वर तथा पंचम से दशम तक घोष व्यंजन हैं।

(3) घोष महाप्राण तथा घोष अल्पप्राण (अनुनासिक भिन्न) वर्ग पृथक् हैं।

(4) घोष अल्पप्राण अनुनासिक एक पृथक् सूत्र में हैं।

(5) अघोष महाप्राण तथा अघोष अल्पप्राण पृथक् वर्ग हैं।

(6) अ, इ, उ, मूलस्वर[3] तथा उनके मिश्रित रूप ए, ओ उचित क्रम से हैं। साथ ही उनसे आगे ऐ, औ भी।

(7) इ, उ, ऋ, लृ तथा अर्द्ध-स्वर य्, व्, र्, ल् समानान्तर वर्ग हैं।

4.10. ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे पाणिनीय चतुर्दश-सूत्री का आंशिक स्वरूप ही समझा गया है। हमें यह नहीं भूलना है कि पाणिनि की व्याकरण-योजना का लक्ष्य विवेचनाधीन भाषा के मात्र प्रयुज्यमान शब्दों को चुन-चुनकर किन्हीं दो-दो के समभिव्याहार में उसकी आद्यन्त-ध्वनियों के

---

1. 'कुहोश्चु' : (अष्टा० 7.4.62)
2. वर्ग को यहां सूत्र रूप में नहीं अपितु एक क्रम में समझना है।
3. इन स्वरों को मूलस्वर व्यवहार अष्टा०, वार्तिक तथा भाष्य के सिद्धान्त से किया है। इस सम्बन्ध में भारत-यूरोपीय परिवार की भाषा-ध्वनियों के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष कुछ अन्यथा है। देखिए—डा० भोलाशंकर व्यास, संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृ० 48, तथा टी० बरो, दि संस्कृत लेंग्वेज, (हिन्दी अनुवाद), पृ० 122-36.

पारस्परिक प्रभावों की व्याख्या कर देना नहीं है, और न ही दो-चार भाषाओं के सजातीय शब्द-कुल को संकलित करके उनके ध्वनि-परिवर्तन की तुलनात्मक दिशाएं बताना है। पाणिनि का व्याकरण संरचनात्मक भाषाविज्ञान है ? इसके अन्तर्गत उसे वाक्य का पदों में, पदों का प्रकृति-प्रत्यय में तथा उन दोनों का भी वर्णों में कल्पित विखण्डन करके पुनः उनके संयोजन में अन्तर्निहित सामान्य-विशेष प्रवृत्तियों का विवरण देना है। इस सारी प्रक्रिया में संरचना के तत्तत् स्तर पर होने वाले ध्वनि परिवर्तनों, जो लोप, आगम, विकार नाना रूपों में होते हैं, का पूर्ण विश्लेषण उक्त प्रकार के चन्द सामान्य ध्वनि-नियमों से सम्भव नहीं। इसका यह आशय नहीं कि पाणिनीय प्रक्रिया इनको मूल्यहीन मानती है। ये वैज्ञानिक नियम तो उसके प्राणप्रद हैं किन्तु पाणिनि को विवेचनाधीन भाषा का सूक्ष्मातिसूक्ष्म संरचनात्मक रूप विवृत करने को इन सामान्य ध्वनि-नियमों की व्याप्ति में रहने वाले (जबकि कोई अपवाद न हो) विशेष नियमों का उल्लेख करना होता है।

4.11. प्रत्याहार तथा उपप्रत्याहार

उक्त उद्देश्य की सिद्धि 'घोष-अघोष' और 'महाप्राण-अल्पप्राण' रूप से वर्णों के सामान्य विभाजन तथा उनके पारस्परिक पौर्वापर्य में होने वाले सामान्य नियम से नहीं होती। इसके लिए घोष-अघोष आदि सामान्य वर्णकुल का विशेष वर्ण-समुच्चयों में विभाजन करना होता है। एक ही समुच्चय के वर्ण या वर्णों को संरचनात्मक दृष्टि से अलग-अलग उपसमुच्चयों में संगृहीत करना होता है और किसी में वर्जित। अर्थात् समवेत (Inclusive) और अपेत (Exclusive) समुच्चय (Sets) बनाने होते हैं। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं, अ, इ, उ, ऋ, ऌ पांच वर्ण हैं। किसी शब्द के अंत में स्थित ये वर्ण जब अपने आगे स्वसवर्णादि शब्द पाते हैं तो सवर्ण के साथ मिलकर अपनी 'दीर्घ-सवर्ण-ध्वनि' को स्थान देते हैं। यह समान ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्ति इन पांचों का एक समुच्चय बना देती है। परन्तु इन्हीं में चार केवल इ, उ, ऋ, ऌ ऐसे हैं जो असवर्ण स्वर परे होने पर क्रमशः य्, व्, र्, ल् को स्थान देते हैं। 'अ' के साथ इनका यह प्रवृत्ति-भेद उसे इनके समुच्चय से उक्त विशेष सन्दर्भ में वर्जित करा देता है। अतः पाणिनीय रीति से 'अक्' प्रत्याहार 'अ' की दृष्टि से 'समवेत' समुच्चय है तथा 'इक्' प्रत्याहार 'अपेत' समुच्चय है। इसी प्रकार पूरे 'अक्' आदि समुच्चयों के भी अधिसमुच्चय और उपसमुच्चय होते हैं। पाणिनि ने ऐसे ही व्याप्य-व्यापक वर्ण-समुदाय अर्थात् वर्णों के अधिसमुच्चय और उपसमुच्चय बनाने की योजना से घोष और अघोष; स्वर, हल्; तथा अल्पप्राण-महाप्राण वर्ण-समूह का भी सूत्रात्मक विभाजन कर डाला। यह विभाजन उसकी संरचनात्मक प्रक्रिया का सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण अंग है। अतः शास्त्र के संरचनात्मक ढांचे में जिस वर्णध्वनि को जिस समुच्चय में आवश्यक समझा तदनुसार ही चतुर्दश-सूत्री में स्थान दे दिया। इस कृत्रिम बीजगणितीय-विभाजन से स्वरों को, अर्द्धस्वरों को, घोष-अघोष समुच्चयों तथा तदन्तर्गत अल्पप्राण और महाप्राण समुच्चयों के वर्णों को पृथक्-पृथक् सूत्र में डाल दिया; प्रत्येक सूत्र का सीमा-संकेत एक हल् वर्ण जोड़ दिया। चतुर्दश-सूत्री द्वारा किए गए इस कृत्रिम विभाजन से वर्णों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का कोई दूषण नहीं हुआ, अपितु भाषा का संरचनात्मक विश्लेषण करने में ध्वनि-नियमों पर आधारित सामान्य-विभाजन को बीजगणितीय योजना से असामान्य उपलब्धि की ओर बढ़ा दिया।

4.12. इसी सातत्य में हम यह भी स्पष्ट करना चाहेंगे कि जिन ग्रिम आदि के 'ध्वनि-नियम' केवल जर्मन भाषा के सन्दर्भ में भारोपीय परिवार की मूलभाषा की वर्ण ध्वनियों में भिन्न-भिन्न सोपानों में होने वाले (कारण चाहे जातिमिश्रण हो या भौगोलिक) घोष, अघोष आदि धर्मों के घटन-विघटन से परिवर्तित रूपरेखा को समझाते हैं। इनसे यह निष्कर्ष प्राप्त करना है कि 'घोष' का स्थान 'अघोष' तो ले सकता है 'अघोष' वर्ण का स्थान 'घोष' नहीं ले सकता,[1] युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। जिन कारणों से आदिम 'घोष' ध्वनियां 'अघोष' ध्वनियों को स्थान दे गईं उनके विपरीत कारण 'अघोष' को 'घोष' भी कर सकते हैं। उदाहरण के लिए 'वाक्+ईशः' को मिलाने पर अघोष 'क' के स्थान में घोष 'ग' हो जाता है।

4.13. वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के विश्लेषण का मूलबिन्दु समकालिक भाषा होती है। वह वर्तमान के वाक्य-पद तथा ध्वनि-रूपों को आधारभूत उपादान बनाता है। भाषा के अतीत रूप से वर्तमान रूप को जोड़ने के लिए वह अतीत रूपों में जहां अन्तर पाता है, वहीं उन्हें वर्तमान-कालिक उपादानों का परिवर्तित रूप घोषित करता है। बहुत सामान्य-सी बात है, यदि वैदिक भाषा के रूप को समझाने को यह कहा जाय कि वेद में 'हन्' को 'घन्' होता है तो इसका यह आशय तो नहीं हो सकता कि आज का 'हन्' रूप दो सहस्र वर्ष पूर्व के 'घन्' में रूपान्तरित होने जा रहा है। इस कथन का सीधा एक ही अर्थ है कि वैदिक युग में धातु 'हन्' नहीं 'घन्' थी। पाणिनि 'एकाचो बशोभष् झषन्तस्य स्ध्वोः' (अष्टा० 8.2.37) बश् का भष् रूप में परिणाम नहीं बताता अपितु यह कि कुछ ऐसे शब्द रूप हैं, जहां बश्घटित रूप न होकर भष्घटित रूप मिलते हैं। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान समकालिक भाषासंरचना के झरोखे से उसके अतीत रूप को केवल झांक सकता है, उसका पूर्ण विवरण नहीं देता। यह उसका लक्ष्य

1. डा०, धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री—'संस्कृत शिक्षण की नवीन योजना' पृ० 194

भी नहीं होता। अतीत की भाषा-सामग्री को चुनकर यदि उसे ही विश्लेषण का उपादान बनाया जाय तो वैसा भी सम्भव है। तब उसकी तुलना में उत्तर काल के भाषा-रूप को झांकना होगा। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन निश्चित ही कुछ नवीन वैज्ञानिक आयाम खोल देता है।

4.14. चतुर्दशसूत्री पर लगे प्रश्न-चिह्न तथा समाधान

(1) कात्यायन के आक्षेप तथा उनका समाधान

वार्तिककार कात्यायन को साधारणतः पाणिनीय सूत्रशास्त्र का कटु आलोचक माना जाता है। किन्तु यथार्थता यह है कि उसके द्वारा की गई 'आक्षेप-समाधान' शैली की समीक्षा ने पाणिनीय सूत्रों की अनेक गम्भीर समस्याओं को उभारा तथा पाणिनीय सीमाओं में उनके समाधान की यथासम्भव दिशाएं खोजी हैं। यह बात दूसरी है कि कहीं-कहीं पाणिनीय न्यूनताओं का समाधान करने के प्रयत्नातिशय में वह बहक जाय, तथा एक विशेष शैली में रचे गये सूत्रशास्त्र के समीक्षक के रूप को भुलाकर विकल्प रूप से अन्य शैली प्रस्तुत करने का अभिनय कर बैठें और बदले मे पतञ्जलि जैसे तटस्थ व्यक्ति से उसे यह चेतावनी दी जाय 'सिध्यत्येवं, अपाणिनीयं तु भवति'[1]। कात्यायन के आक्षेप तथा उनके समाधान निम्न रूप में हैं—

(क) **आक्षेप**—परम्परागत वर्ण-माला के विपरीत यह वर्णोपदेश विशेष आनुपूर्वी से क्यों किया गया ?

समाधान—पाणिनि अपने संरचनात्मक सूत्र-शास्त्र के लिए वर्णों का समुच्चयन प्रत्याहार-शैली में चाहता है। प्रत्याहार-रचना के लिए वर्णों का विशेष आनुपूर्वी द्वारा भिन्न-भिन्न सूत्रों के रूप में पढ़ा जाना और प्रतिसूत्र के अन्त में अनुबन्ध आसंजन आवश्यक है।

(ख) **आक्षेप**—वर्णोपदेश का प्रथम कार्य विवेचनाधीन भाषा की सभी वर्ण-ध्वनियों का परिचय देना है। सूत्रकार ने स्वरों के और अर्द्ध-स्वरों के दीर्घादि तथा अनुनासिक आदि-ध्वनि रूपों का उपदेश क्यों नहीं किया ?

समाधान—पाणिनि ने वर्णों की संध्वनियों[2] को तद्रूप में ग्रहण करने के

---

1. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 1, पृ० 61 : महाभाष्य के इस अंश का कुछ विद्वान् केवल यह अर्थ लेते हैं, मानो वार्तिककार पाणिनि के अधिकार को बहुत बड़ी चुनौती दे रहा हो और भाष्यकार उसे कह रहा हो कि पाणिनि के सूत्रों में 'ननुनच' करना अधर्म है। वस्तुतः पतञ्जलि का आशय यह है कि समीक्षक के नाते कात्यायन का कार्य प्रत्येक दोष और उसका समाधान पाणिनीय-परिध में देखना है, न कि विकल्प-शैली प्रस्तुत करना।
2. A. E. Darbyshire, Exercises in Linguistics, p. 64 : "Individual sounds which are members of a phoneme are called its allphones."

लिए सवर्ण-ग्राहक नियम[1] बनाया है ।

(ग) आक्षेप—'अ इ उ ण्' का 'अ' उच्चारण-प्रयत्न की दृष्टि से संवृत है। वह अपनी दीर्घादि संध्वनियों के 'विवृत्त' होने से उनका सवर्ण नहीं है। पाणिनीय रीति से वह सवर्ण ग्राहक कैसे होगा ?

समाधान— पाणिनि ने संरचनात्मक विश्लेषण के दौरान 'अ' को 'विवृत' माना है, वैसे प्रयोग में इसे 'संवृत'[2] ही बताया है ।

(घ) **आक्षेप**—'लृ' जो वस्तुतः 'ऋ' की संध्वनि है और जिसका प्रयोग-क्षेत्र अल्पीयान् है, उसे स्वतन्त्र ध्वनि के रूप में क्यों उपदिष्ट किया है ?

समाधान—पाणिनि चाहता तो इसे प्रयत्नपूर्वक टाल सकता था। परन्तु लगता है कि यह परम्परा-निर्वाह है ।

(ङ) आक्षेप—वर्णमाला में साधारणतः एक ही वर्ण दो बार नहीं पढ़ा जाता । पाणिनि ने 'ह य व र ट्' (5) तथा 'हल्' (14) में हकार दो बार क्यों पढ़ा है ?

समाधान— चतुर्दश-सूत्री का वर्णोपदेश कोरी वर्णमाला नहीं है अपितु सूत्रकार की संरचनात्मक-योजना के अन्तर्गत वर्णों को यथायोग समुच्चय (प्रत्याहार) में युक्त अथवा वियुक्त रखने के लिए है । पाणिनीय संरचना-सूत्रों की दृष्टि से 'ह्' को अट्, अश्, इण् तथा हश् प्रत्याहारों में लाना आवश्यक है। अतः पंचम सूत्र में पढ़ दिया; साथ ही वल्, रल्, झल्, शल् प्रत्याहारों में लाना आवश्यक है, अतः चतुर्दश-सूत्र में पढ़ दिया ।

(च) **आक्षेप**—इस वर्णोपदेश में विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार तथा यम (द्वित्वरूपवर्ण-ध्वनि) की स्थिति का कोई संकेत नहीं है। पाणिनि के सूत्रों में इनका व्यवहार होने से संस्कृत-भाषा में इन ध्वनियों का अस्तित्व-बोध और साधुत्व-बोध भले ही हो जाये, किन्तु प्रत्याहारमूलक व्याकरणिक नियम तो तभी लगेंगे जब इन्हें वर्णोपदेश में यथास्थान उपदिष्ट किया जाये ? क्या यह वर्णोपदेश की न्यूनता नहीं ?

समाधान—सूत्रकार के पास इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं था कि लक्ष्योपयोगी विधा से इन्हें तत्तत् प्रत्याहार में शामिल होने की प्रतिज्ञा करें। इनका वर्णोपदेश में उपदेश निश्चित स्थान पर नहीं हो सकता ।

(छ) आक्षेप—अण् आदि प्रत्याहारों से 'अनुबन्ध' वर्ण का ग्रहण (बोध) क्यों नहीं होता ?

समाधान--सूत्रकार की चतुर्दश-सूत्री स्वयं इसका उत्तर दे रही है कि

---

1. अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः (अष्टा० 1.1.69)
2. अ अ इति (अष्टा० 8.4.68)

अनुबन्ध संकेतमात्र हैं, न कि वर्णसम्पत्ति, अन्यथा आचार्य अपनी शैली के विरुद्ध 'अच्' समुदाय में ण्, क् आदि कभी न पढ़ता।

(2) पतंजलि के आक्षेप तथा समाधान

पतञ्जलि ने भी आक्षेप-समाधानरीति से चतुर्दश-सूत्री पर कुछ नवीन संकेत दिये हैं।

(क) **आक्षेप**—रेफ का पचम सूत्र में 'यव' से पूर्वपाठ करने में सूत्रकार की दृष्टि से क्या कठिनाई है? यथान्यास पाठ से तो स्वर्नयति, मद्रहृदः, वनं रथेन आदि में क्रमशः आनुनासिक, द्वित्व, और परसवर्ण की आपत्ति स्पष्ट है।

समाधान—'हरयवट्' पाठ करने पर 'व्' अनभीष्ट रूप से 'रल्' प्रत्याहार में पहुंचेगा और 'र्', 'वल्' में न आ सकेगा। अनेक लक्ष्यों में बाधा होगी। यथान्यास पाठ में उक्त कठिनाई कोई ठोस आधार नहीं रखती न तो रेफ अनुनासिक है; और न उसका कोई सवर्ण ही होता है। अतः प्रथम और द्वितीय आपत्तियां निरस्त हैं। रेफ को द्वित्व भी सम्भव नहीं, क्योंकि वह तो स्वयं द्वित्व का निमित्त है।

(ख) **आक्षेप**—क्या वर्णों का अकाल था जो सूत्रकार 'ण्' का अ इ उ ण् (1), और 'लण्' (6) में द्विरनुबन्धन करता है? क्या इससे अण्, इण् प्रत्याहारों में 'पूर्व' अथवा 'पर' णकार का सन्देह न होगा?

समाधान—शास्त्र कितना भी पूर्ण हो, सन्देह आते हैं। पाणिनि का यह व्यवहार सूचित करता है कि सन्देहस्थल में उसके व्याख्याकार—'लक्ष्यानुसारी व्याख्यान से शास्त्र को सार्थक दिशा दें, अनर्थ या व्यर्थ न करें।[1]

पश्चाद्भावी व्याख्याकारों और टीकाकारों ने चतुर्दश-सूत्री पर कोई विशेष सूझ-बूझ की सूचना नहीं दी। वर्णों में सन्धि क्यों नहीं की गई? विभक्ति क्यों नहीं? या 'कार' प्रत्यय क्यों नहीं लगाया? आदि महत्त्वहीन प्रश्न उभरे और सवसाधारण उत्तर, जिसे पतञ्जलि पहले ही दे चुका था, पर्याप्त समझा गया—'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति'।[2]

(3) डा० विद्यानिवास मिश्र की नवीन दृष्टि[3]

डा० विद्यानिवास मिश्र ने सचमुच चतुर्दश-सूत्री पर कुछ ऐसे प्रश्न उठाये

---

1. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 2, पृ० 100:
   'व्याख्यानवतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्।'
2. वही, पृ० 103 (अष्टा० 1.1.1)
3. वि० नि० मिश्र, 'The Descriptive Technique of panini', pp. 40-41

हैं जो कुछ नवीनता लाते हैं। डा० मिश्र द्वारा प्रस्तुत आक्षेप और सम्भव समाधान का सार-संक्षेप यह है—

(क) **आक्षेप**—अघोष अल्पप्राण वर्णों में त्, न्, प् और ऊष्म वर्णों में स्, ह् को अनुबन्ध क्यों नहीं बनाया? तथा अनुबन्धों के क्रम के पीछे सूत्रकार की क्या धारणा सम्भव है?

समाधान—'त्' अनुबन्ध को पाणिनि ने 'तपर' संज्ञा के लिए चुना है, जो 'अत्', 'इत्' आदि रूप में 'तत्काल' का बोधक होता है। 'न्' पद के अन्त में लुप्त हो जाता है। 'ह्' भी पदान्त में नहीं ठहरता और वह ढ्, ध्, घ् के रूप में हो जाता है।[1] सूत्र प्रथम और अष्टम में 'ण्' तथा 'ञ्' सात-सात सूत्रों के दो वर्ग करते हैं। दोनों अनुनासिक वर्ण पाणिनीय शास्त्र में 'वृद्धि' के प्रतीक हैं, अतः मंगलार्थ हैं। प्रथम सूत्र-सप्तक में अनुबन्ध वर्णमाला के क्रम से हैं। द्वितीय सप्तक में अनुबन्धों के जोड़ों के रूप में देखना चाहिए; जैसे—(ष्+श्), (व्+य्), (र्+ल्)। दो जोड़ों में अनुबन्धों का पूर्वापरत्व प्रचलित वर्णमाला के विपरीत है जोकि वर्णोपदेश में वर्णमाला के विपरीत अघोष वर्णों से पूर्व घोष-वर्णों की सूचना देता है। 'स्' का 'ह्' के अतिरिक्त जिसका अन्त में रह पाना भाषा की दृष्टि से असंगत था कोई साथी अनुबन्ध न था। 'प्' का भी साथी 'त्' इस सूची से बाहर रहा, अतः वह भी हटा दिया गया।

(ख) **आक्षेप**—'अच्' प्रत्याहार तथा अच् प्रत्यय के भेद करने का कोई उपाय पाणिनि ने नहीं सुझाया। अतः रूपध्वनिग्रामीय स्वरादि-विधि तथा गुणादि-विधि 'अच्' प्रत्यय पर लागू हों, 'अच्' प्रत्याहार पर नहीं, ऐसा क्यों?[2]

समाधान—पाणिनि-काल में यह समस्या न थी। लोग पूर्ण शास्त्र कण्ठस्थ रखते थे, अतः प्रकरण-ज्ञान से दोनों का भेद समझना सहज था। अतः अब सुविधा के लिए प्रत्यय-घटक अनुबन्ध से पूर्व (-) हाइफन का प्रयोग करना उचित है।[3]

4.15. चतुर्दशसूत्री का वैशिष्टय

(क) यह वर्णोपदेश सूत्रकार की संरचनात्मक योजना के अनुसार हुआ है।

---

1. संस्कृत भाषा के शब्दों में 'ह्' पदान्त में नहीं सुना जाता अथवा कहना चाहिए कि महाप्राण वर्ण पदान्त में नहीं सुने जाते। किन्तु डा० मिश्र ने जिन पाणिनीय सूत्रों का सन्दर्भ दिया है, केवल धातुघटक 'ह्' को 'घ्' आदि करते हैं, सर्वसाधारण को नहीं। देखिए, वि० नि० मिश्र 'डेस्क्रिप्टिव टैक्नीक आफ पाणिनि', पृ० 59.

1. डा० वि० नि० मिश्र, The Descriptive Technique of panini, p. 41

3. वह, पृ० 60

(ख) घोष-अघोष वर्णों का विभाजन तथा उनका भी महाप्राण-अल्पप्राण विभाजन, 'ध्वनि नियमों' के अनुकूल है ।

(ग) इस वर्णोपदेश पर आधारित प्रत्याहार-सिद्धान्त वर्णों के समुच्चय के सिद्धान्त पर आधारित है, जोकि संरचनात्मक प्रक्रिया के विश्लेषण का बीजगणितीय प्रावधान है ।

4.16. अष्टाध्यायी का अध्याय और पादों में विभाजन

'अष्टाध्यायी' जैसा कि नाम से स्पष्ट है आठ अध्यायों में विभक्त कृति है। प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है । कुल सूत्रों की संख्या लगभग चार सहस्र है। अष्टाध्यायी का अध्याय और पादों में विभाजन कोई विशेष तर्कसंगत आधार नहीं रखता ।[1] वस्तुतः पाणिनीय दृष्टि से इस विभाजन का कोई महत्व भी नहीं है। इस प्रकार का विभाजन सूत्रकार ने स्वयं किया है, इसका भी हमारे पास परम्परा के अतिरिक्त कोई अन्य ठोस प्रमाण नहीं है । पाणिनि ने न तो स्वयं किसी सूत्र द्वारा अध्याय और पाद का संकेत किया है और न वार्तिककार ही इस विषय में कोई सूचना देता है। पतञ्जलि के समय यह विभाजन मान्यता पा चुका था, यह निःसन्देह कहा जा सकता है ।[2]

---

1. Buiskool, Tripadi, p. 21 : "Whether the division of the Astadhyayi into adhyayas and padas and the combining of the Sutras to adhikara groups, are also based on a logical principal, is quite a question."
ibid.p.22 : "That in the grouping of the Sutras to Adhyayas and padas a practical object should be pursued, seems equally improbable considering the rather unequal length of the parts : the second (shortest) adhyaya contains268, the sixth (longest) 736, the shortest pada (II.2) 38, the longest (VI.1) 223 sutras. The number eight and four speak for themselves."

2. कात्यायन असिद्ध काण्ड का संकेत त्रैपादिक शब्द से नहीं करता । वह इसके लिये 'पूर्वत्रासिद्ध' संकेत का व्यवहार करता है । वस्तुतः 'पूर्वत्रासिद्धम्' (अष्टा॰ 8.2-1) का आशय चतुःसहस्री में 'पूर्वात्रासिद्धम्' से आगे पठित सूत्रकुल का पूर्वपठित शत्रुकुल की दृष्टि से असिद्धत्व बोधित करना है। कात्यायन के ये दो वार्तिक—'पूर्वत्रासिद्धे च' (वा॰ 356) 'पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोभ-वादुचरस्य' इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। पतञ्जलि अवश्य अध्याय और पादों के विभाजन की सूचना देता है। देखिए महा॰ (अष्टा॰ 8.2.1) : "येयं सपादसप्ताध्याय्यनुक्रान्ता एतस्यामयं पादोनोऽध्यायोऽसिद्धम्।"

4.17. अध्याय और पादक्रम से विषय-वस्तु

प्रथम अध्याय

प्रथम पाद—इस पाद की सूत्र-संख्या 75 है। इसमें चतुर्दश-सूत्री को मिला देने पर[1] कुल संख्या 89 होती है। इस पाद में सम्पूर्ण सूत्र-शास्त्र में उपयुक्त संज्ञाओं और परिभाषाओं का संकलन है।

द्वितीय पाद—इसकी सूत्र-संख्या 73 है। प्रथम-पाद से इसका पृथक्करण अतिदेश सूत्रों के पाठ से किया गया है। अष्टा० 1.2.1 से 1.2.26 तक धातु-विशेष से विहित प्रत्यय-विशेषों में व्याकरणिक कार्य की सिद्धि के लिए 'ङित्व' या 'कित्व' का अतिदेश तथा निषेध किया गया है। इसके पश्चात् अष्टा० 1.2.27 से पाद के अन्त तक शास्त्रोपयोगी कतिपय संज्ञाओं तथा नियम-सूत्रों का उल्लेख है। संयोग-वश शास्त्र-लाघव के लिए कुछ वैदिक-स्वर-सम्बन्धी विधि-सूत्र[2] तथा प्रातिपादिक-विषयक विधि-सूत्र[3] भी डाल दिए गये हैं।

अष्टा० 1.2.53 से 1.2.57 तक चार सूत्र पाणिनीय शास्त्र की व्याकरणिक प्रक्रिया का अंग न होकर शुद्ध रूप ले शास्त्रकार का कतिपय भाषावैज्ञानिक समस्याओं पर दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं जिनकी चर्चा यथास्थान होगी।[4]

तृतीय पाद—इसकी सूत्र-संख्या 93 है। यह पाद धातु-संख्या से आरम्भ होता है। पूर्वपाद में की गई 'प्रातिपदिक' संज्ञा तथा तत्सम्बन्धी कतिपय नियम-विशेषों से भिन्नता होने के कारण इसे पृथक् किया गया है। सूत्र 1.3.1 से 1.3.11 तक धातु-संज्ञा, इत्संज्ञा तथा एक-दो परिभाषाओं का उल्लेख है। सूत्र 1.3.12 से पाद के अन्त तक 'आत्मनेपद' तथा 'परस्मैपद' प्रत्यय-विधान के नियम-सूत्र हैं।

चतुर्थ पाद—इसकी सूत्र-संख्या 110 है। पाद का आरम्भ एक अभिनव योजना से है। प्रथम सूत्र 'आकडारादेका संज्ञा' अष्टा० 1.4.1 से 'एक-संज्ञा' का अधिकार नियम लागू होता है जो कि अष्टा० 2.2.38 तक चलता है। इस अधिकार में उपदिष्ट संज्ञाओं में जहां कहीं एक ही संज्ञा की दो संज्ञाएं शास्त्र

---

1. चतुर्दश सूत्री स्वतन्त्र रूप से संज्ञा-परिभाषा आदि सूत्र प्रकारों में कहीं भी नहीं ठहरती। यह वस्तुतः पाणिनीय सूत्रशास्त्र का वैसा ही महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट है, जैसाकि धातुपाठ और गणबाठ। अतएव इसे सामान्य सूत्र कुल में गिनकर प्रत्याहार-मूलक सूत्र-शास्त्र की रचना का आभार माना गया है। देखिए, महा० प्रथम भाग, पृ० 59, वा० 16 : 'वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः।'
2. अष्टा० 1.2 33-40
3. अष्टा० 1.2.47-51
4. देखिए, यही ग्रन्थ 6.2

से प्राप्त होंगी वहां केवल पर-सूत्र से विहित[1] अथवा अनवकाशतया अपवाद-भूत संज्ञा ही मान्य होगी और तन्निमित्तक व्याकरण-कार्य प्रवृत्त होगा।

द्वितीय अध्याय

इसका प्रारम्भ एक नवीन प्रकरण से होता है, जिसे पदविधि कहा गया है। यद्यपि पद-सम्बन्धी विधि के अन्तर्गत समास-विधि, तद्धित-विधि, कृद्विधि, सनादिविधि तथा एक-शेष विधि सभी का ग्रहण होता है, तथापि यहां केवल समास-विधि का ही उल्लेख है।

प्रथम पाद—इस पाद में 72 सूत्र हैं। सूत्र 2.1.3 से अन्तिम सूत्र तक 'समास'-संज्ञा के अन्तर्गत अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्विगु तथा कर्मधारय संज्ञाओं के सन्दर्भों का उल्लेख है।

द्वितीय पाद—इस पाद में 38 सूत्र हैं। पाद के पृथक्करण का हेतु पूर्वपाद के कर्मधारय के बाद एकदेशी तत्पुरुष समास का आरम्भ है। 'शेषो बहुव्रीहिः' 2.2.23 से 2.2.28 तक 'बहुव्रीहि' संज्ञा के सन्दर्भों का तथा 'चाऽर्थे द्वन्द्वः' 2. 2.29 से द्वन्द्व-संज्ञा के सन्दर्भों का उल्लेख है। सूत्र 2.2.30 से तत्तत् समास में समास-घटक शब्दों के पूर्व-पर प्रयोग के नियम हैं।

तृतीय पाद—इसकी सूत्र संख्या 73 है। तत्तत् कारक सन्दर्भों में तथा उपपद-सन्दर्भों में 'स्वादि' विभक्ति के प्रयोग-नियम हैं। समास-प्रकरण के पूर्वपाद से विषय-भेद होना इसकी पृथक्ता का हेतु है।

चतुर्थ पाद—इसमें 85 सूत्र हैं। सूत्र 2.4.1 से 2.4.31 तक तत्तत् समास में 'वचन' तथा 'लिंग' का नियम करने वाले सूत्र हैं। यह विषय-भेद ही इस पाद को पूर्व के विभक्ति-पाद से पृथक् करता है। सूत्र 2 4.32 से 2.4.57 तक 'प्रातिपदिक'-प्रकृति तथा 'धातु'-प्रकृति का सर्वादेश उल्लेख है। सूत्र 2.4.58 से 2.4.84 तक प्रत्ययों का 'लुक्' प्रकरण है। अन्तिम सूत्र 'लुटःप्रथमस्य डारोरसः' (2.4.85) बिना प्राकरणिक-सम्बन्ध[2] के डाला गया है।

तृतीय अध्याय

इस अध्याय का उदय प्रत्यय-काण्ड से होता है, जो पंचम अध्याय के अन्त

1. विप्रतिषेधे परं कार्यम् (अष्टा० 1.4.2)
2. सामान्यतः लकारस्थानिक प्रत्ययों के आदेश तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद में वर्णित हैं। यहां इस सूत्र को रखने का प्रयोजन 'सर्वादेश' करना है। प्रत्यय काण्ड में डालने से 'ड' भी 'प्रत्यय' कहलाता और 'चू टू' (अष्टा० 1.3.7) के लगने से उसका 'अनेकाल्त्व' नष्ट हो जाता; सर्वादेश नहीं हो पाता।

तक चलता है। इस अध्याय में प्रत्यय-प्रकरण के उपयोग के कतिपय अधिकार, संज्ञा, परिभाषा तथा अतिदेश के अतिरिक्त प्रत्यय-विधायक सूत्रों का ही संकलन है। पूरा अध्याय धातु-प्रत्यय-प्रकरण है।

प्रथम पाद—इसमें 150 सूत्र हैं। 'प्रत्ययः' (3.1.1) से प्रत्यय-संज्ञा का अधिकार हुआ है। 'परश्च' (अष्टा० 3.1.2), 'आद्युदात्तश्च' (अष्टा० 3.1.3) तथा 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (अष्टा० 3.1.4) से प्रत्यय-सम्बन्धी सामान्य नियम हुए हैं। इसके पश्चात् पूरे पाद में तत्तत् संदर्भों में धातु-प्रत्यय वर्णित हैं।

द्वितीय पाद— इसकी सूत्र संख्या 188 है। 'कर्मण्यण्' (अष्टा० 3.2.1) से 'अन्येभ्योऽपिदृश्यते' (अष्टा० 3.1.101) तक ऐसे 'कृत्' प्रत्यय वर्णित हैं जो सोपपद[1] धातु से होते हैं। सूत्र 3.1.102 से आगे पादान्त तक कालिक कृत्-प्रत्यय, लकार-प्रत्यय तथा 'तच्छील' प्रत्ययों का वर्णन है।

तृतीय पाद—इसमें 176 सूत्र हैं। इसका पृथक्करण 'उणादयो बहुलम्' (अष्टा० 3.3.1) से हुआ है जो ऐसे धातु-प्रत्ययों का संकेत देता है जिन्हें शास्त्रीय नियमन की कठोरता से मुक्त समझा है। इस पाद में 'भाववाची' प्रत्ययों का प्रधान रूप से वर्णन है।

चतुर्थ पाद—इसमें 117 सूत्र हैं। इस पाद का पृथक्करण 'धातु सम्बन्धे प्रत्ययः' (अष्टा० 3.4.1) से होता है। यह सूत्र स्वयं में एक महत्त्वपूर्ण परिभाषा है। इसका प्रयोजन तत्तत् काल सन्दर्भों में शास्त्र द्वारा वर्णित प्रत्ययों को संकीर्ण प्रयोग से मुक्त करना है। जो प्रत्यय जिस किसी काल अथवा कारक में विहित हैं वे अन्य स्थलों में भी प्रयुक्त होते हैं। यही इस सूत्र का आशय है। इस पाद में अव्ययकृत्, लकारस्थानिक 'तिङ्' तथा उनके संरूप-प्रत्ययों का वर्णन है।

चतुर्थ अध्याय

इस अध्याय से प्रातिपदिक प्रकृति से विहित 'सु' आदि प्रत्यय, 'स्त्री' प्रत्यय तथा तद्धित प्रत्ययों का वर्णन आरम्भ होता है।

प्रथम पाद—इसमें 178 सूत्र हैं। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (अष्टा० 4.1.1) से 'प्रातिपदिक' प्रकृति का अधिकार होता है। सूत्र 4.1.2 में स्वादि प्रत्यय वर्णित हैं। 'स्त्रियाम्' (4.1.3) से 'स्त्रीत्व' का अधिकार होता है, जो 'यूनस्तिः' (4.1.76) तक चलता है। 'तद्धिताः' (4.1.75) से पंचम अध्याय की समाप्ति तक 'तद्धित' प्रत्ययों का अधिकार है।

द्वितीय पाद—इसकी सूत्र संख्या 145 है। पाद का आरम्भ 'तेन रक्तं

---

1. 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' (अष्टा० 3.1.92)

रागात्' (4.2.1) नवीन अर्थ से होता है। इस पाद में रक्ताद्यर्थ चातुरर्थिक एवं अनेक-विध शैषिक प्रत्यय आते हैं।

तृतीय पाद—इसकी सूत्र संख्या 168 है। पाद का पृथक्करण पूर्व-पाद के 'देशे'[1] अधिकार की निवृत्ति से होता है। इसमें अनेक-विध शैषिक प्रत्ययों का उल्लेख है। 'तस्यविकार:' (अष्टा० 4.3.134) से विकारार्थ आरम्भ होते ही शैषिक प्रकरण समाप्त हो जाता है। इस पाद की समाप्ति के साथ ही 'प्राग्दीव्यतोऽण्' (अष्टा० 4.1. 83) से आरम्भ हुआ 'अण्' प्रत्यय का अधिकार भी समाप्त होता है।

चतुर्थ पाद—इसमें 144 सूत्र हैं। पाद का पृथक्करण 'प्राग्वहतेष्ठक्' (अष्टा० 4.4.1) द्वारा 'ठक्' प्रत्यय के अधिकार से होता है। 'प्राग्घिताद्यत्' (4.4.75) द्वारा 'यत्' प्रत्यय का अधिकार चलता है जो 'तस्मैहितम्' (5.1.5) पर समाप्त होता है।[2]

पंचम अध्याय

अध्याय का आरम्भ ऐसे प्रत्ययाधिकारों से होता है जिनके अधिकृत अर्थों में कुछ विशेष प्रकृतियों से विहित अपवाद प्रत्यय भी साथ चलते हैं।

प्रथम पाद—इस पाद की सूत्र संख्या 136 है। 'प्राक्क्रीताच्छ:' (अष्टा० 5.1.1) द्वारा विहित 'छ' के अधिकार में हितादि अर्थों में 'उगवादिभ्यो यत्' (अष्टा० 5.1.2) से 'यत् का अधिकार भी चलता है जो उवर्णान्त तथा गवादि प्रकृति से 'छ' को रोककर 'यत्' करता है।

द्वितीय पाद—इसमें 140 सूत्र हैं। प्रथम पाद से इसका पृथक्करण अस्वार्थिक अर्थ विशेष सूचक तद्धित प्रत्ययों से हुआ है। इस प्रकरण में 'तस्येदम्', 'तत्र भव:' आदि की भांति सामान्य सर्वनामों से वाक्य निर्देश नहीं, अपितु 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' (अष्टा० 5.2.1) की रीति से विशेषार्थ में प्रत्यय विहित हैं।

तृतीय पाद—इसमें 119 सूत्र हैं। यहां ऐसे स्वार्थिक प्रत्ययों का संकलन है जो तत्तत् अधिकार या संज्ञा द्वारा व्याकरणिक उद्देश्य से समूहित किए गए हैं, जैसे 'ञ्यादयस्तद्राजा:' (अष्टा० 5.3.119)।

चतुर्थ पाद—160 सूत्रों का यह पाद स्वार्थ प्रत्ययों का परिशिष्ट है, जिसमें 'समासान्त'[3] प्रत्यय भी हैं।

---

1. 'तदस्मिन्नस्तीतिदेशे तन्नाम्नि' (अष्टा० 4.2.67)
2. प्रत्ययाधिकारों का इस प्रकार पादों का अतिक्रमण करना इस बात का प्रमाण है कि सूत्रकार की दृष्टि से अध्याय और पादों का कोई महत्त्व नहीं।
3. 'समासान्ता:' (अष्टा० 5.4.68)

षष्ठ अध्याय

पंचम अध्याय के साथ ही प्रत्यय-प्रकरण समाप्त होता है। यहां तक सूत्रकार ने अपनी योजनानुसार भाषा-संरचना की सभी इकाइयों का स्तर-विभाजन, परिपूरक वितरण में उनके सम्बन्धों का निर्धारण तथा संरचनात्मक प्रक्रिया की दृष्टि से उनका वर्गीकरण पूर्ण कर लिया है। षष्ठ अध्याय से उसका 'इकाई और प्रक्रम' (Item and process) आरम्भ होता है।

प्रथम पाद—इसकी सूत्र संख्या 223 है। पाद का प्रारम्भ धातु, प्रातिपदिक तथा प्रत्ययों में होने वाले परिवर्तनों से होता है। इस पाद में उन रूपध्वनिग्रामीय विकारों का वर्णन है, जिनमें 'अंग' संज्ञा का तकनीकी महत्त्व नहीं है, यद्यपि ये सभी कार्य स्वाभवत: अंगाधिकार[1] में होने चाहिए। इसी पाद में 'संहितायाम्' (अष्टा० 6.1.72) अधिकार से स्वर-सन्धि तथा उसके आगे 'अनुदात्तंपदमेकेवर्जम्' (अष्टा० 6.1.158) वैदिक स्वर-प्रक्रिया आरम्भ होती है। 'प्रकृति' तथा 'प्रत्यय' स्वर इस पाद में समाप्त होते हैं।

द्वितीय पाद—इसमें 199 सूत्र हैं। पूरे पाद में समास-स्वरों का निरूपण है, जोकि स्वाभावत: इस पाद को पूर्व से पृथक् करता है।

तृतीय पाद—इस पाद की सूत्र-संख्या 139 है। पाद का प्रारम्भ 'अलुगुत्तरपदे' (अष्टा० 6.3.1) से होता है। इसमें तत्तत् समास-स्थल में पूर्व पद की विभक्ति का 'अलुक्' (लोपाभाव), पूर्व पद में स्त्रीलिंग शब्दों को 'पुंवद्भाव' एवं उत्तर पद परे रहते पूर्व पद में अन्य विकारों का विवरण है।

चतुर्थ पाद—इस पाद में 175 सूत्र हैं। पाद का आरम्भ 'अंगस्य' (अष्टा० 6.4.1) के 'अंगाधिकार' से होता है। इस पाद के अन्तर्गत सूत्रकार ने 'असिद्धवदत्रामात् (अष्टा० 6.4.22) अधिकार में उन विकारों का वर्णन किया है जो 'समानाश्रय[2] कार्यों में परस्पर 'असिद्धवत्[3] होते हैं।

सप्तम अध्याय

इस अध्याय का आरम्भ प्रत्ययस्थानिक आदेशों से होता है। इस अवसर पर सूड़कार ने 'प्रतीक-प्रत्ययों' के सभी सर्वादेश दिए हैं। केवल 'ठस्येक: (अष्टा० 7.3.50) और 'लुट: प्रथमस्य डारौरस:' (अष्टा० 2.4.85) को बाहर रखा है।

---

1. एकाचो प्रथमस्य (अष्टा० 6.1.1) सूत्र के अन्तर्गत वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों ने 'धातुद्विर्वचन' को अंगकार्य माना है।
2. दो सूत्रों का समान निमित्त को लेकर प्रवृत्त होना 'सामानाश्रय' कहा।
3. 'असिद्धत्व' का पूर्ण परिचव द्वादश अध्याय में प्रस्तुत होगा।

प्रथम पाद—103 सूत्रों के इस पाद में प्रत्ययादेश और धातु, प्रातिपदिक प्रकृति के विकारों का विवरण है।

द्वितीय पाद—इसमें 118 सूत्र हैं। पाद का आरम्भ 'सिज्वृद्धिः' से होता है। इसके आगे आर्थ-धातुक-हडागम तथा अन्य रूपध्वनिग्रामीय कार्यों का वर्णन है।

तृतीय पाद—इस पाद में 120 सूत्र हैं। एक-दो प्रत्यय आदेशों को छोड़कर अधिकांश धातु और प्रातिपदिक के विकारों का वर्णन है। इस पाद में सूत्रकार ने प्रायः उन प्रत्ययों के परे प्रकृति-विकार वर्णन किए हैं, जिन्हें वह 'ञित्', णित्', 'शित्', 'पित्' और 'ङित' आदि वर्गों में ला सकता था।

चतुर्थ पाद—इस पाद में 197 सूत्र हैं। पाद का आरम्भ 'उणोचङिउपधा-ह्रस्वः'[1] से होता है। इसके आगे 'लिट्'-निमित्तक धातु विकार, कुछ प्रातिपदिक-विकार तथा अभ्यास-सम्बन्धी कार्यों का वर्णन है।

अष्टम अध्याय

इस अध्याय के उदय से पूर्व तक सूत्रकार भाषा-संरचना के उपादानों (इकाइयों) को उस प्रक्रिया से गुज़ार देता है जो शब्द वस्तु के रूप को प्रकट करती है। इस अध्याय के अन्तिम तीन पादों में अवश्य कुछ ऐसे संरचना-स्तर के नियम हैं, जो उक्त निष्कर्ष के अपवाद माने जा सकते हैं।

प्रथम पाद—इस पाद का आरम्भ 'नित्यवीप्सा' आदि अर्थों में शब्द के द्विरुक्त रूपों के वर्णन से होता है। इसके पश्चात् 'पदस्य' (अष्टा० 8.1.16) तथा 'पदात्' (अष्टा० 8.1 17) से पद से परे पद-सम्बन्धी कार्यों का निरूपण होता है। कहना चाहिए कि 'पद से पद' तक चलते सूत्रकार 'वाक्य' के वृत्त में प्रवेश करता है। इसकी सूचना 'वाक्यादेरामन्त्रिस्यादिरुदाचः' (अष्टा० 8.1.8) से मिलती है।

द्वितीय पाद—इसकी सूत्र संख्या 108 है। पूर्वत्रासिद्धम् (अष्टा० 8.2.1) से सूत्रकार उस महत्त्वपूर्ण प्रकरण का आरम्भ करता है, जिसे पाणिनीय अध्येता 'त्रिपादी' या 'असिद्ध'-काण्ड[2] के नाम से जानते हैं।

तृतीय पाद—इसमें 119 सूत्र हैं। पाद का आरम्भ पद के अन्त को 'रु' विधि से होता है। 'अपदान्तस्यमूर्धन्यः' (अष्टा० 8.3.55) से पूर्व 'पदस्य' (अष्टा० 8.1.16) का अधिकार समाप्त होता है और प्रकृति-प्रत्ययों की 'मूर्धन्य-विधि' का वर्णन है।

1. उणोचङ्युपधाया ह्रस्व : (अष्टा० 7.4.1)
2 असिद्धत्व-सिद्धान्त का इस शोध में द्वादश अध्याय में विवेचन हुआ है।

चतुर्थ पाद—इसकी सूत्र संख्या 68 है। पूर्व दो पादों में रेफ-विधि और 'षत्व-विधि' द्वारा 'णत्व' के निमित्त की भूमिका बनाकर इस पाद में 'रषाभ्यां नो णः' (अष्टा० 8.4.1) से यह पाद प्रारम्भ हुआ है। इसके आगे पदान्त-अपदान्त, साधारण हल्-सन्धि का वर्णन है। अन्त में 'उदात्त' से आगे 'अनुदात्त' का 'स्वरित' विधान है। शास्त्र के अन्त में 'अ अ इति' (अष्टा० 8.4.68) से प्रक्रियार्थ वर्ण-समाम्नाय में 'विवृत' उपदेश किए हुए 'अ' को प्रायोगिक संवृत्त-प्रत्यापत्ति के साथ ही पाणिनि की यह महत्त्वपूर्ण कृति समाप्त होती है।

4.18. अष्टाध्यायी की प्राकरणिक योजना में कतिपय दोष

अष्टाध्यायी के समीक्षात्मक अध्ययन से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि अध्याय और पादों का विभाजन तर्क-संगत[1] नहीं है। उनमें निबन्धात्मक प्रकरण-योजना का अभाव है। व्याकरण प्रक्रिया सम्बन्धी कारक, समासादि संज्ञाएं तथा तदनुसार होने वाले विभक्ति-विधान और विभक्ति लुक् एवं समासान्त प्रत्यय आदि व्याकरणिक कार्य विधान करने वाले सूत्र एक ही प्रकरण में पठित हों, ऐसा नहीं है। इससे पाणिनीय-सूत्रशास्त्र अपेक्षाकृत दुर्बोध एवं व्याख्या-सापेक्ष बन गया। अष्टाध्यायी की इस दुर्बोधता ने ही पश्चाद्भावी-प्रक्रिया-ग्रन्थों को जन्म दिया जिनमें व्याकरणिक प्रक्रियोपयोगी सूत्रों को बिना तोड़े-मरोड़े प्रकरणानुकूल रीति से संगृहीत किया गया है।

प्राकरणिक निबन्धात्मकता का दोष अष्टाध्यायी में दो रूपों में है—

(क) संज्ञा, परिभाषा तथा विधि आदि सूत्रों का प्राकरणिक विभाजन नहीं है। यह दोष तो प्रारम्भ के दो अध्यायों में जहां संज्ञा और परिभाषा-सूत्रों को, जैसाकि आगे स्पष्ट किया जाएगा, कुछ हेर-फेर से पृथक्-पृथक् प्रकरण में किया जा सकता था, वहां भी है।

(ख) व्याकरण-प्रक्रिया के अनुसार प्रकरण-योजना नहीं है। लोप-आगम, वर्ण-विकार आदि के नियम एकत्र हों, यह भी नहीं है।

उपर्युक्त दोषों के कारण ही अष्टाध्यायी के अध्यायों और पादों को कोई अन्वर्थ-संज्ञा नहीं दी जा सकी और कुछ वैयाकरणों को पाद के आरम्भ के सूत्र के सहारे ही उनका नामकरण करना पड़ा। 'सीरदेव' की 'परिभाषा-वृत्ति'[2] में इन संज्ञाओं के कुछ उदाहरण मिलते हैं; जैसे—

(1) गाङ्कुटादिपादः (1/2)	परिभाषा-वृत्ति,	पृ० 33
(2) भूपादः (1/3)	,, ,,	पृ० 43

1. Buiskool, Tripadi, p. 21-22
2. युधिष्ठिर मीमांसक, संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 159

(3) द्विगुपादः (1/4)	,,	,,	पृ० 76
(4) सम्बन्धपादः (3/4)	,,	,,	पृ० 93
(5) अङ्गपादः (6/4)	,,	,,	पृ० 135

4.19. प्रकरणात्मक एकता के अभाव के हेतु

(क) **संक्षिप्तता का आग्रह**—शास्त्र-लाघव पर अतिशय आग्रह होना प्रकरणात्मक एकता के भंग का सर्वप्रथम कारण है। सूत्र-साहित्य का जन्म ही बड़े से बड़े अर्थ को लघु से लघु शब्द-शरीर में समाने के लिए ही हुआ था, ताकि शिक्षार्थिगण उन्हें अल्पकाल में कंठस्थ करके विषय पर पूर्ण-प्रभुता का गौरव पा सकें।

(ख) **अधिकार व्याप्ति की योजना**—व्याकरणिक कार्य सिद्ध करने की दृष्टि से सूत्रकार ने अवांछित रूप से प्रकरणात्मक एकता को भंग करके अधिकारों का सांकर्य किया है। 'स्त्रियाम्' (4.1.3) अधिकार के 'यूनस्तिः' (अष्टा० 4.1.77) के द्वारा विहित स्त्रीत्व-बोधक 'ति' प्रत्यय को बलात् 'तद्धिताः' (अष्टा० 4.1.76) अधिकार में पढ़ा है, ताकि उसे भी 'तद्धित' माना जा सके। ऐसा करने से सूत्रकार को 'युवति' (युवन् + ति) में 'नस्तद्धिते' तद्धित-निमित्तक 'न्' लोप करने की छूट मिल गई और अन्य सूत्र नहीं रचना पड़ा। यही तथ्य समासान्त प्रत्ययों के तद्धित अधिकार में पाठ का हेतु है। 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (अष्टा० 6.1.13) जिसे उत्तर पद-अधिकार में पढ़ा जाना चाहिए। केवल 'वचिस्वापि' (अष्टा० 6.1.15) आदि सूत्रों में सम्प्रसारण-ग्रहण न करने को किया है।

(ग) **सूत्रों में बलाबल का सिद्धांत**—पाणिनीय सूत्रों के पूर्वापर से उनका बलाबल निर्णय होता है। अतएव कारक संज्ञाओं को कर्ता, कर्म आदि के प्रसिद्ध क्रम से नहीं रखा जा सका।

(घ) **सिद्धासिद्धता का सिद्धांत**—पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कुछ विशेष प्रकरणों में उल्लिखित सूत्रों में पारस्परिक सिद्ध-असिद्धता का सिद्धांत अपनाया है। अतएव कितने ही सूत्रों को उनके मुख्य प्रकरण से हटाकर असिद्ध-प्रकरण में डाला गया है; जैसे—असिद्धवदत्राभात् (अष्टा० 6.4.22) अधिकार में पठित 'हन्तेर्जः' (अष्टा० 6.4.36) को लिया जा सकता है। 'प्रकृति' को पूर्वरूप से परिवर्तित करने वाले आदेश द्वितीय अध्याय के अन्त में पढ़े गए हैं, यही नहीं 'हन्' के स्थान में 'लिङ्'[1] तथा 'लुङ्[2] में वध-आदेश उसी प्रकरण में विहित हुआ है। वहीं 'आत्मनेपदेष्वन्तरस्याम्' (अष्टा० 2.4.44) के बाद 'ज हो' सूत्र हो सकता

1. 'हनो वध लिङि' अष्टा० 2. 4.42)
2. 'लुङि च' (अष्टा० 2.4.43)

था। सूत्रकार ने यह प्रकरणात्मक एकता केवल इसलिए भंग की है कि 'अतो हेः' (अष्टा० 6.4.105) की कर्तव्यता में पूर्व प्रवृत्त हुए हन्तेर्जः (अष्टा० 6.4.36) को असिद्धवत् करना है ताकि 'हि' का लोप रोका जा सके।

इसी प्रकार त्रैपादिक असिद्धकाण्ड में पठित कुछ सूत्रों को देखा जा सकता है। 'पदस्य' (अष्टा० 8.1.16) से 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (अष्टा० 8.3.55) तक पद का अधिकार है। नियमतः इस प्रकरण में पद-स्थानिक या पदावयक व्याकरण कार्यों का उल्लेख होना चाहिए। किन्तु सूत्रकार ने अनेक अंग-कार्य करने वाले सूत्रों को भी इसमें पढ़ डाला है। इस प्रकार प्रकरणोल्लंघन के प्रति पाणिनि की शास्त्रीय तकनीक (सिद्धासिद्धता का नियम) तथा लाघव का आग्रह ही हेतु है। उदाहरण के लिए 'कृपोरोलः' (अष्टा० 8.2.18) से (8.2.22) तक के सूत्र सरलता से 'अङ्गस्य' अधिकार में या उससे भी पूर्व 'णो नः' (अष्टा० 6.1.65) के पश्चात् होते तो प्रकरणात्मक एकता बनी रहती। किन्तु पाणिनीय तकनीक से यह संभव नहीं था।

(ङ) **संज्ञाओं की संरचनात्मक परिभाषा**—पाणिनि ने संज्ञाओं की परिभाषा शुद्ध संरचनात्मक दृष्टि से की है। स्वभावतः अनेक संज्ञाएं आरम्भ के दो अध्यायों में नहीं दी जा सकीं, क्योंकि उनकी परिभाषा उस प्रकरण में ही संरचनात्मक रूप से अच्छी तरह परिभाषित हो सकती थी जहाँ उनका उपयोग है। उदाहरण के लिए तृतीय अध्याय में तत्तद् धात्वादि से सनादि प्रत्यय विहित करके 'सनाद्यन्ताः धातवः' (अष्टा० 3.1.32) से 'सनाद्यन्त' की धातु संज्ञा की है। इस सूत्र को 'भूवादयो धातवः' (अष्टा० 1.3.1) के पश्चात् होना उचित था। पाणिनि ने सनादि का परिचय देने को गण-पाठ जैसे उपाय को अनावश्यक समझा और उक्त सूत्र को सनादि प्रत्यय-विधायक त्रज्ञों के पश्चात् रख दिया। इसी प्रकार 'तद्धित'— संज्ञा की कोई सार्थक परिभाषा संज्ञा-प्रकरण में न देकर उसे अधिकार रूप में उपस्थित करके अपत्यादि अर्थ के प्रत्ययों को तो तद्धित-संज्ञा प्रदान कर ही दी, साथ ही 'स्त्रियाम्' (अष्टा० 4.1.3) अधिकार के 'यूनस्तिः' (अष्टा० 4.1.77) को भी उसी में व्याप्त कर लिया है। पाणिनि की दृष्टि से 'ति' प्रत्यय में 'स्त्री' और 'तद्धित' दोनों संज्ञाओं का कोई विरोध नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि अष्टाध्यायी में सूत्रकार द्वारा अपनाई गई प्रकरण-योजना अनेक दोषों और दुरूहताओं से भरपूर है। यह ठीक है कि प्रकरणात्मक-एकता को भंग करके अनेक प्रकार का शास्त्र-लाघव प्राप्त किया है, किन्तु यह सब कुछ अध्येता के अति-श्रम और स्मृति-कौशल[1] के

1. इस संदर्भ में 'कोल-ब्रुक' का कथन द्रष्टव्य है :

The studied brevity of the paniniya Sutras renders them in

विश्वास से ही सम्भव हुआ है। अष्टाध्यायी के सूत्रों का निश्चित-क्रम में स्थान सूत्रकार की योजना के अन्तर्गत उनके प्राकरणिक महत्व, 'बलाबल'-विचार तथा 'सिद्धासिद्धता' का निर्णायक है। अतः सहसा सूत्रों का पाठ-क्रम बदल कर किसी प्रकरणात्मक-योजना की बात सोचना दुष्कर कार्य के लिए पग बढ़ाना है, तथापि ऐसी कुछ सम्भावनायें हो सकती हैं कि यदि लाघव का अनावश्यक व्यामोह त्यागकर 'बलाबल' और 'सिद्धासिद्धता' के महत्त्व को ध्यान में रखकर कोई सतर्क-योजना अपनाई जाये तो बहुत से अनभीष्ट प्रकरण-दोष दूर हो सकते हैं।

अस्तु, थोड़ा उस पक्ष पर भी विचार किया जाय तो अष्टाध्यायी के यथा-रूप सूत्र-पाठ का पाणिनि की दृष्टि से औचित्य सिद्ध करता है।

4.20. पाणिनीय दृष्टि से यथारूप सूत्र-पाठ का औचित्य

उपर्युक्त अनेक दोषों और दुरूहताओं के होते हुए भी अष्टाध्यायी सूत्र-पाठ की योजना के पीछे शास्त्रकार की सूक्ष्मेक्षिका छिप नहीं सकी है। पाणिनि की प्रकरण-योजना का औचित्य निम्न-रूपों में समझा जा सकता है—

सम्पूर्ण अष्टाध्यायी का प्रमुख दो भागों में विभाजन

पाणिनीय योजना से अष्टाध्यायी के सूत्र-कुल को दो भागों में विभक्त करके देखा जा सकता है—

---

the highest degree obscure; even with the knowledge of the key to their interpretation, the student finds them ambiguous. In the application of them, when understood, he discovers many seeming contradictions, and with every exertion of practised memory, he must experience the utmost difficulty in combining rules dispersed in apparent confussion through different portions of panini's eight lectures⋯the apparent simplicity of the design, vanishes in the perplexity of the structure. The endless persuit of exceptions and limitations so disjoins the general precepts that the reader can not keep in view their intended connexion and mutual relation he wanders in an intricate maze and the clue of the labyrinth is continually slipping from his hands. See. Buiskool, Tripadi, p.2.

(क) **संरचना[1]-उपादान तथा उनका व्यवस्थापन**—इसके अन्तर्गत प्रथम अध्याय से पंचम अध्याय पर्यन्त शास्त्र का वह सूत्र-कुल आता है जिनके द्वारा विवेचनाधीन भाषा के संरचना-उपादानों—अर्थग्राम, रूपग्राम, (प्रकृति-प्रत्यय) तथा ध्वनिग्रामों का यथा-स्तर विभाजन हुआ है। साथ ही उन संज्ञा-परिभाषाओं का परिचय किया गया है जो उक्त विभाजन तथा उक्त उपादानों के संयोजन में उपयुक्त होती हैं।

(ख) **संरचना-उपादान तथा उनका प्रक्रम**—यह अष्टाध्यायी का वह भाग है जो षष्ठ अध्याय से अष्टम अध्याय पर्यन्त है। इसमें पूर्व भाग में व्यवस्थित किये हुए संरचना-उपादानों की संयोजन-प्रक्रिया वर्णित है।[2]

4.21. 'विधिशेष' तथा 'विधि' प्रकरण

परम्परागत शैली में अष्टाध्यायी का विभाजन मुख्यतः 'विधि-शेष'[3] और

---

1. देखिए वि० नि० मिश्र, The Descriptive Technique of panini, p. 65, foot-note :
"Also Charles F. Hockett, 'Two Grammatical Models' Readings in Linguistics, p. 386 : 'As between Ip and IA, the former is older. The key term in Ip is process, as is evident from the following characterization by Harris (1944 p. 199) 'The difference between two partially similar forms is frequently described···as a process which yields one from out of the other. Thus when bases or theme have several vocablic forms, the various forms are said to be the result of vowel-charge processes operating upon the base or theme. The difference between a base and a base-plus-suffix is described as a result or the process of suffixation. This is a traditional manner of speaking, especially in American Indian grammer. It has, of course, nothing to do with historical change or process through time; it is merely process through the configuration, moving from one to another or larger part of pattern."
2. देखिए, Buiskool, Tripadi, pp. 15-16 : "The two parts of the Astadhyayi"
3. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 2, पृ० 103; 'अथ पाणिनीयं विधिशेष प्रकरणम्।

'विधि-प्रकरण'[1] के रूप में देखा जाता है । प्रथम प्रकरण का आशय उस सूत्र-समुदाय से है जिसके द्वारा विधि-सूत्रोपयोगी संज्ञा और परिभाषाओं का परिचय दिया गया है । यह भाग चतुर्दश-सूत्री से 'अर्धर्चाः पुंसि च' (अष्टा॰ 2.4.31) तक माना जाता है । 'विधि-प्रकरण' सूत्र 2.4.32 से शास्त्रान्त तक चलता है । वास्तव में विधि-शेष और विधि-प्रकरण भाषाविज्ञान के उपादान और व्यवस्थापन तथा उपादान और प्रक्रम का ही दूसरा नाम है ।

1. महा॰ अ॰ 1 पा॰ 1 आ॰ 2 : 'अथ विधिप्रकरणम्'।

अध्याय 5

सूत्रों का षड्विध रूप और उनकी एकवाक्यता

5.1 'सूत्र' शब्द का अर्थ

'सूत्र' शब्द का कोषमूलक अर्थ 'धागा' है।[1] अपने लाक्षणिक अर्थ में यह शब्द धीरे-धीरे ऐसी लक्षण-रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा जो अनेक अर्थ-शृंखलाओं में माला के दानों में धागे की तरह प्रोत रहता है। भारतीय वाङ्मय में सूत्र-साहित्य अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका उत्तरोत्तर विकास 'ज्ञान-विज्ञान' की विविध धाराओं में अर्जित निधि को अधिकाधिक सूक्ष्म शब्द-शरीर में समा लेने की कला के रूप में होता गया। पुरातन समय में जबकि ग्रन्थों के लेखन-प्रकाशन के वैज्ञानिक साधन अनुपलब्ध थे, सूत्र-रचनाओं का महत्त्व बहुत अधिक था। ज्ञान को अविकल सुरक्षित रखने की दृष्टि से अध्येतृवर्ग इन्हें समग्र रूप से कण्ठस्थ कर लेता था।

5.2. सूत्र-कला का स्वरूपात्मक विकास

'सूत्र' रचना का संक्षिप्त होना जहां एक प्राथमिक गुण था, वहीं उसे अर्थ की दृष्टि से अधिकाधिक क्रमबद्ध एवं सुबोध भी होना आवश्यक था। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर 'सूत्र' के लक्षण भी निर्धारित होने लगे, जिनमें यह लक्षण विशेष द्रष्टव्य है :

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

---

1. अमरकोष, का० 2, वर्ग 2, श्लो० 28, 'सूत्राणि नरि तन्तवः'।

अल्पाक्षर होते हुए असन्दिग्ध, सारगर्भ, अर्थगौरवयुक्त, वृत्तगतिक[1] तथा उच्चारणादिसौकर्य से नितान्त सुबद्ध सूत्र-रचना को किसी भी अंश में साधारण कृति नहीं माना जा सकता। इन सभी सूत्र-वैशिष्ट्यों के निर्वाह के लिए सूत्रकार को अनेक विधाओं का आश्रयण करना पड़ा। सूत्रलाघवार्थ प्रयुक्त पाणिनीय विधाओं का परिचय प्रस्तुत अध्ययन में षष्ठ अध्यय में दिया जायगा। यहाँ केवल सूत्रों के 'शेष-शेषी' स्वरूप पर प्रकाश डाला जायगा, जिसके आधार पर सारा सूत्रकुल एक-दूसरे का सहयोग करता हुआ एक सुबद्ध शास्त्र इकाई के रूप में लक्ष्यसिद्धि का साधन बनता है।

5.3. सूत्रों का 'शेषशेषिभाव'

'शेष' शब्द का अर्थ 'पूरक',[2] 'विशेषण', 'अनुक्त',[3] अथवा 'अङ्ग', होता है। 'शेषी', 'आपूर्य', 'विशेष्य', या 'अङ्गी' को कहा जाता है। सूत्र-कुल में जो वाक्य कोई वस्तु प्रतिज्ञा अथवा विधि निर्देश करता है, वह 'शेषी' या 'विधि-सूत्र'[4] कहा जाता है। जो सूत्र 'शेषी' के अभिप्रेत अर्थ की पूर्ति के लिए 'पद' या 'अर्थ' प्रदान करता है, वह 'शेष' सूत्र होता है।

पाणिनीय शास्त्र की दृष्टि से 'शेष-शेषी' सूत्रों का वर्गीकरण निम्न छः रूपों में होगा[5]—

1. शेषी—क. विधि सूत्र,
2. शेष—क. संज्ञा, ख. परिभाषा, ग. नियम, घ. अतिदेश, ङ. अधिकार।

सूत्रों का उक्त प्रकारक विभाजन उनके कार्य की प्रवृत्ति की दृष्टि से किया गया है। पाणिनीय सूत्रों का सही अर्थबोध करने को तथा प्रक्रिया में लक्ष्य में यथास्थान प्रयोग करने को उनकी प्रवृत्ति का परिचय अत्यावश्यक है।

---

1. 'स्तोम' शब्द का अर्थ 'आप्टे' ने 'Stopping' या 'Obstructing' दिया है। इस अर्थ-धारणा से शोधकर्त्ता 'अस्तोम' का अर्थ 'वृत्तगतिक' (circular) लेना 'सूत्र-प्रकृति' के उपयुक्त समझता है।
2. V. 8. Apte, The Student's Sanskrit English Dictionary p. 562.
3. काशिका, (अष्टा० 4.2.92) : 'उक्तादन्यः शेष'।
4. शेषवेंकटाचल शास्त्री, लघुत्रिमुनिकल्पतरु, पृ० 4 : तत्र विधिर्नाम अज्ञातार्थबोधकं वाक्यम्' (देखिए शिवदत्त दाधिमथ—सम्पादित सि० कौ०)
5. संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रमुच्यते ॥

5.4. 'शेषी' अथवा 'विधि-सूत्र'

शब्द-संरचना का निरूपण करने को भिन्न-भिन्न स्तर पर होने वाले प्रत्यय, लोप, आगम तथा वर्णविकार आदि का विधान करनेवाले सूत्र 'शेषी' या 'विधिसूत्र' कहलाते हैं। शास्त्र में उनकी संख्या अन्य सूत्रों की अपेक्षा स्वभावत: अधिक होती है। अष्टाध्यायी में तीन हजार दो सौ छियासी (3286) विधि-सूत्र हैं।

5.5. विधि-सूत्रों के पारस्परिक सम्बन्ध

'सूत्रशास्त्र' कलात्मक रचना होने के नाते अनेक प्रकार की ऐसी तकनीकें अपना कर चलता है जिनसे उनका लाघव और सौन्दर्य भी बना रहे, साथ ही उनकी प्रक्रिया में कोई बाधा भी न आए। शब्द-संरचना की प्रक्रिया के दौर में विधि-सूत्रों में अनेक बार अन्तर्विरोध आते हैं। एक ही लक्ष्य में कभी-कभी अनेक विधियाँ प्राप्त होने लगती हैं। यद्यपि शास्त्रकार उन्हें दूर करने को यथासंभव परिभाषा नियम बनाता है तथापि कुछ ऐसे लौकिक न्याय-समर्थित सिद्धान्त होते हैं जिनके प्रकाश में विधियों के अन्तर्विरोध स्वत: दूर हो जाते हैं। इस प्रकार के न्यायों का ज्ञान शास्त्रकार की सूत्र-रचनाओं से ही ज्ञापित हो जाता है। अन्तर्विरोध को दूर करने वाले लौकिक न्याय या ज्ञापन द्वारा सिद्ध नियम कालान्तर में 'परिभाषा' नाम पा जाते हैं। पारस्परिक अन्तर्विरोधों की दृष्टि से पाणिनीय विधिसूत्र निम्न वर्गों में आते हैं:

(क) उत्सर्गविधि[1] या सामान्य नियम।

(ख) नित्यविधि[2]।

(ग) अन्तरंग विधि[3]।

(घ) अपवाद विधि[4]।

उक्त वर्गों में आने वाले विधि-सूत्रों के अन्तर्विरोध तथा उनके बलाबल का विस्तार से विचार इस पुस्तक के द्वादश अध्याय में हुआ है।

5.6. संज्ञा-सूत्र

भाषा की वाक्यात्मक इकाई का संरचनात्मक विवरण देने को शास्त्रकार

---

1. महा० अ० 1 पा० 1 पस्पशा०, पृ० 44 : 'सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्यः। तद् यथा 'कर्मण्यण्'। तस्यविशेषण अपवादः। तद् 'आतोऽनुपसर्गे कः।'
2. नागेश, परिभा०, पृ० 110, 'कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम् तद्विपरीतमनित्यम्।'
3. वही, पृ० 115, 'अन्तर्मध्ये बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदाय मध्येऽन्तर्भूतानि अङ्गानि निमित्तादि यस्य तदन्तरङ्गम्।
4. महा० अ० 1 पा० 1 पस्पशा० पृ० 44 : 'विशेषेण अपवादः।' तुलना कीजिए—'येन नाप्राप्ते यो विधिरारम्यते स तस्य बोधको भवति' (नागेश, परिभा०, पृ० 169)

संरचनात्मक-प्रक्रिया के स्तरों का निर्धारण करता है। प्रत्येक संरचनात्मक-स्तर पर भाषा के संरचनात्मक उपादानों (प्रकृति-प्रत्यय आदि) का वर्गीकरण किया जाता है। सामान्य-विशेष संरचनात्मक कार्य की दृष्टि से इन उपादानों के भी बड़े और छोटे समुच्चय बनाने होते हैं। इन सभी समुच्चयों का व्याकरणिक कार्य में यथास्थान सम्प्रत्यय करने को शास्त्रकार इनकी सांकेतिक संज्ञाएं करता है। अत: संज्ञा-सूत्रों का विधि-सूत्र के प्रति महत्त्वपूर्ण उपकार तदुपयोगी संज्ञाओं की संपूर्ति करना है। प्रत्येक संज्ञा एक समुच्चय का नाम है जो समुच्चय के सदस्यों का बोध कराती है। अष्टाध्यायी में संज्ञा-सूत्रों की संख्या 279 है।

5.7. परिभाषा-सूत्र

विधि-सूत्रों की प्रवृत्ति में आने वाली संदेहात्मक स्थितियों को दूर करना, आवश्यकतानुसार निश्चित संदर्भ में उनकी पदपूर्ति करना अथवा पदार्थोपस्थिति करना परिभाषा-सूत्र के महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। ये सूत्र विधिसूत्र में केवल शरीर-लाघव ही नहीं लाते अपितु उनकी लक्ष्य में प्रवृत्ति तथा अलक्ष्य से निवृत्ति[1] भी करते हैं। उदाहरण के लिए पाणिनीय विधिसूत्रों द्वारा 'अन्तिम' अथवा 'उपधा' के 'इक्' को गुण-वृद्धि होते हैं। सूत्रकार, यदि प्रत्येक विधि-सूत्र में में 'इकः' पद लगाता है तो सूत्र का प्रारम्भिक लक्षण (अल्पाक्षरता) ही नष्ट होने लगता है। साथ ही, यदि 'गुण-वृद्धि' स्थलों में 'इकः' पद नहीं पहुंचता तो विधिशास्त्र की अनिष्ट प्रवृत्ति अथवा अप्रवृत्ति ही हो सकती है।

सूत्रकार इस समस्या को 'इकोगुणवृद्धी' (अष्टा॰ 1.1.3) परिभाषा बनाकर दूर कर देता है। यह परिभाषा किन्हीं एक दो सूत्रों में नहीं अपितु सम्पूर्ण अष्टा-ध्यायी में जिस किसी विधि-सूत्र द्वारा गुण-वृद्धि पद का उल्लेख करके रूपध्वनि-ग्रामीय परिवर्तन बताया जायगा, वहीं 'इकः' षष्ठ्यन्त पद को उपस्थित कर देगा। इस लघु परिभाषा-सूत्र से अनेक विधि-सूत्रों में वृद्धि का 'स्थानी' सहज ही उपस्थित हो जाता है और सूत्रकार उनमें 'इकः' पद का उल्लेख करने से मुक्त हो जाता है। परिभाषा के इसी वैशिष्ट्य को दृष्टिगत करते हुए पतञ्जलि ने उसे दीपक की उपमा दी है जो एक स्थान पर रहकर भी सम्पूर्ण शास्त्ररूपी भवन को प्रकाशित करता रहता है।[2] अष्टाध्यायी में छत्तीस परिभाषा-सूत्र है।

5.8. पदोपस्थापिका तथा अर्थोपस्थापिका परिभाषा

पाणिनीय परिभाषा-सूत्रों को 'विधि-सूत्र' के साथ उनकी एकवाक्यता की

---

1. नागेश, लघु॰ श॰ (अष्टा॰ 1.1.66-67)
2. महा॰ अ॰ 2 पा॰ 1 आ॰ 1, पृ॰ 314 : "परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती कृत्स्नं शास्त्र-मभिज्वलयति प्रदीपवत् तदयथा— प्रदीपः सुप्रज्वलितएकदेशस्थः सर्वं वेश्माभिज्वलयति।"

शैली को देखते हुए उक्त दो वर्गों में रखा जाता है। इस वर्गीकरण के पीछे कोई मौलिक आधार-रेखा नहीं है। दोनों ही दशाओं में विधिशास्त्रोपयोगी अर्थ समर्पित करना 'परिभाषा' का कार्य है। पदोपस्थिति-पक्ष में परिभाषा-सूत्र विधि-सूत्र में 'प्रवृत्ति-लिङ्ग' के अनुसार आवश्यक पद तुरन्त पूरित करते हैं। अध्येता को उनका कार्यकारी अर्थ-बोध विधि-देश में स्वतः हो जाता है।

5.9. परिभाषा 'विधि' का अंग है 'अनुवाद'[1] का नहीं

'परिभाषा' की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि अन्य सूत्र में आए हुए उसकी प्रवृत्ति के संकेतक (लिङ्ग) जब विधि कोटि में आते हैं तभी परिभाषा प्रवृत्त होती है, संकेतक के 'अनुवाद स्थल' में नहीं। 'अनुवाद' आशय संज्ञादिसूत्र द्वारा उस शब्द का प्रयोग करना है जिसका बोध्यार्थ किसी अन्य सूत्र द्वारा सम्पन्न होता है। अनुवाद-रूप में प्रयुक्त सांकेतिक शब्द परिभाषा का प्रवृत्तिलिङ्ग नहीं हो सकते क्योंकि वहां उनके अंश में विधेयता नहीं होती है। इसी धारणा से यह नियम है कि— 'विधौ परिभाषा उपतिष्ठते नानुवादे।' इस नियम से 'इकोगुणवृद्धी' (अष्टा० 1.1.3) परिभाषा 'अतोगुणे' (अष्टा० 6.1.97), तथा 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' (अष्टा० 1.1.73) आदि अनुवाद-सूत्रों में 'गुण' तथा 'वृद्धि' पद उल्लेख होने पर भी 'इकः' पद को समर्पित नहीं करती। यहां 'गुण' और वृद्धि' शब्द से गुय और वृद्धि की विधि नहीं हो रही अपितु निमित्त या शर्त के रूप में उनका अनुवाद मात्र है।

5.10. 'विधिशेष' परस्पर उपकारक नहीं

विधि का उपकार करने वाले संज्ञादि-सूत्र परस्पर 'शेष-शेषिभाव' नहीं रखते। वे सभी सामूहिक रूप से विधि के अंग होते हैं। यदि उनमें परस्पर 'शेष-शेषिभाव' मान लिया जाय तो अनेक दोषों की संभावना हो सकती है। इस तथ्य को भी 'इकोगुणवृद्धी' (अष्टा० 1.1.3) के उदाहरण से समझा जा सकता है। पतञ्जलि ने इस समस्या को उक्त परिभाषा तथा 'अलोऽन्त्यस्य' (अष्टा० 1.1.52) परिभाषा के 'शेष-शेषिभाव' तथा 'अपवाद-अपवाद्यभाव' के रूप में उठाया है। भाष्यकार का आशय यह है कि यदि उक्त दोनों परिभाषाओं को 'विधि-सूत्र' की आवश्यकता का विचार किए बिना स्वतंत्र रूप से एकवाक्यता का अवसर दे दिया जाय तो उसके दो रूप होंगे।

(क) 'इको गुणीवृद्धी अलोऽन्त्यस्य' अर्थात् इक्स्थानिक गुण और वृद्धि 'अन्त्य अल्' के ही स्थान में हों।

---

1. शेषवेंकटाचल शास्त्री, लघुत्रिमुनिकल्पतरु, पृ० 5 : "प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकवादः— अनुवादः।"

(ख) 'अन्त्यस्य अल: गुणवृद्धी इक:' अर्थात् अन्त्य अल् के स्थान में होने वाले गुण और वृद्धि इक् को ही हों। प्रथम प्रकार में 'इकोगुणवृद्धी' परिभाषा का इक् पद विशेष्य 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा का 'अन्त्य अल्' विशेषण बन जाता है। द्वितीय प्रकार में 'अलोऽन्त्यस्य' का अन्त्य 'अल्' विशेष्य तथा 'इक्' विशेषण बन जाता है। दोनों सूत्रों की उक्त एकवाक्यता को भाष्यकार ने 'तच्छेष'[1] नाम दिया है जिसका अर्थ दोनों का अङ्गाङ्गिभाव है। दोनों प्रकार की स्थिति में अनेक दोष आते हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) प्रथम एकवाक्यता-प्रकार से 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र उपधा के स्थान में गुण और वृद्धि करने वाले विधि-सूत्रों में 'इक:' पद नहीं दे सकेगा क्योंकि 'इक' अन्त में न मिलेगा।[2]

(2) द्वितीय प्रकार से 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र भी गुणवृद्धि विधि में जहां धात्वादि अंग में अन्त्य 'इक्' न होगा वहां अन्त्यादेश का नियम न कर सकेगा क्योंकि उसे तो 'इक्' से बांध दिया गया है और याता, वाता आदि में सर्वादेश गुण की प्राप्ति होगी।[3]

इसी प्रकार दोनों में 'बाध्य-बाधक-भाव' भी मानना लक्ष्य-सिद्धि में बाधक होगा। 'इकोगुणवृद्धी' को 'अलोऽन्त्यस्य' का अपवाद मानने का आशय हुआ कि गुण-वृद्धि सन्दर्भ में 'अङ्गस्य' आदि में स्थानषष्ठी नहीं अपितु अवयवषष्ठी है। अत: वहां 'इक:' पद उपस्थित होगा, 'अलोऽन्त्यस्य' नहीं। अर्थात् इनमें पारम्परिक सहयोग भी नहीं बनेगा। इस पक्ष में भी स्पष्टत: कठिनाई है क्योंकि जितने भी गुण-वृद्धि प्रसंग हैं वे अन्त्य और अनन्त्य 'इक्' का विचार किए बिना प्रवृत्त होंगे। उस दशा में 'ह्रस्वस्य गुण:' (अष्टा० 7.3.108), 'जुसि च' (अष्टा० 7.3.83), 'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' (अष्टा० 7.3.84) आदि में 'अनन्त्यस्य न' यह प्रतिषेध आवश्यक हो जायगा।

उक्त कठिनाई को देखते हुए भाष्यकार ने यही निर्णय किया है कि इन परिभाषाओं में न 'शेष-शेषिभाव' है और न 'अपवाद्य-अपवादक-भाव'।[4] दोनों ही परिभाषाएं स्वतन्त्र रूप से विधि-सूत्र का उपकार करती हैं। यह बात पृथक् है कि कहीं लक्ष्य में अन्त्य 'इक्' होने पर दोनों की समान विधि में एकवाक्यता हो जाय। अतएव 'शेष' सूत्रों के विषय में यह नियम लागू होता है—'गुणानाम् च परार्थत्वात् असम्बन्ध: समत्वात्।'[5] इसका आशय यह है कि गौण अर्थात् अप्रधान

1. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 3, पृ० 119 : "कथं चायं तच्छेष:, कथं वा तदपवाद:।"
2. वही, पृ० 120
3. वही
4. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 3, पृ० 122 : "एवं तर्हि नायं तच्छेष: नापि तदपवाद:।"
5. मनोरमा, पृ० 10

नियमों का परस्पर 'उपकार्योपकारक-भाव' नहीं होता, क्योंकि उनकी स्थिति समता की है। वे सभी 'विधि-सूत्र' की सेवा के लिए बने हैं।

5.11. परिभाषा का लिङ्ग-ज्ञान आवश्यक

परिभाषा को किस विधि-सूत्र के साथ एकवाक्यता करनी है इसका निर्णय करने के लिए परिभाषा की प्रवृत्ति का लिङ्ग-परिचय होना चाहिए, अन्यथा परिभाषा के अयोग्य विधि के साथ एकवाक्यता प्राप्त करने से लक्ष्य-दोष हो सकते हैं। पाणिनि ने परिभाषा-सूत्रों को अत्यन्त सतर्कता से बनाया है ताकि उनके प्रवृति-लिङ्ग का निर्णय सरलता से हो सके। आवश्यकता केवल परिभाषा-सूत्रों के यथार्थ रूप को जान लेने की है। उदाहरणार्थ 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (अष्टा० 1.1.66) और 'तस्मादित्युत्तरस्य' (अष्टा० 1.1.67) इन दो परिभाषाओं को लिया जा सकता है। प्रथम परिभाषा में तस्मिन् इति, निर्दिष्टे, पूर्वस्य, चार पद हैं। 'तस्मिन्' इस पद में सर्वनाम 'तद्' शब्द से औपश्लेषिक अधिकरण में सप्तमी है। सर्वनाम शब्द वक्ता की बुद्धि में स्थित पदार्थ का परामर्श करते हैं। अत: इस सूत्र का 'तस्मिन्'पद पाणिनीय विधिसूत्रों में औपश्लेषिक सप्तम्यन्त पदों का अर्थत: अनुकरण है। इसके आगे प्रयुक्त 'इति' अव्यय 'तस्मिन्' शब्द को स्वरूपपरता से हटाकर तदर्थपरक बनाने में सहायक है। अतएव व्याख्याकार इसे सप्तम्यन्त पदों का अनुकरण[1] मानते हैं। निर्दिष्ट का अर्थ नैरन्तर्येण उच्चरित (अव्यवहित) तथा पूर्वस्य का अर्थ दैशिक रूप से पूर्व में स्थित है। अत: इस परिभाषा-सूत्र का सीधा अर्थ यह होता है—औपश्लेषिकाधिकरणबोधकपदं यत्र(विधौ) तत्र 'निर्दिष्टे पूर्वस्य' इति पदद्वयमुपतिष्ठते। उक्त प्रकारक अर्थबोध अध्येता को स्वयं वह लिङ्ग (पहिचान) बता देता है, जिसके आधार पर यह परिभाषा-सूत्र तत्तद् विधिसूत्र में 'निर्दिष्टे' और 'पूर्वस्य' की सम्पूर्ति करता है; और वह लिङ्ग है विधिसूत्र का औपश्लेषिकाधिकरणबोधक सप्तम्यन्त पद से युक्त होना। परिभाषा-प्रवृत्ति का लिङ्गबोध अनभीष्ट स्थल में उसकी प्रवृत्ति रोकने को आवश्यक है, अन्यथा सूत्रों के अनर्थ होने की आशंका बनी रहती है 'कर्तृकर्मणोः कृति' (अष्टा० 2.3.65) इत्यादि विधिसूत्रों में जहां 'कृति' इत्यादि पदों में 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्'(अष्टा० 2.3.37)द्वारा विहित 'सति सप्तमी' है, वहां यह परिभाषा 'निर्दिष्टे' 'पूर्वस्य' पदों को प्रदान नहीं करेगी, क्योंकि वहां इसका 'प्रवृत्ति-लिङ्ग' नहीं है। प्रवृत्ति-लिङ्ग के अभाव में उक्त विधि-सूत्र में इसकी प्रवृत्ति मानने पर भारी अनर्थ हो जायगा, क्योंकि उस दशा में सूत्र का अर्थ 'कृदन्ते परे अव्यवहितयोः पूर्वयोः कर्तृकर्मणोः षष्ठी' ऐसा होगा। फलत: 'कृष्णस्य कृतिः' 'जगतः कर्त्ता' इत्यादि में तो षष्ठी का प्रयोग

1. सि० कौ० (अष्टा० 1.1.66) तत्वबोधिनी, 'तस्मिन्निति सप्तम्यन्तानामनुकरणमिदम्।

होगा, किन्तु 'कृतिः कृष्णस्य', 'कर्त्ता जगतः' इत्यादि में कदापि न हो सकेगा क्योंकि इन वाक्यों में कर्त्ता तथा कर्म का पहले प्रयोग नहीं है।

इसी प्रकार 'तस्मादित्युत्तरस्य' (अष्टा० 1.1.67) इस परिभाषा में 'तस्मात्' पद अष्टाध्यायी के विधिसूत्रों में स्थित दिग्योग-लक्षण पञ्चम्यन्त पदों का अनुकरण है न कि अपादानलक्षण पंचम्यन्त पदों का। अतः इस परिभाषा का सीधा अर्थ 'दिग्योगलक्षण पञ्चम्यन्तं पदं यत्र (विधौ) तत्र 'निर्दिष्टे उत्तरस्य' इति पदद्वयमुपतिष्ठते होगा। 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (अष्टा० 8.4.61) में 'दिग्योगपञ्चमी' होने से 'उत्तरस्य' और 'निर्दिष्टस्य' पद उपस्थित होते हैं। किन्तु 'नित्यं ङितः' (अष्टा० 3.4.99) में अनुवर्त्यमान 'धातोः' में अपादानलक्षणा पंचमी (कारक-पंचमी) होने से यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती। फलतः इसके द्वारा प्रदत्त 'परस्य' लिङ्ग के आधार पर प्रवृत्त होने वाली 'आदेः परस्य' (अष्टा० 1.1.54) परिभाषा भी नहीं प्रवृत्त होती और 'अलोऽन्त्यस्य' (अष्टा० 1.1.52) के नियम से अन्त्यादेश करने में सुविधा रहती है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा के सन्दर्भ में यह और ध्यातव्य है कि 'आदेश' विषय में यह परिभाषा विधिसूत्र में जब 'उत्तरस्य' अंश उपस्थित करती है तो वहीं 'आदेः परस्य' (अष्टा० 1.1.54) के साथ इसकी एकवाक्यता होती है और फलतः उत्तर के स्थान में विधीयमान आदेश उसके आदि के स्थान में होता है। स्वभावतः प्रश्न हो सकता है कि पाणिनि को दो सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता थी? क्यों न 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः एक सूत्र कर दिया। पाणिनि का दोनों को स्वतंत्र परिभाषा बनाने का उद्देश्य 'तस्मादित्युत्तरस्य' को आदेश-विषय के अतिरिक्त आगम-विषय में भी प्रवृत्त करना है। जहाँ 'आदेः परस्य' परिभाषा लागू नहीं होती।

उक्त प्रकार से एकसूत्र कर देने पर अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ में इसका क्रम-स्थान यदि अष्टा० 1.1.54 रखा जाता तो वहां 'स्थानेऽन्तरतः' (अष्टा० 1.1.50) से स्थाने की अनुवृत्ति होने से 'स्थान-षष्ठी' ही उक्त सूत्र का 'प्रवृत्ति-लिङ्ग' होती। उस दशा में इस परिभाषा की एकवाक्यता से 'आज्जसेरसुक्' (अष्टा० 7.1.50) आदि आगम-स्थल में 'असुक्' भी आदि के स्थान में होगा और तब 'देवासः' 'ब्राह्मणासः' आदि लक्ष्य सिद्ध न हो सकेंगे और 'असुक्' आगम ही व्यर्थ हो जायगा। इसके विपरीत यदि अष्टाध्यायी-सूत्र-क्रम में इसका स्थान अष्टा० 1.1.67 रहे तो यह परिभाषा पर में हो जाने से 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' का अपवाद हो जायगी। तब 'अतोभिसऐस्' (अष्टा० 7.1.9) का 'ऐस' आदेश सम्पूर्ण को न होकर 'भिस्' के आदि वर्ण के स्थान में प्राप्त होगा। सूत्रकार से वस्तुतः पृथक्-पृथक् सूत्र करके दो लाभ उठाए हैं—प्रथमतः 'तस्मादित्युत्तरस्य' सूत्र से अव्यवहित परघटक सम्बन्धी कार्य का नियमन कर दिया। यह कार्य 'आदेश' और 'आगम' कोई भी हो सकता है। द्वितीय, उक्त नियम से परसम्बन्धी आदेश के

विषय में अन्त्यादेश-नियम को रोकने के लिए 'आदेः परस्य' (अष्टा० 1.1.54) सूत्र अपवाद बन जाता है। उसे 'स्थाने' के अधिकार क्रम में पढ़ देने से केवल आदेश-विधि में ही प्रवृत्त होता है। आगम-विधि में 'तस्मादित्युत्तरस्य' ही लगता है, 'आदेः परस्य' नहीं।

5.12. यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम् : कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्

संज्ञा-सूत्र तथा परिभाषा-सूत्र अष्टाध्यायी के सूत्र-क्रम में अपना वही स्थान बनाए हुए सारे शास्त्र के विधि-सूत्रों के साथ सहयोग करते हैं यह मत यथोद्देश पक्ष कहलाता है। वे विधि-सूत्र के स्थान पर जा पहुँचते हैं यह मत कार्यकाल पक्ष कहा जाता है। पाणिनि ने स्व-शास्त्रोपयोगी संज्ञा और परिभाषाओं को अष्टाध्यायी के आरम्भिक दो अध्यायों में संकलित किया है। अष्टाध्यायी-सूत्र-क्रम की दृष्टि से सूत्रों का अध्ययन करते हुए संज्ञा और परिभाषाओं के विषय में अध्येता की स्वभावतः यह जिज्ञासा होती है कि वे कौन से विधि-सूत्र हैं जिनके साथ एकवाक्यता पाकर अधीयमान संज्ञा तथा परिभाषा-सूत्र लक्ष्योपयोगी वाक्यार्थ देते हैं। अध्येता की यह जिज्ञासा संज्ञा परिभाषा-स्थलों में ही विधि-सूत्रों की चर्चा का आमंत्रण है। यह जिज्ञासा तभी शान्त होती है जब विचाराधीन संज्ञा तथा परिभाषाओं से एकवाक्यता पाने वाले विधि-सूत्र वहां उपस्थित हो जायें। यद्यपि पूरे शास्त्र में यत्र-तत्र सन्दर्भ-विशेषों में संगृहीत सभी अपेक्षित विधि-सूत्रों का किसी संज्ञा या परिभाषा के अर्थबोध-क्षण में उपस्थित हो पाना संभव नहीं है, तथापि जो भी विधि-सूत्र उपस्थित हो जाते हैं उन्हीं से संज्ञा तथा परिभाषा 'एक-वाक्यता' प्राप्त कर लेते हैं। जो विधि-सूत्र उपस्थित नहीं भी होते हैं उनके साथ एकवाक्यता की सामान्य धारणा प्रस्तुत विधि-सूत्रों के सादृश्य से कर ली जाती है। इसके विपरीत अध्ययन का वह क्रम है जिसमें संज्ञा और परिभाषा का ज्ञान भावी प्रयोजन की संभावना-मात्र से चलता रहता है। विधि-सूत्रों में जब कभी पठित संज्ञा-पद दृष्टिगत होता है अथवा पठित परिभाषा का 'प्रवृत्ति-लिंग' दिखाई देता है तो अध्येता के स्मृति-पटल पर पूर्व-पठित संज्ञा और परिभाषा के वाक्यार्थ उद्भूत हो जाते हैं और वह उन अर्थों से एकवाक्यता करके लक्ष्य-सिद्धि करता है।

वस्तुतः संज्ञा और परिभाषा के विषय में उक्त दोनों पक्ष अधिक तकनीकी महत्त्व नहीं रखते। ये केवल अध्येता की दो प्रकार की मनोवृत्ति पर आधारित शास्त्र के अध्ययन की दो दिशाएं हैं।[1]

---

1. S. D. Joshi, 'Two Methods of Interpreting Panini', p. 53 : "There are two ways of studying, the Paninian system—the 'Analytic Method' (*Yathoddesa Paksa*) and the→

पाणिनीय व्याख्याकारों ने कहीं-कहीं लक्ष्य-सिद्ध की दृष्टि से कार्यकाल-पक्ष को अधिक स्वच्छन्दता की दृष्टि से देखा है। उन्होंने कार्यकाल-पक्ष मानकर पाणिनीय संज्ञा परिभाषा सूत्रों के पाठ-क्रम को भी विधि-सूत्र के क्रमस्थल में पहुँचा कर उनके पूर्वत्व-परत्वमूलक अन्तर्विरोध को दूर करने का प्रयास किया है। यद्यपि यह उदार प्रयास भाष्यकार पतञ्जलि द्वारा समर्थित है, और सन्देह नहीं कि सूत्रों के क्रम-परिवर्तन की यथेच्छ छूट मिलने से अनेक लक्ष्यवाधक अन्तर्विरोध दूर हो सकते हैं। किन्तु पाणिनि की 'सूत्रचतु: सहस्त्री' जिस पौवापर्य की योजना से ग्रथित है उसे देखते हुए कार्यकाल-पक्ष को सूत्रकार-सम्मत नहीं ठहराया जा सकता। उसके सूत्र-शास्त्र में यथोद्देश पाठ के आधार पर सूत्रों के बलाबल तथा सिद्धासिद्धत्व का निर्णय होता है।[1] अत: कार्यकाल-पक्ष का प्रयोग शास्त्र की सीमा में रहकर ही करना उचित है। 'कार्य काल' दृष्टि से पाणिनीय सूत्रों को प्रकरणात्मक योजना में डाल कर भी प्रक्रिया-ग्रन्थों के द्वारा सूत्रकार के यथोद्देश पाठ का कोई व्याघात न किया जाना उक्त धारणा की ही पुष्टि करता है। अष्टाध्यायी के संरचना-विधान की अवेक्षा करके यह निष्कर्ष मिलता है कि पाणिनि का सूत्र-शास्त्र अपनी स्वरूप-शैली से कार्यकाल-पक्ष का उस अंश में समर्थन नहीं कर सकता जो उसके यथान्यास सूत्र-पाठ को आघात पहुंचाता हो। पाणिनि की रचना अपने स्वरूप में संश्लिष्ट कृति है और उसके अध्ययन का यथार्थ महत्त्व भी उसी दिशा में है। पाणिनीय शास्त्र के आधुनिक अध्येता को आवश्यक है कि वह अष्टाध्यायी का यथार्थ मूल्य समझने को संरचनात्मक भाषाविज्ञान की आधारभूत प्रवृतियों को समझे और साथ ही सूत्रकार द्वारा अपनाई गई शास्त्रीय तकनीक का यथार्थ परिचय प्राप्त करे। यथोद्देश-पक्ष के अध्ययन का यह अर्थ नहीं कि अध्येता विना सतर्क दृष्टि बनाये सूत्र-शास्त्र को कण्ठस्थ करता रहे और उसकी प्रयोग-विधा के प्रति जागरूक न रहे। अष्टाध्यायी का अध्ययन जैसे-जैसे कार्यकालपक्ष की स्वेच्छाचारिता का विषय बना है वैसे ही वैसे उसका

'Synthetic Method' (*Karyakala Paksa*) The Paribhasas—Yathoddesam Samjna Paribhasam and Karyakalam Samjna Paribhasam lay down the two standard methods by which the rules of p: could be interpreted."

तुलना कीजिए, कैयट, प्रदीप (महा० अ० 1 पा० 1 आ० 5, पृ० 165)

1. तुलना कीजिए, S. D. Joshi, Two Methods of Interpreting Panini, p. 54 : "If Panini's rules are studied where they are mentioned following the method prescribed the *Yathoddesa Paksa* they remain ambiguous to the students of grammar."

वैज्ञानिक स्वरूप क्षीण होता गया है।[1] अष्टाध्यायी का अध्ययन व्याकरण के मनमाने ढंग से विकीर्ण कतिपय नियमों के द्वारा भाषा-परिचय पाना नहीं है, अपितु यह एक भाषावैज्ञानिक पद्धति का अध्ययन है।

5.13. नियमसूत्र

चतुर्थ प्रकार नियम-सूत्रों का है।[2] सामान्य शास्त्र के प्रवृत्तिविषय में संकोच कर देने वाला सूत्र 'नियम-सूत्र' होता है। किसी व्यापक नियम से स्वतः सिद्ध कार्य के लिए, उसी के प्रवृत्ति-क्षेत्र में कोई विशेष नियम बनाया जाय तो वह व्यापक नियम की प्रवृत्ति का नियमन (संकोच) कर देता है। अर्थात् व्यापक-सूत्र व्याप्य-सूत्र के प्रवृत्ति से अतिरिक्त अंश में उस दिशा में अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता। जैसे 'पूर्वत्रासिद्धम्' (अष्टा० 8.2.1) सूत्र पूर्व के प्रति पर को असिद्ध करता है। इसके बाद 'नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति' (अष्टा० 8.2.2) सूत्र से निर्दिष्ट विधियों में नलोप का असिद्ध-वचन किया गया है, जोकि नलोप के 'त्रिपादी' में होने से स्वतः सिद्ध है। अतः व्यर्थ होकर यह सूत्र नियम करता है कि 'नलोप' की असिद्धता, केवल 'सुब्विधि' आदि में अभीष्ट है, अन्यत्र नहीं। अतः इनके अतिरिक्त अन्य पूर्वविधियों में 'नलोप' असिद्ध करने को 'पूर्वत्रासिद्धम्' (अष्टा० 8.2.1) प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'अर्थवत्' (अष्टा० 1.2.45) सूत्र से सामान्यतः सभी 'अर्थवत्' शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा विहित है। इतने पर 'कृत्तद्धित' (अष्टा० 1.2.56) सूत्र से समास की प्रातिपदिक संज्ञा विशेष रूप से कहना पूर्व-सूत्र के तात्पर्य में संकोच कर देता है। फलतः यह नियम निकलता है—अर्थवत्-समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा हो तो केवल समास की ही हो 'राज्ञः पुरुषः' आदि वाक्य को न हो। स्पष्ट है कि समासातिरिक्त 'अर्थवत्' वाक्य की प्रातिपदिक संज्ञा न होगी। समासातिरिक्त अर्थवत् समुदाय में पूर्व सूत्र अनुपस्थित रहेगा। अनभीष्ट स्थलों मे सामान्यसूत्र की प्रवृत्ति रोकने को तथा अभीष्ट स्थल में तद्विहित कार्य सिद्ध करने को नियम-सूत्र बने हैं। अष्टाध्यायी में नियमसूत्रों की संख्या 217 है।

---

1. D. N. Shastri, 'Re-Appraisal of Panini,' Gopinath Kaviraj Abhinandan Grantha, p. 297 : "In the orthodox circles, of course, Panini's work continues to be studied in the form called Prakriya as found in the Siddhanta Kaumudi, which although serving a practical purpose, is nothing but distortion of the scientific arrangment of Paninis work."
2. शेषवेंकटाचल, शास्त्री लघुत्रिमुनिकल्पतरुः, पृ० 4 (दाधिमथ सम्पादित सि० कौ०) 'नियम विधि। —इतरव्यावृत्तिफलकोविधिः'।

5.14. नियम तथा अपवाद का अन्तर

नियम-सूत्र सामान्य सूत्र के उद्देश्यता-विषय को संकुचित करता है जबकि अपवाद अपने उद्देश्यता-विषय में 'उत्सर्ग को सर्वथा प्रवेश नहीं पाने देता। जैसे 'अक : सवर्णे दीर्घ:' (अष्टा० 6.1.101) अपने विषय में 'इको यणचि' (अष्टा० 6.1.77) को दूर रखता है, अतएव यह निष्कृटार्थ होता है—प्रकल्प्य चापवाद-विषयं तत उत्सर्गः प्रवर्तते।

5.15. अतिदेश-सूत्र

पंचम प्रकार अतिदेश सूत्रों का है। अष्टाध्यायी के इनकी संख्या 118 है। इन सूत्रों का कार्य आरोप करना है। सूत्रकार ने यह उपाय भी अतिशय संक्षितप्ता लाने को ही किया। अपने सूत्रों द्वारा कुछ विशेष पूर्व-पर निमित्तों के योग में विहित कार्यों को कुछ विशेष स्थल में साधने के लिए तद्वत्व का आरोप कर डाला है। उदाहरण के लिए सूत्रकार ने अपनी शास्त्रीय शैली में तय किया कि जिन प्रत्ययों के योग में अजन्त 'अंग' को 'वृद्धि' करनी है वहां वह' 'ञ्' अथवा 'ण्' अनुबन्ध लगायेगा; जैसे—कृ+ण्वुल्=कारक में देखा जा सकता है। किन्तु कुछ ऐसी भी शब्द रचनायें रहीं जिन्हें निष्पन्न करने को 'अंग' के 'अच्' को वृद्धि करना ही एकमात्र रास्ता है; अथवा सुविधाजनक है किन्तु वृद्धि करने को तद्विहित प्रत्यय में 'ञ्' अथवा 'ण्' अनुबन्ध जोड़ा जाना उसकी शास्त्रशैली में सम्भव नहीं है क्योंकि उससे अनेक कठिनाइयां उपस्थित हो सकती हैं। ऐसी उलझनपूर्ण स्थिति में सूत्रकार प्रत्यय को 'णित्' करने के लिए अतिदेश सूत्र बनाकर काम चलाता है। जैसे 'गो' शब्द के, गौ:, गावौ, गाव: (प्रथमा) तथा गावौ (द्वि० द्वि० व०) के लिए वह इन रूपों के बनाने वाले प्रत्ययों को 'गोतो णित्' (अष्टा० 7.1.90) सूत्र से णिद्वत् बता देता है। इस अतिदेश-शैली से वह सहज ही शास्त्र को बिखरने से बचा लेता है। सूत्रकार का यह मनमाना शब्द-नाटक अपने समर्थन में ध्वनि-विज्ञान का सिद्धान्त तनिक भी नहीं रखता और निश्चित ही उसके यहां दांव-पेच व्याकरण के उन अध्येताओं को भारी हैरानी में डाल देते हैं जिनकी न तो संस्कृत मातृभाषा है और न ही इस तरह के सूत्र-विज्ञान का कोई परिचय रहा है। परन्तु यह सब होने पर भी सूत्रकार को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। कारण यह है कि सूत्रकार ने यह प्रतिज्ञा कहीं नहीं की है कि वह भाषा-ध्वनियों के परिवर्तन की अथवा शब्दों या अर्थों के रूपान्तरण की कोई उद्योगशाला खोल रहा है जहां सारे शब्दों को यथायोग पुर्जे देने में वह समर्थ हो सकेगा। उसके शास्त्र का मुख्य विषय तो मूल-शब्द का भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में स्वयंसिद्ध रूप समझ लेना है। पाणिनि का सारा सूत्र-शास्त्र ही बीजगणितीय रीति से संरचना उपादानों का व्यवस्थापन और संरचना-प्रक्रिया का वर्णन है। जो आचार्य-तत्तत्

प्रत्ययों में मनमाने अनुबन्ध अपनी शास्त्रीय योजना अनुसार लगा सकता है वह उन्हें कुछ विशेष प्रक्रियासिद्धि के लिए अतिदिष्ट भी कर सकता है। यदि सूत्रकार को यह विशेषाधिकार न दिया जाय तो भाषाशास्त्रीय ढंग से समस्त शब्द-कुल का अन्वाख्यान ही सम्भव न होगा।

5.16. सप्तप्रकारक अतिदेश

पाणिनीय सूत्र-शास्त्र में सात प्रकार[1] का अतिदेश मिलता है—

(1) **निमित्तातिदेश**—यथा 'पूर्ववत्सन:' (अष्टा० 1.3.62) इस सूत्र से 'सन्' होने से पूर्व शुद्ध धातु से जैसे यथायोग' 'परस्मैपद,' 'आत्मनेपद,' होते हैं वैसे ही सन्नन्त से विहित हैं। अत: सन्नन्त में आत्मनेपदादि की निमित्तता का अतिदेश है।

(2) **व्यपदेशातिदेश**—यथा 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (अष्टा० 1.2.21) जिसके वास्तविक रूप में आद्यान्तावयव नहीं है उस अकेले में आद्यन्त दोनों प्रकार के व्यपदेश की छूट देता है।

(3) **तादात्म्यातिदेश**—'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' (अष्टा० 2.1.2) यह सूत्र विशेष कार्यों की निष्पत्ति के लिए 'आमन्त्रित' परे होने पर पूर्ववर्ती 'सुबन्त' को आमन्त्रितवत् कर देता है अर्थात् वह पद आमन्त्रित न होते हुए भी आमन्त्रित समझ लिया जाता है। फलस्वरूप उसे 'आमन्त्रित' को होने वाले व्याकरणिक कार्य प्राप्त होते हैं, जैसे 'मद्राणां राजन्' आदि में पूर्व सुबन्त के आमन्त्रितवत् होने से उसे 'आमन्त्रितस्य च' (अष्टा०6.1.198) से आदि उदात्त होता है।

(4) **शास्त्रातिदेश**—'कालेभ्यो भववत्' (अष्टा० 4.2.34) अतिदेश सूत्र 'तत्रभव:' अधिकार में पठित तत्तत् कालवाची शब्दों से प्रत्यय-विधान करने वाले सूत्रों का 'साऽस्य देवता' (अष्टा० 4.2.24) अर्थ में अतिदेश करता है। अतएव 'कालाट्ठञ' (अष्टा० 4.3.11) सूत्र से विहित भवार्थक 'ठञ्' कालवाची 'मास' शब्द से 'मासो देवतास्य' इस अर्थ में होकर 'मासिक' बनता है। 'प्रावृड्देवताऽस्य' इस अर्थ में 'एण्य' होकर 'प्रावृषेण्य' बनता है। यदि यहां 'कार्यातिदेश' मान लें तो प्रकृति-प्रत्यय का सांकर्य होने का भय है अर्थात् किसी भी कालवाची से कोई भी भवार्थक प्रत्यय होने लगेगा और तब मास शब्द से भी 'एण्य' होगा जो अभीष्ट नहीं है।

(5) **कार्यातिदेश**—'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (अष्टा० 1.1.56) यह सूत्र आदेश को 'स्थानिवत्' कर देता है। फलत: 'स्थानी' के होते जो व्याकरण-कार्य सम्भव हैं वे सभी आदेश पर भी लागू हो सकते हैं; जैसे 'रामाय' में 'यञादि सुप्' के होने पर जो दीर्घादि कार्य हो सकते थे उनका अतिदेश होता है।

1. मनोरमा, पृ० 184-86

(6) **रूपातिदेश**—'तृज्वत्क्रोष्टुः' (अष्टा० 7.1.95) इस सूत्र से 'क्रोष्टु' शब्द को 'क्रोष्टृ' रूपातिदेश होता है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पाणिनीय सूत्र-शास्त्र में अतिदेश सूत्रों का कितना अधिक महत्व है। कहां पर कैसा अतिदेश है, सूत्रकार इस विषय में मौन है। उसके अध्येता और व्याख्याकारों को यह समझ पाना कि कहां, कैसा अतिदेश लक्ष्योपयोगी है, कठिन नहीं था।

(7) **अर्थातिदेश**—'स्त्री पुंवच्च' (अष्टा० 1.2.66) आदि सूत्र से जहां 'स्त्री-' लिंग शब्द को 'पुंवद्' भाव होता है तथा 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (अष्टा० 1.2.58) आदि द्वारा जहां एकबचन में बहुवचन का अतिदेश बताया गया है वहां अर्थातिदेश मानना होता है। यदि केवल शब्द के रूप का अतिदेश माना जाय तो अतिदेशी में रहने वाले 'स्त्रीत्व' और 'एकवचनत्व' आदि पर आधारित विधियां प्राप्त होंगी। उदाहरणार्थ—'गार्गी च गार्ग्यायणौ च गर्गाः' में स्त्रीभिन्न विषय में बहुवचन में होने वाला 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' (अष्टा० 2.4.62) का लोप प्रवृत्त न होगा; क्योंकि 'अर्थातिदेश' न मानने पर केवल शब्द ही 'पुंवत्' हुआ है, अर्थ तो 'स्त्रीत्व'-विशिष्ट ही है। ऐसे ही जाति पदार्थ की दृष्टि से एक में बहुवचन का अतिदेश यदि केवल रूप का अतिदेश माना जाय तो अर्थ के एकवचन रहने से 'हरिभ्यः' आदि में 'घेर्ङिति' (अष्टा० 7.3.111) से गुण की प्रवृत्ति होने लगेगी। अतः उक्त संदर्भों में अर्थातिदेश मानना आवश्यक है।[1]

5.17. अधिकार-सूत्र

अधिकार सूत्रों की संख्या 47 है।

'पतञ्जलि' ने अधिकार का महत्व 'प्रत्येक सूत्र में पद की आवृत्ति से बचना'[2] बताया है। उसके दिये गये विवरण से उत्तरोत्तर सूत्रों में अपना पद या पदार्थ समर्पण करने वाला सूत्र 'अधिकार' होता है। पाणिन ने अग्रिम-सूत्रों में अनुवृत्ति के लिए अधिकृत पदों को स्वरित बताया है।[3] यह स्वरित 'अज्झल्' साधारण (अच्, हल् दोनों में रहने वाला) उच्चारण-दोष-विशेष[4] अथवा कोई कृत्रिम चिह्न प्रयोग था। आज के अध्येता को स्वरितत्व-ज्ञानार्थ व्याख्याता की प्रतिज्ञा पर निर्भर रहना होता है[5] क्योंकि वर्तमान सूत्रपाठ-परम्परा में न तो

1 महा०, अ० 1 पा० 2 आ० 2, पृ० 66 : 'अर्थातिदेशात्सिद्धम्'

2. वही, अ० 2 पा० 1 आ० 1, पृ० 314 : 'अधिकारः प्रतियोगंतस्यानिर्देशार्थ इति योगे-योगे उपतिष्ठते।"

3. स्वरितेनाधिकारः (अष्टा० 1.3.11)

4. नागेश, लघु० श० (अष्टा० 1.3.11) : 'स्वरितं चेदं दोषविशेषरूपं अज्झल्साधारणं स्वररूपपदघटकाज्निष्ठं वा।'

5. काशिका (अष्टा० 1.3.11) : 'प्रतिज्ञा स्वरिताः पाणिनीयाः'।

'स्वरित' का उच्चारण होता है और न 'सूत्र-घटक' पदों पर तत्सूचक चिह्न का प्रयोग है। साथ ही पाणिनीय रीति से भी अनुवृत्तिविषयक समस्या का पूरा समाधान नहीं था। 'स्वरित' चिह्न से यह जान लेने पर भी कि अमुक पद का आगे के सूत्रों में अधिकार कर दिया गया है, यह स्पष्ट नहीं था कि उस अधिकार की सीमा क्या होगी ? अन्ततः अध्येता को पुनः प्राकरणिक अवेक्षा पर निर्भर रहना पड़ता था। किन्तु यह सब होते हुए भी स्वरित-चिह्न अध्येता का पद-विशेष के प्राकरणिक महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट करने में अवश्य सफल उपाय था। अतएव पदों की अनुवृत्ति और निवृत्ति दोनों को व्याख्यान के हाथ छोड़ देने पर भी कात्यायन ने अधिकार की उपयोगिता स्वीकार की है। इसे उसने 'अधिकार-गति'[1] नाम दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि अनेक सूत्रों में कुछ पदों से पूरे प्रकरण विशेष के प्रत्ययादि का ग्रहण करना होता है। वह तभी सम्भव है कि जब उन पदों की 'स्वरित' द्वारा 'अधिकार'-प्रतिज्ञा की गई हो। उदाहरणार्थ 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (अष्टा० 1.2.48) सूत्र स्त्रीपद से समस्त स्त्री प्रत्ययों का ग्रहण करता है न कि 'स्त्री' शब्द का। यह तभी सहज सम्भव है कि जब 'स्त्रियाम्' का 'स्वरितेन' अधिकार माना जाय और उक्त सूत्र में भी स्त्रीग्रहण को स्वरित किया जाय।

5.18. अधिकार के प्रवृत्ति-मूलक-भेद

अधिकार-सूत्र अपनी प्रवृत्ति-दिशा के आधार पर पांच रूपों में वर्गीकृत हो सकते हैं :

(क) संज्ञाधिकार; जैसे—'कारके' (अष्टा० 1.4.23)
(ख) परिभाषाधिकार; जैसे—'समर्थानां प्रथमाद् वा' (अष्टा० 4.1.82)
(ग) विषयाधिकार या प्रकरणाधिकार; जैसे—'आर्धधातुके' (अष्टा० 2.4.35)
(घ) प्रत्ययाधिकार; जैसे—'प्राग्दीव्यतोऽण्' (अष्टा० 4.1.83)
(ङ) असिद्धाधिकार; जैसे, 'असिद्धवदत्राभात्' (अष्टा० 6.4.22)

5.19. शब्दाधिकार तथा अर्थाधिकार का अभिप्राय

अष्टाध्यायी सूत्रों में किस प्रकार उत्तरोत्तर सूत्रों में अनुवृत्ति के लिए पद को स्वरित समझा गया है उसी प्रकार लक्ष्यानुरोध से कहीं-कहीं पद के अर्थ में ही स्वरित प्रतिज्ञा करनी होती है। ऐसा करने से लक्ष्योपयोगी अर्थ की व्याप्ति बढ़ाने में सहायता मिल जाती है। उदाहणार्थ—'बहुगणवतुडति संख्या' (अष्टा० 1.1.23) सूत्र से आगे 'ष्णान्ता: षट्' (अष्टा० 1.1.24) में संख्या का

1. महा०, अ० 1 पा० 3 आ० 1, पृ० 146 : 'स्वरितेनाधिकारगतिर्भवतीति विज्ञायेत।'

अधिकार जाता है। यहां यदि 'संख्या' शब्द का अधिकार माना जाय तो कृत्रिम 'बहुगण' आदि का 'संख्या' पद से बोध होगा जो कि असंगत है क्योंकि वे 'षान्त' 'नान्त्' नहीं होते। अतः यहां लक्ष्यानुरोध से 'संख्या' अर्थ का अधिकार माना जाता है। इसी प्रकार 'तस्मिन्निति निर्दिष्टेपूर्वस्य' (अष्टा० 1.1.66) सूत्र से 'तस्मादित्युत्तरस्य' (अष्टा० 1.1.67) में अनुवर्त्यमान 'निर्दिष्टे' सप्तम्यन्त का पदाधिकार न मानकर 'निर्दिष्ट' अर्थ का अधिकार मान लिया जाता है। इससे द्वितीय सूत्र में अन्वय योग्य 'षष्ठी' का अर्थ प्राप्त होता है।

5.20. उक्त वर्गीकरण का आधार

सूत्रों का षोढा-विभाजन उनकी प्रवृत्ति के आधार पर किया गया है। पाणिनि ने उक्त प्रकार के वर्गीकरण पर आधारित पर 'अथ संज्ञाः'; 'अथ परिभाषाः' की रीति से इनका प्रकरणात्मक परिचय नहीं दिया है। इससे सूत्रों का अर्थबोध करने में कुछ कठिनाई उपस्थित हुई। पतञ्जलि में अनेक सूत्रों में उनके संज्ञा-सूत्र, विधि-सूत्र अथवा अतिदेश आदि भेदों का सन्देह व्यक्त किया है। अन्त में प्रकरण, व्याख्यान अथवा सूत्रकार की शैली की सहायता से सूत्र का स्वरूप-निर्धारण होता है।

5.21. उक्त वर्गीकरण का अष्टाध्यायी-सूत्रों में संकेत

उपर्युक्त वर्गीकरण के सम्बन्ध में पाणिनि के संकेत निम्नलिखित हैं—

संज्ञा-सूत्र के सम्बन्ध में पाणिनि—पाणिनि ने विधि-शेष प्रकरण के आरंभ में 'अथ संज्ञा-परिभाषम्' का अधिकार न करते हुए भी यह सूचित कर ही दिया है कि इस प्रकरण में 'संज्ञा' का ही अधिकार है क्योंकि 'आकडारादेका संज्ञा' (अष्टा० 1.4.1) सूत्र से वह 'एक की एक ही' संज्ञा का नियम बताता है। अतः स्पष्ट है कि सूत्रकार इस प्रकरण को संज्ञा-प्रधान ही मानता है।

परिभाषा के सम्बन्ध में पाणिनि—पाणिनि ने अपने किसी सूत्र में 'परिभाषा' का शब्द का प्रयोग नहीं किया है जिससे यह कहा जा सके कि वह कुछ विशेष सूत्रों को परिभाषा नाम देना चाहता है। परन्तु उसके सूत्रों की संरचना से पारिभाषा सूत्रों को सहज पृथक् देखा जा सकता है। सूत्रकार संज्ञा-सूत्रों में उद्देश्य-विधेय दोनों में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रथमान्त पद का ही प्रयोग करता है जैसे, 'वृद्धिरादैच्' (अष्टा० 1.1.1), 'अदेङ्गुणः' (अष्टा० 1.1.2), 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (अष्टा० 1.1.27) आदि। 'स्वं रूपं शब्दस्या शब्द संज्ञा' तथा 'अणुदित सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (अष्टा० 1.1.69) आदि जिनमें दोनों का प्रथमान्त कर देने से अभीष्ट अर्थ नहीं निकल पाता क्योंकि यहां जिन तत्त्वों में 'संज्ञा-संज्ञि' भाव बिठाया जा रहा है उनमें तादात्म्य स्थापित करना अभीष्ट नहीं है। अर्थात् यह संज्ञाकरण 'नाम और नामवान्' का न होकर केवल 'बोध्य और

बोधक' का है। अतः भेद होने से षष्ठी ही उचित है। ये दोनों सूत्र तथा 'तपरस्तत्कालस्य' (अष्टा० 1.1.70) कोई गुण-वृद्धि जैसी संज्ञा परिभाषित नहीं करते। अपितु पाणिनीय शास्त्र में व्याकरणिक शब्द तथा वर्णों के 'संज्ञान' की दिशा का निर्देश करते हैं। अतः अपनी प्रवृत्ति से ये परिभाषा के बहुत निकट हैं।

अस्तु, पाणिनि के व्याख्याता, भाष्यकार आदि जिन सूत्रों को 'परिभाषा' शब्दों से व्यवहार करते हैं उनके विषय में पाणिनीय रीति से सोचा जाय। 'इको गुणवृद्धी' (अष्टा० 1.1.3), 'षष्ठी स्थानेयोगा' (अष्टा० 1.1.49) आदि सूत्रों का उनके प्रकरण में अर्थ देखने पर स्पष्ट मालूम होगा कि यह सूत्र स्वयं में न तो 'संज्ञा-संज्ञि-भाव' बता रहे हैं और न ही कोई आदेश आदि का विधान ही कर सकते हैं, क्योंकि आदेशादि विधान के लिए 'स्थानी' और 'निमित्त' दोनों का उल्लेख आवश्यक है। अतः स्पष्ट है कि सूत्रकार इन सूत्रों का 'विधि-शेष' के रूप में उल्लेख कर रहा है ताकि कार्य विधायक-सूत्रों में अङ्ग बनकर ही ये उपस्थित हों अथवा अपना अर्थ उपस्थित कर दें। अतिदेश, अधिकार और नियम भी यह नहीं हैं, अतः इन्हें 'परिभाषा' नाम दिया गया है।

विधि-सूत्र के सम्बन्ध में पाणिनि : पाणिनि ने अपने अनेक सूत्रों में 'विधि' शब्द का उल्लेख व्याकरण-प्रक्रिया में आदेशादिविधान के लिए किया है। उदाहरण के लिए स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (अष्टा० 1.1.56), 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' (अष्टा० 1.1.57), नपदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वार दीर्घजश्चर-विधिषु (अष्टा० 1.1.58), 'नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति' (अष्टा० 8.2.2) इत्यादि सूत्रों से पर्याप्त स्पष्ट है कि आदेश आदि विधायक-शास्त्रों को शास्त्रकार 'विधि-सूत्र' मानता है।

नियम-सूत्र के सम्बन्ध में पाणिनि—सूत्रकार ने स्वयं किसी सूत्र का 'नियम सूत्र' के नाम से उल्लेख नहीं किया है केवल प्राप्त-विधि का संकोच कर देने वाले सूत्रों को 'नियम'-सूत्र का व्यवहार होता है।

अतिदेश के सम्बन्ध में पाणिनि—सूत्रकार ने 'अतिदेश' शब्द का किसी सूत्र में प्रयोग नहीं किया है। परन्तु उसी के सूत्र 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (अष्टा० 5.1.115) सूत्र से 'अतिदेश' की परिभाषा समझी जा सकती है तथा उसे संज्ञा आदि प्रकारों से बाहर देखा जा सकता है।[1] साधारणतः अतिदेश में 'गुरुवद्गुरुशिष्ये' लौकिक व्यवहार के अनुसार क्रिया-अतिदेश होना चाहिए[2] परन्तु पाणिनीय शास्त्र में पूर्वोक्त सप्त प्रकारक अतिदेश देखा जाता है।

1. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 8, पृ० 288 : "वत्करणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति। स्थानिकार्यमादेशे अतिदिश्यते 'गुरुवद्गुरुपुत्रे' इति यथा।"

2. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 8, पृ० 290 : "स्थान्यादेशपृथक्त्वादादेशे स्थानिवदनुदेशो गुरुवद् गुरुपुत्र इति यथा।"

पाणिनीय सूत्र-शास्त्र में अतिदेश केवल 'वति-प्रत्यय-घटित' सूत्रों के द्वारा ही नहीं किया गया है। कहीं-कहीं अध्येता के सामान्य ज्ञान पर ही अतिदेश का परिज्ञान छोड़ा गया है। जैसे—'सार्वधातुकमपित्' (अष्टा० 1.2.4) सूत्र से 'अपित्' सार्वधातु को 'ङित्' कहा गया है। ऐसे संदर्भों में तद्भिन्न को तद्रूप से उल्लेख कर देने मात्र से अतिदेश-बोध होता है। अतः जहां कहीं 'वति' प्रत्यय के बिना भी अतिदेश-बोध सहज सम्भव है, सूत्रकार ने उसका लाभ उठाया है।[1] किन्तु जहां संज्ञा-प्रकरण है अथवा जहां 'वति' प्रत्यय के बिना अतिदेशबोध दुष्कर है वहां 'वति' प्रत्यय अवश्य लगाया गया है; जैसे—स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (अष्टा 1.1.56) तथा 'अन्तादिवच्च' (अष्टा० 6.1.85)।

5.22. सूत्रों की एकवाक्यता

सूत्रों के षोढा विभाजन का आधार उनका 'शेषशेषिभाव' बताया गया है। शेष-कोटि के संज्ञा आदि सूत्र 'शेषी' विधि-सूत्र में यथायोग 'पद' अथवा 'पदार्थ' की उपस्थिति करा देते हैं। अपने 'शेष' सूत्रों से अपेक्षित पद अथवा पदार्थ पाकर विधि-सूत्र का 'द्विपदीय' या 'त्रिपदीय' शरीर देखते ही देखते परिपूर्णार्थक 'वाक्य' में बदल जाता है और अध्येता को लक्ष्य-संस्कारक अर्थ का बोध करने में कठिनाई नहीं होती। 'शेष' और 'शेषी' की इस प्रकार की पद या पदार्थ की 'अन्विति' एकवाक्यता[2] कहलाती है।

पाणिनीय सूत्रों का विना 'वृत्ति' और व्याख्यानों के त्वरित अर्थबोध के लिए 'एक वाक्यता' की विधा का ज्ञान अत्यन्त उपयोगी है। वस्तुतः तत्तद् दूरस्थ-सूत्रपाठक्रम में पठितसूत्रों का 'एकवाक्यतात्मक' सम्बन्ध ही तो सूत्र-शास्त्र की कला है। इसके अभाव में 'शेष' और 'शेषी' अलक्ष्यसंस्कारक, असम्बद्ध, अर्थहीन शब्द के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'एकवाक्यता' के व्यावहारिक रूप को निम्न उदाहरणों से अनुमित किया जा सकता है :

(1) संज्ञा और विधि की एकवाक्यता—वृद्धिरेचि (अष्टा० 6.1.88) आदि विधि-सूत्र में 'वृद्धिरादैच्' (अष्टा० 1.1.1.) 'आदैच्' पदार्थ की सम्पूर्ति करता है जो उसके अर्थ से एकवाक्यता पाकर—'आदेचि आदैजभिन्न वृद्धिर्भवति' वाक्य में परिवर्तित हो जाता है।

(2) परिभाषा और विधि की एकवाक्यता—मृजेर्वृद्धिः (अष्टा० 7.2.114) सूत्र में 'इको गुणवृद्धी' (अष्टा० 1.1.3.) परिभाषा 'इकः' षष्ठ्यन्त पद; 'षष्ठी

---

1. कैयट, प्रदीप, महा० अ० 1 पा० 1 आ० 8, पृ० 288 :
"विनापि वतिना तदर्थलाभः यथाङित्कित् इति।"

2. भूषण, धात्वर्थनिर्णय, बालकृष्णपञ्चोलिकृत प्रभा, पृ० 47 : पदयोरेकवाक्यत्वं च—साक्षात् परम्परया वा स्वार्थान्वितापरार्थबोधकत्वसम्बन्धेन परस्पर-विशिष्टत्वम्।"

स्थानेयोगा' (अष्टा० 1.1.49) 'स्थाने पद उपस्थित कर देते हैं और पाणिनि का द्विपदविधि-सूत्र 'भवति' क्रिया के अध्याहार के साथ 'पञ्चपदी' सूत्र हो जाता है—मृजे: इक: स्थाने वृद्धि: भवति।

(3) नियम और विधि की एकवाक्यता—संयोगान्तस्य लोप: (अष्टा० 8.2.23) विधि-सूत्र है। 'रात्सस्य' (अष्टा० 8.2.24) इसका नियम-सूत्र है। दोनों की एकवाक्यता होकर 'रेफात्परस्य संयोगान्तलोप: सस्यैव' ऐसा नियम-वाक्य परिणत होता है।

(4) अतिदेश और विधि की एकवाक्यता—'ङेर्य:' (अष्टा० 7.1.13) द्वारा ङेस्थानिक 'य' आदेश में 'स्थानिवद्' अतिदेश से 'सुप्त्व' होने से सहज ही ङेर्य: स्थानिवद् भवति' अर्थात् 'सुप् इव कार्यं लभते' वाक्य बन जाता है।

(5) अधिकार और विधि की एकवाक्यता—अतो भिस ऐस् (अष्टा० 7.1.9) विधि-सूत्र में 'अंगस्य' (अष्टा० 6.4.1) अधिकार की एकवाक्यता होने से तथा अर्थानुरोध से षष्ठी का पंचमी में विपरिणाम कर लेने से तदन्तविधि द्वारा 'अदन्तात् अङ्गात् परस्य भिस: स्थाने ऐस् भवति'—यह वाक्यार्थ हो जाता है। उक्त उदाहरण पाणिनि की उत्कृष्ट सूत्र-कला का आंशिक निदर्शन है।

'शेष' और 'शेषी' का पारस्परिक सहयोग-सिद्धान्त ही 'शेष' को एकदेशस्थ रखते हुए प्रदीपवत् सुविशाल शास्त्रभवन को प्रज्ज्वलित करने की योग्यता देता है।[1]

1. महा०, अ० 2 पा० 1 आ० 1, पृ० 314

"परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती कृत्स्नं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत्।
तद्यथाप्रदीप: सुप्रज्वलित एकदेशस्थ: सर्वं वेश्माभिज्वलयति॥"

अध्याय 6

शास्त्रलाघवार्थ प्रयुक्त विधाएं

6.1. शास्त्रलाघव की दिशाएं

पाणिनि के सूत्रलाघव की तीन दिशाएं हैं—(1) सूत्र का शरीरगत लाघव (2) सूत्रसंख्या का लाघव (3) सूत्र का अर्थगत लाघव ।

6.2. सूत्र का शरीरगत लाघव

(1) **सूत्र में विधेयपरक तिङन्त पद का अभाव**—पाणिनि ने अपने सूत्रों में, चाहे वे संज्ञापरिभाषादि सूत्र हों अथवा विधिसूत्र, विधेयपरक 'अस्ति' अथवा 'स्यात्' जैसे तिङन्तपदों का प्रयोग नहीं किया है। 'सर्वं हि वाक्यं क्रियया परिसमाप्यते' सिद्धान्त से इनका स्वयं अध्याहार हो जाता है। केवल कुछेक[1] ऐसे विधिसूत्र हैं, जिनमें 'दृश्यते' 'दृश्यन्ते' आदि क्रियापदों का प्रयोग हुआ है तथा जिनके विधान शास्त्र द्वारा निर्धारित परिधि के बाहर भाषा की विविधवृत्तियों की अवेक्षा से यथास्थान समझे जा सकते हैं।

(2) **सूत्र-संघटना की एकरूपता**—पाणिनीय सूत्र के सामान्यत: चार अवयव होते हैं—उद्देश्य, विधेय, निमित्त तथा कहीं अनुवृत्ति, समुच्चय अथवा वैकल्पिक स्थिति या अपवाद का सूचक च, वा, न आदि अव्ययपद। संज्ञा-सूत्रों में जिनमें प्राय: उद्देश्य, विधेय (संज्ञा-संज्ञि) का ही उल्लेख रहता है। संज्ञि (उद्देश्य) का उल्लेख पूर्व में तथा संज्ञा (विधेय) का पश्चात् रहता है। दोनों ही पद प्राय:

1. 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (अष्टा० 3.2.75); 'अन्येष्वपि दृश्यते' (अष्टा० 3.2.101); 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (अष्टा० 3.3.130); अन्येषामपि दृश्यते' (अष्टा० 6.3.137)।

प्रथमान्त होते हैं, कभी-कभी 'संज्ञि' में षष्ठी विभक्ति[1] का प्रयोग भी होता है, ताकि अधिक स्पष्टार्थता बन सके, किन्तु यह तभी होता है जब उद्देश्य और विधेय के सूचक शब्द स्वरूपपरक न होकर अर्थपरक होते हैं, जैसे 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (अष्टा० 1.1.68) तथा 'अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' (अष्टा० 1.1.69) सूत्रों में क्रमशः 'शब्दस्य' (उद्देश्य) और 'स्वं रूपम्' (विधेय) तथा 'सवर्णस्य' (उद्देश्य) एवं 'अण्-उदित्' (विधेय) स्वरूपपरक न होकर स्वबोध्यार्थपरक हैं। यही स्थिति 'आदिरन्त्येन सहेता' (अष्टा० 1.1.71) सूत्र में भी है। वहां भी उद्देश्य आद्यन्तावयवाक्षिप्त समुदाय स्वरूपपरक न होकर स्वबोध्यपरक हैं। साथ ही विधेय 'आदि' पद भी स्वबोध्य समुदाय-घटक वर्णसमाम्नायस्थवर्णविशेष का बोधक है, अतः वहां 'संज्ञि' कोटि में आये 'स्व' और समुदाय में षष्ठी माननी होती है।

(3) **हेतुसूचक पञ्चम्यन्त पदों का अभाव**—पाणिनीय सूत्र-शास्त्र वर्णनात्मक भाषावैज्ञानिक कृति है। उसका कार्य भाषा में प्रत्यक्ष दीखनेवाली संरचनात्मक इकाइयों का विश्लेषण करना है न कि दार्शनिक सूत्र-शास्त्रों की भांति अनुमान पर आधारित कतिपय पदार्थों या तथ्यों की स्थापना या वर्जना करना। अतः स्वभाव से उसके सूत्र में हेतुता-सूचक पञ्चम्यन्त पदों का अभाव है। पाणिनि ने बड़ी सतर्कता से अपने शास्त्र को विवदमान स्थितियों से दूर रखा है। उसने कोई ऐसी संज्ञा, परिभाषा या विधि नहीं की जिसे उसके शास्त्र के संरचनात्मक वृत्त से बाहर के दृष्टिकोण से आंका जा सके और उन पर क्यों? और कैसे? के अनावश्यक विवाद उठ सकें।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि ऐसे विवादों से दूर रहने की अपनी शास्त्रीय प्रवृत्ति का उसने जिन सूत्रों में उल्लेख किया है वहां उसे अपने पक्ष में हेतु प्रस्तुत करना पड़ा है और केवल उन्हीं सूत्रों में हेतुता-सूचक पञ्चम्यन्त पदों का प्रयोग किया गया है। वे सूत्र इस प्रकार हैं :

1. तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (अष्टा० 1.2.53)।
2. लुब्योगाप्रख्यानात् (अष्टा० 1.2.54)।
3. योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् (अष्टा० 1.2.55)
4. प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् (अष्टा० 1.2.56)।

---

1. देखिए—सि० कौ०, पृ० 11, बालमनोरमा? टिप्पणी, 'उदित् सवर्णस्य' तपरस्तत्कालस्य इति निर्देशस्तु क्वचिच्छक्यशक्तयोर्भेदं प्रदर्शयितुं भिन्नविभक्त्यापि शक्यशक्तयोरुपादानम्।

वस्तुतः टिप्पणीकार ने भी स्वयं को संज्ञा-संज्ञि के विभक्ति-भेद का औचित्य बताने तक सीमित रखा। यह नहीं स्पष्ट किया कि सूत्र में उद्देश्यरूप से साक्षात् पढ़ा गया 'सवर्ण' और विधेय रूप से पढ़े गए 'अण्' तथा 'उदित्' इनमें संज्ञासंज्ञि भाव नहीं, अपितु इनसे उपलक्षित अर्थों में है।

5. कालोपसर्जने च तुल्यम् (अष्टा० 1.2.57)।

उक्त-सूत्रों को यथार्थतः समझने से कुछ विशेष निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:

(क) पाणिनि से पूर्व ही लुप् (शून्यरूपग्राम) की प्रतिष्ठा हो गयी थी।

(ख) पाणिनि संज्ञाशब्दों में लुप्-सिद्धान्त को उचित नहीं मानता और न उनमें यौगिक अर्थ ही देखता है।

(ग) संज्ञाओं में लिङ्ग और वचन का नियम लोकसिद्ध है, अतः वहां शास्त्र का यत्न व्यर्थ है।

(घ) प्रकृति-प्रत्यय में किसका अर्थ प्रधान या गौण है यह निर्णय लोक से होता है।

(ङ) काल और उपसर्जन जैसी अर्थग्रामीय इकाइयों की परिभाषा वर्णनात्मक व्याकरण में महत्त्वहीन है, उन्हें व्यवहार से जाना जाता है।

6.3. अधिकार अथवा अनुवृत्ति

पाणिनीय सूत्रों में असाधारण शरीर-लाघव लाने में अनुवृत्ति का बड़ा महत्त्व है। पूर्व सूत्रों में आये हुए पदों का अग्रिम सूत्रों में उल्लेख करना पाणिनि ने अनावश्यक माना है[1] क्योंकि अग्रिम सूत्रों में अर्थबोध की दृष्टि से जिन पदों की अपेक्षा है, यदि वे पूर्वसूत्रों में आ चुके हैं, तो वहीं से उन्हें खींचा जा सकता है।[2] पाणिनि ने पदों की अनुवृत्ति को 'अधिकार'[3] नाम दिया है।

6.4. अधिकार या अनुवृत्ति के भेद

महाभाष्यकार ने 'अधिकार' के तीन प्रकार[4] स्पष्ट बताए हैं, यद्यपि एक चतुर्थ प्रकार[5] भी वह मानता है।

1. Belvalkar, Systems of Sanskrit Grammar, p. 24 : "In framing of the sutras, Panini always scrupulously omitted all such words as may conviniently supplied from sense or from preceding sutras."
2. वरदराजाचार्य, लघु० कौ० (अष्टा० 1.3 3) :
   "सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयम् सर्वत्र।"
3. स्वरितेनाधिकारः (अष्टा० 1.3.11)
4. कात्यायन—महा० अ० 1 पा० 1 आ० 7, पृ० 264 : "अधिकारो नाम त्रिप्रकारः। कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति।
   अपरोऽधिकारः—यथा रज्ज्वा अयसा वा बद्धं काष्ठमनुकृष्यते। तद्वदनुकृष्यते चकारेण।
   अपरोऽधिकारः—प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थ इति योगे योगे उपतिष्ठते।
5. महा अ० 2 पा० 4 आ० 1, पृ० 550 : "अथवा मण्डूकगतयोऽधिकाराः। तद् यथा मण्डूकाः उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः।"

(1) **यथोद्देशस्थ अधिकार**--यह अधिकार जो अष्टाध्यायी में जिस 'सूत्र' में पढ़ा गया है वहीं स्थित रहकर पूरे प्रकरण में अपनी अर्थव्याप्ति देता रहता है, जैसे दीपक एक स्थल पर रहते भी सम्पूर्ण घर को प्रकाशित करता है। ऐसे अधिकारों में 'प्रत्ययाः' (अष्टा० 3.1.1) 'तद्धिताः' (अष्टा० 4.1.76) आदि आते हैं। इन्हें आगे वाले प्रत्येक सूत्र में पदशः आवृत्त नहीं करना पड़ता अपितु अधिकार गरिमा से इनकी अर्थैकवाक्यता होती जाती है। तृतीय अध्याय का प्रत्ययाधिकार पंचम अध्याय की समाप्ति तक चलता है। अतः इस मध्य जो भी अन्य अधिकार आते हैं वे इस महान अधिकार के अन्तर्गत सह-अधिकार बन जाते हैं। अनेक सह-अधिकारों के अन्तर्गत भी छोटे-छोटे अधिकार होते हैं; जैसे, 'प्रत्ययाः' (3.1.1) का सहाधिकार 'कृदतिङ' (अष्टा० 3.1.93), तथा उसका सहाधिकार, 'कृत्याः' (अष्टा० 3.1.95) है।

(2) **चाधिकार या चकारानुवृत्ति**—अग्रिम सूत्र में समुच्चय बोधक 'च' के द्वारा पूर्व सूत्र से पदों की अनुवृत्ति करना इस श्रेणी में आता है, जैसे 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (अष्टा० 1.4.59) पूर्व सूत्र के सभी पद अग्रिम सूत्र 'गतिश्च' (अष्टा० 1.4.60) में पठित 'च' के द्वारा अनुकृष्ट कर लिए जाते हैं।

(3) **प्रतियोग अनिर्देशार्थ अधिकार**—एक ही स्थानों, आदेश या निमित्त को प्रतिसूत्र दोहराने से सूत्र-लाघव नष्ट होता है, साथ साथ ही सौन्दर्यहानि भी। अतः उक्त सूत्रों में अपेक्षित पद उत्तर सूत्रों में अनुवृत्त होते रहते हैं। साथ ही यदि आवश्यक हो तो पूर्व सूत्र से अनुवर्त्यमान पद का यथायोग विभक्ति विपरिणाम भी कर लिया जाता है, जैसे 'शास इदङ्हलोः' (अष्टा० 6.4.34) में उपात्त 'शास' षष्ठ्यन्त पद 'शा हौ' (अष्टा० 6.4.35) सूत्र में अनुवृत्त होना है। साथ ही पूर्वसूत्र में अवयवार्थक षष्ठी का उत्तरसूत्र में स्थानषष्ठी में विपरिणाम हो जाता है।

(4) **मण्डूकप्लुतानुवृत्ति**—अष्टाध्यायी के सूत्रों में अनुवृत्ति के कुछ ऐसे भी प्रसंग हैं जहां पूर्वसूत्र में उपात्तपद की कतिपय मध्यग सूत्रों को छोड़कर अग्रिम सूत्रों में अनुवृत्ति होती है। यह अनुवृत्ति मण्डूक की भांति उछाल मारना है, जैसे 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ (अष्टा० 2.4.32) सूत्र के 'इदमः' पद की अनुवृत्ति 'एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ' (अष्टा० 2.4.33) में नहीं होती, किन्तु उससे आगे 'द्वितीयाटौस्वेनः' (अष्टा० 2.4.34) में होती है।

6.5. विधिसूत्रोपयोगी संज्ञाओं का पूर्व-निर्धारण

पाणिनीय विधि-सूत्रों में लाघव का आधान करने में शास्त्रकार द्वारा परिभाषित संज्ञाओं का महान् योगदान है। लघीयसी[1] संज्ञाएँ स्वयं में गुरुतर

1. महा० अ० 1 पा० 4 आ० 3, पृ० 242 : "संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्।"

अर्थ को वहन करती हैं और विधिदेश में यथास्थान स्वार्थबोधन कर देती हैं। इससे विधिसूत्रों का शरीर अनावश्यक रूप से विस्तृत होने से बच गया है और साथ ही साथ उसके अर्थ में कोई अस्पष्टता नहीं रह पाती। उदाहरणार्थ 'मृजेर्वृद्धिः' (अष्टा० 7.2.114), 'ह्रस्वस्य गुणः' (अष्टा० 7.3.108) तथा 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (अष्टा० 1.3.12) सूत्रों को लें। इन तीनों विधि सूत्रों में 'वृद्धि' 'गुण' और 'आत्मनेपदम्' तीनों संज्ञाशब्द अपने पूर्वपरिभाषित अर्थ को, जो कि क्रमशः आत् ऐच्[1], अत् एङ्[2] और तङ् आन[3] हैं, स्वयं उपस्थित कर देते हैं। उक्त संज्ञाओं का प्रयोग कितने ही विधि-सूत्रों में हो सकता है, पाणिनि को वहां वहां इनके अर्थ को दोहराने की आवश्यकता नहीं होती। अष्टाध्यायी में प्रयुक्त संज्ञाओं का व्यापक सर्वेक्षण पृथक् अध्याय में होगा, तथापि यहां पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रयुक्त बीजगणितीय शैली की उन संज्ञाओं का उल्लेख करना अनुचित न होगा, जिनका पाणिनि ने संज्ञासूत्र द्वारा साक्षात् उल्लेख न करके उनके संज्ञान की दिशा सूचित कर दी है। ऐसी संज्ञा करने वाले सूत्र हैं: (1) 'आदिरन्त्येन सहेता' (अष्टा० 1.1.71), (2) 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः', (अष्टा० 1.1.69), (3) 'येन विधिस्तदन्तस्य' (अष्टा० 1.1.72), (4) 'तपरस्तत्कालस्य' (अष्टा० 1.1.70)। इन सूत्रों के साथ संज्ञा का सामानाधिकरण्य नहीं दिखाया जाता, अपितु व्यधिकरण-सम्बन्ध 'से अमुक संज्ञी की अमुक संज्ञा है' यह बताया जाता है। इसका कारण सम्भवतः संज्ञा और संज्ञी दोनों की अनेकता रहा है। जहां अनेक संज्ञाओं का अपने-अपने संज्ञी से बोध्यबोधक-भाव मात्र बताया गया है, वहां संज्ञा और संज्ञी दोनों का पृथक्-पृथक् बोधक सामान्य शब्द लेकर उनका बोध्य-बोधक-भाव सूचित कर दिया है। अतएव ऐसे सूत्र संज्ञा-सूत्र होते हुए भी अपनी वाक्यरचना और अर्थ बोधन की शैली से परिभाषा-सूत्र जैसे लगते हैं[4], क्योंकि वे संज्ञा और संज्ञी का साक्षात् अभेद न बताकर केवल उसके बोध्य-बोधक भाव की परिभाषा मात्र कर देते हैं। संज्ञा और संज्ञी के मूर्तरूप का परिचय विधि-सूत्र में ही जाकर प्राप्त होता है। ऐसे संज्ञा-सूत्रों ने पाणिनि को स्वशास्त्रोपयोगी यथेच्छ संज्ञाओं का कोश प्रदान कर दिया है; जिनके आधार पर पाणिनीय सूत्रों में असाधारण लाघव आया है। अतः उनका संक्षिप्त सर्वेक्षण अपेक्षित है।

---

1. वृद्धिरादैच् (अष्टा० 1.1.1)
2. अदेङ् गुणः (अष्टा० 1.1.2)
3. तङानावात्मनेपदम् (अष्टा० 1.4.100)
4. यही कारण है कि "अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः" को सवर्णसंज्ञा सूत्र न कहकर सवर्ण-ग्राहकता सूत्र कहा जाता है।

6.6. अनुबन्धमूलक प्रत्याहार-संज्ञाएं

'आदिरन्त्येन सहेता' (अष्टा० 1.1.71) सूत्र ने 'अण्', 'इक्' आदि का स्वरूपतः उल्लेख न करके 'अन्त्येत्सहित आदि' समुदाय का अपने घटकों के साथ बोध्य-बोधक-भाव बताया है। स्पष्ट है कि पाणिनीय शास्त्र में ही ऐसा समुदाय सम्भव होगा। चाहे वह वर्णसमाम्नाय (14 सूत्रों) में हो अथवा सूत्रपाठ आदि में वर्तमान प्रकृति और प्रत्यय का हो, अपने घटकों की 'संज्ञा' होगा। उक्त सूत्र द्वारा प्रतिपादित समुदाय-संज्ञाओं को वैयाकरणजगत् प्रत्याहार शब्द से जानता है। प्रत्याहारों का प्रयोग पाणिनीय अष्टाध्यायी में तीन रूपों में मिलता है :

(1) **वर्ण-बोधक प्रत्याहार**—वर्ण समाम्नाय के 14 सूत्रों में 'आदिरन्त्येन सहेता' (अष्टा 1.1.71) की एकवाक्यता से जिन अक् इक् आदि संज्ञाओं का निर्माण होता है वे इस कोटि में आती हैं। प्राधान्येन 'प्रत्याहार' नाम का प्रयोग इन्हीं संज्ञाओं के लिए होता है। इस प्रकार के 41 प्रत्याहारों का अष्टाध्यायी-सूत्रों में प्रयोग हुआ है।

(2) **प्रत्यय-प्रत्याहार**—'आदिरन्त्येन सहेता' की विधि से कुछ प्रत्यय-प्रत्याहार बने हैं। प्रत्ययमाला से, चाहे वह एक ही सूत्र में उपदिष्ट हो (जैसाकि सुप्, तिङ् आदि) अथवा पृथक् सूत्रों में आदिम प्रत्यय अथवा उसका एक भाग लेकर अन्तिम प्रत्यय के अन्त्य इत् से जोड़ दिया गया है। ऐसे प्रत्यय-प्रत्याहार सुप्, सुट्, आप्, तिङ्, तङ्, तृन् हैं, जो आगे तालिका द्वारा प्रस्तुत हैं।

प्रत्यय-प्रत्याहार-तालिका

प्रत्याहार	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विवरण
सुप्	सु	औ	जस्	प्रथमा
	अम्	औट्	शस्	द्वितीया
	टा	भ्याम्	भिस्	तृतीया
	ङे	भ्याम्	भ्यस्	चतुर्थी
	ङसि	भ्याम्	भ्यस्	पञ्चमी
	ङस्	ओस्	आम्	षष्ठी
	ङि	ओस्	सुप्	सप्तमी
सुट्	सु	औ	जस्	सर्वनामस्थान
	अम्	औट्	—	

1. कैयट, प्रदीप, महा० अ० 1 पा० 1 आ० 1 पस्पशा०, पृ० 58 : "प्रत्याहारशब्देनाणादिकाः संज्ञा उच्यन्ते।"

प्रत्याहार	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विवरण
आप्[1]	टा	भ्याम्	भिस्	
	ङे	भ्याम्	भ्यस्	
	ङसि	भ्याम्	भ्यस्	
	ङस्	ओस्	आम्	
	ङि	ओस्	सुप्	
तिङ्	तिप्	तस्	झि	प्रथम पुरुष
	सिप्	थस्	थ	मध्यम पुरुष
	मिप्	वस्	मस्	उत्तम पुरुष
	त	आताम्	झ	प्रथम पुरुष
	थास्	आथाम्	ध्वम्	मध्यम पुरुष
	इट्	वहि	महिङ्	उत्तम पुरुष

'तृन्' प्रत्याहार के अन्तर्गत अष्टा० 3.2.124 से 3.2.135 तक पठित सूत्रों से विहित शानन्, चानश्, शतृ तथा तृन् प्रत्यय आते हैं।[2]

(3) **प्रकृति-प्रत्याहार**—'आदिरन्त्येन सहेता' (अष्टा० 1.1.71) की विधि से सूत्रविशेष में पठित प्रकृति के आदिम भाग को उसी शृंखला में किसी अग्रिम सूत्र में पठित प्रकृति के अन्त्येत् के साथ जोड़कर ऐसा प्रत्याहार बनता है। पश्चाद्भावी पाणिनीय व्याख्याताओं का मत है कि अष्टाध्यायी के 'कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि' (अष्टा० 3.1.40) सूत्र में पाणिनि ने 'कृञ्' प्रत्याहार[3] का प्रयोग किया है। इस प्रत्याहार की रचना 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' (अष्टा० 5.4.50) के

1. 'अनाप्यकः' (अष्टा० 7.2.112) में 'आप्' प्रत्याहार का निर्देश है। यह प्रत्याहार 'टा' के 'आ' को आदि में लेकर 'सुप्' के 'प्' से जोड़ देने पर बनता है। देखिए—उक्त सूत्र पर काशिका, "आपीति प्रत्याहारस्तृतीयैकवचनात् प्रभृति सुपः पकारेण।"
2. कात्यायन ने पाणिनि के "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" (अष्टा० 2 3 69) सूत्र के षष्ठी निषेध का विषय बढ़ाते हुए "शानंश्चानशशतृणामुपसंख्यानम्" वार्तिक उपन्यस्त किया। पतञ्जलि ने उक्त पाणिनीय सूत्र में "लटःशतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" (अष्टा० 3.2.124) के 'शतृ' के 'तृ' भाग के साथ 'तृन' (अष्टा० 3.2.135) के 'न्' को जोड़कर 'तृन्' प्रत्याहार मान लिया। इस मध्य आने वाले सूत्रों से जिन सन्दर्भों में निर्दिष्ट 'शानन्' आदि विहित हैं वहां षष्ठी नहीं होती।

   यह प्रत्याहार भाष्यकार का स्वच्छन्द प्रयोग है क्योंकि इसे बनाने में 'शतृ' का 'तृ' गृहीत होता है।
3. काशिका (अष्टा० 3 1 40) 'कृञिति प्रत्याहारेण कृभ्वस्तयो गृह्यन्ते।"

आदिम 'कृ' (कृञ् का भाग) को 'कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात्कृषौ' (अष्टा० 5.4.58) के 'कृञ्' के अन्त्येत् 'ञ्' के साथ जोड़कर 'कृञ्' प्रत्याहार बनता है। यह कृ, भू, अस् तीन धातु-प्रकृतियों का बोधक है।

6.7. अनुबन्ध-विशेषित प्रकृति-प्रत्यय संज्ञाएं

पाणिनि ने अपने शास्त्र में अनुबन्धों का दोहरा प्रयोग किया है। प्रत्याहार में प्रयुक्त अनुबन्ध स्वबोध्य समुदाय की सीमा निर्धारित करते हैं, किन्तु प्रकृति-प्रत्ययों में आसक्त अनुबन्ध उन्हें विशेषित करते हैं अर्थात् अनुबन्धों की समानता प्रकृति-प्रत्यय रूपग्रामों का सजातीय समुच्चय तथा असमानता उनका विजातीय समुच्चय बना देती है, और तदनुसार ही उन समुच्चयों का नाम हो जाता है। 'टित्' 'कित्' आदि में इन समुच्चयों का संज्ञा के रूप में ही प्रयोग हुआ है, क्योंकि ये भी तो अपने समुच्चय की इकाइयों का संज्ञान कराते ही हैं। अष्टाध्यायी में अनुबन्ध योजना की विविध दिशाएं और प्रयोजन हैं इनका विशद विवेचन सप्तम अध्याय में किया जायगा। यहां तो केवल अनुबंधमूलक संज्ञाओं का संकेत भर है जो अपने लघुरूप से विशाल शब्दकुल का बोध कराती हैं और फलतः सूत्र का शरीरगत लाघव बनाती हैं।

6.8. अनुबन्ध-विशेषित आगम संज्ञाएं

आगमों के अनुबन्ध-विशेषित तीन समुच्चय हैं—टित्, कित्, मित्। अष्टाध्यायी में आगमों की इन सांकेतिक संज्ञाओं का प्रयोग उनकी अवयवता के निर्धारणार्थ किया गया है।[1]

6.9. अनुबन्ध विशेषित 'तपर' संज्ञाएं

'अच्' वर्णों का तकारानुबन्धन करके अत्, इत् आदि 'तपर' संज्ञाएं की हैं जो सवर्णबोधकता का संकोच करके तत्कालमात्र का ग्रहण कराती हैं।[2]

6.10. सावर्ण्यमूलक 'अणुदित्' संज्ञाएं

'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' (अष्टा० 1.1.69) सूत्र के अनुसार 'अण्'[3] (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल[4] तथा पाणिनि के सूत्रों में पठित

---

1. आद्यन्तौ टकितौ (अष्टा० 1.1.46)
2. तपरस्तत्कालस्य (अष्टा० 1.1.70)
3. सि० कौ०, (अष्टा० 1.1.69), "अत्रैवाण् परेणणकारेण।"
4. 'अण्' प्रत्याहार में यद्यपि 'र' 'ह' भी आ जाते हैं, परन्तु उनके सवर्णग्राहक होने का प्रश्न ही नहीं उठता। उनका सवर्ण ही नहीं होता। "रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति" (महा० अ० 1 पा० 1 आ० 2, पृ० 88)।

उदित् कु, चु, टु, तु, पु अपने सवर्णों के बोधक होते हैं। प्रत्येक 'अण्' एकाक्षर संज्ञा है, जो अपने ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, अनुनासिक रूप से भेद रखने वाले सवर्णकुल का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार की संज्ञा से होने वाले लाघव के ज्वलन्त उदाहरण 'अ इ उ ण्' आदि छः सूत्र स्वयं हैं जहां दीर्घादि सवर्णभेदों का पाठ नहीं करना पड़ा। 'अस्य च्वौ' (अष्टा० 7.4.32) 'एरच्' (अष्टा० 3.3.56) आदि में क्रमशः 'अ' और 'इ' अपने दीर्घादि भेदों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतएव पूर्वसूत्र 'च्वि' विषय में जैसे ह्रस्व 'अ' को 'ई' करेगा, वैसे ही दीर्घ 'आ' को भी— पुत्री भवति, गङ्गी भवति; ऐसे ही द्वितीय सूत्र जैसे ह्रस्व इकारान्त धातु से 'अच्' करेगा वैसे ही दीर्घ ईकारान्त से भी—जि जयः; भी भयः। 'चोः कुः' (अष्टा० 8.2.30) आदि सूत्रों में 'चु' तथा 'कु' अपने समस्त वर्ग्यों का बोध कराते हैं। अतः इन संज्ञाओं से होने वाला लाघव स्पष्ट दीखता है। अणुदित् संज्ञाओं को निम्न तालिका में प्रस्तुत किया गया है :

अण्-उदित् तालिका

संज्ञा	संज्ञी
1. अण्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्
2. उदित्	
कु	क्, ख्, ग्, घ्, ङ्
चु	च्, छ् ज्, झ्, ञ्
टु	ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्
तु	त्, थ्, द्, ध्, न्
पु	प्, फ्, ब्, भ्, म्

6.11. 'तदन्त' संज्ञाएं

'येन विधिस्तदन्तस्य' (अष्टा० 1.1.72) के नियम से पाणिनि ने 'तदन्त' संज्ञाओं का निर्माण किया है। सूत्रों में जिस शब्दरूप (वह चाहे वर्ण, प्रत्यय या प्रकृति हो) का उल्लेख करके कोई विधि की जाती है, वहां वह शब्दरूप स्वयं का तथा तदन्त का (स्वयं जिसके अन्त में हो उसका) बोध कराता है। अतएव 'एरच्' (अष्टा० 3.3.56) जहां 'इ' (इण्) धातु से 'अच्' करता है वहां इकारान्त 'जि' से भी; जैसे—इ अयः; जि जयः।

6.12. तदुपध संज्ञाएं

पाणिनि ने तत्तद् उपधा[1] से विशेषित करके शब्दकुल का वर्गीकरण किया है, जैसे, तोपध,[2] कोपध,[3] नोपध[4] आदि। इन शब्दों से भी समुच्चयविशेष का संज्ञान होता है। अतः ये भी संज्ञाएं ही हैं।

6.13. कृत्रिम संज्ञाएं

वैसे तो निश्चित अर्थ में परिभाषित हो जाने से सभी पाणिनीय संज्ञाएं कृत्रिम ही हैं, तथापि जिनमें लौकिक शब्दों की भांति कुछ न कुछ अन्वर्थता होती है उन्हें सहसा कृत्रिम नहीं माना जा सकता। अतः कृत्रिम संज्ञाओं का आशय टि,[5] घु,[6] भ,[7] आदि संज्ञाओं से है, जिन्हें शास्त्र-लाघव की दृष्टि से कल्पित कर लिया गया है।

6.14. परिभाषा-सूत्रों द्वारा विधि-सूत्रों में पद अथवा पदार्थ की सम्पूर्ति

जिस पद या पदार्थ को विधिसूत्र में अनुवृत्ति के द्वारा प्राप्त करना सम्भव न था उसे पाणिनि ने परिभाषा-सूत्रों की सहायता से प्राप्त किया है। परिभाषा-सूत्र भी संज्ञासूत्रों की भांति अपने उपदेशस्थान[8] में स्थित रहकर अथवा विधि-देश[9] में अध्येता के बुद्धि-पटल पर उपस्थित होकर विधिसूत्रोपयोगी पद या पदार्थ को उपस्थित कर देते हैं। लघु शरीर वाले विधि-सूत्र उस दशा में देखते ही देखते लक्ष्यसंकारोपयोगी वाक्य में परिणत हो जाते हैं। संज्ञा और परि-भाषा-सूत्रों का इस प्रकार विधि-सूत्र के साथ समन्वय प्राप्त करना 'एकवाक्यता'[10] कहलाता है। स्वरित-चिह्न की सहायता के विना भी विधिदेश में तदुपकारक पद या पदार्थ को उपस्थित कर देने की योग्यता के कारण ही भाष्यकार ने परि-भाषा और संत्रासूत्रों को भी एक प्रकार का 'अधिकार'[11] ही माना है। कैयट ने

1. अलोऽन्त्यात्पूर्वं उपधा (अष्टा० 1.1.65)
2. वर्णादनुदात्तात् तोपधात्तो नः (अष्टा० 4.1.39)
3. न कोपधायाः (अष्टा० 6.3.37)
4. नोपधायाः (अष्टा० 6.4.7)
5. अचोऽन्त्यादि टि (अष्टा० 1.1.64)
6. दाधाघ्वदाप् (अष्टा० 1.1.20)
7. यचि भम् (अष्टा० 1.4 18)
8. नागेश, परिभा० पृ० 6 : "यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्"।
9. वही, पृ० 6 : "कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्।"
10. भूषण, धात्वर्थनिर्णय, पृ० 47 : "पदानां साक्षात् परम्परया वा स्वार्थान्वितापरार्थबोधक-त्वसम्बन्धेन परस्परविशिष्टत्वम्।"
11. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 7, पृ० 264 : "अधिकारा नाम त्रिप्रकारः कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति।"

अधिकार शब्द से स्पष्टतः परिभाषा[1] अर्थ ग्रहण किया है—'पारार्थ्यसाम्यात् परिभाषाप्यधिकार उच्यते'। यह अधिकार शब्द उक्त दृष्टि से 'संज्ञा' पर भी लागू होता है।

किस परिभाषा-विशेष को किस विधि-विशेष में पद या पदार्थ की सम्पूर्ति करनी है, इसका निर्णय करने को पाणिनि अलग से नियमों का निर्माण नहीं करता। उसके परिभाषा-सूत्र स्वयं इस प्रकार रचे गए हैं कि विधिसूत्रों में उनकी प्रवृत्ति का लिङ्ग-ज्ञान होना सहज रहता है। एकवाक्यता प्राप्त किए परिभाषा सूत्र लघुकाय विधिसूत्र को देखते ही देखते बृहत् वाक्य में बदल देते हैं। उदाहरणार्थ 'इको यणचि' (अष्टा० 6.1.77) सूत्र में 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (अष्टा० 1.1.66) से 'निर्दिष्टे पूर्वस्य' तथा 'षष्ठी स्थानेयोगा' (अष्टा०1.1.49) परिभाषा से 'स्थाने' पद का भी लाभ हो जाता है। इस प्रकार परिभाषाओं के सहयोग से पाणिनि का केवल तीन पद वाला लघुसूत्र 'इकः यण् अचि' छः पद वाला सूत्र (इकः स्थाने यण् अचि निर्दिष्टे पूर्वस्य) बन जाता है। इसमें वाक्यपरिसमापक 'भवति' या 'स्यात्' क्रिया का अध्याहार कर लेने पर उक्त त्रिपद सूत्र लक्ष्यसंस्कारोपयोगी असन्दिग्ध अर्थ उपस्थित करने वाले 'वाक्य' का रूप धारण कर लेता है —'अचि उपश्लिष्टे व्यवहितपूर्वस्येकः स्थाने यण् भवति।'

इसी प्रकार 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (अष्टा० 8.4.61) में 'उदः' पद में दिग्योगलक्षण-पञ्चमी होने से 'तस्मादित्युत्तरस्य' (अष्टा० 1.1.67) परिभाषा 'निर्दिष्टे', 'उत्तरस्य' इन पदों की भी उपस्थिति कर देती है। साथ ही आदेशस्थल में उसकी सहयोगी परिभाषा 'आदेः परस्य' (अष्टा० 1.1.54) 'आदेः' पद की सम्पूर्ति करती है। 'आदेः' के षष्ठ्यन्त होने से 'षष्ठी स्थानेयोगा' (अष्टा० 1.1.49) 'स्थाने' पद का लाभ करा देती है। उक्त तीन परिभाषाओं के सहयोग से उपस्थित पदों, पूर्वसूत्र 'अनुस्वारस्य ययि पर सवर्णः' (अष्टा० 8.4.58) से अनुवृत्त 'सवर्ण' पद और अध्याहृत वाक्यपरिसमापक 'भवति' क्रियापद के एकत्र अन्वय होने से पाणिनि का उक्त त्रिपद सूत्र (उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य) अष्टपदात्मक वाक्य का रूप पा लेता है, जिसके पदों का यथायथ अन्वय करने पर 'अव्यवहितात् उदः उत्तरयोः स्थास्तम्भोरादेः स्थाने पूर्वस्य सवर्णो भवति—यह अर्थ प्राप्त होता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में उक्त परिभाषाओं के अर्थ-विवेचन तथा विधिसूत्र से उनकी एकवाक्यता के प्रदर्शन का उद्देश्य, विधि-सूत्रों के शरीरगत लाघव का निर्वाह करने में तथा उनके लघु शरीर में लक्ष्यसंस्कारक निःसन्दिग्ध अर्थ का आधान करने में परिभाषा-सूत्रों के योगदान की दिशा का संकेत भर कर देना है। परिभाषाओं के महत्त्व का समग्र विवेचन दशम अध्याय में होगा।

1. कैयट, प्रदीप, वा० 275

6.15. सूत्र-संख्या-लाघव

सफल सूत्रकार के रूप में पाणिनि ने एक ओर सूत्रों की शारीरिक लघुता बनाने में तत्परता दिखाई है तो दूसरी ओर उनकी संख्या में अनावश्यक वृद्धि को रोकने में सतर्कता रखी है। एतदर्थ उसने निम्नलिखित विधाओं को अपनाया है :

(1) **उत्सर्गापवाद शैली**[1]—शब्दों की संरचना की सामान्य प्रवृत्ति को 'उत्सर्ग' सूत्रों द्वारा दर्शाया है और विशेष प्रवृत्तियों को सामान्य प्रवृत्ति के बाधक-रूप में 'अपवाद' सूत्रों द्वारा बताया है। इस विधा के अपनाने से समान संरचनात्मक तत्त्व रखने वाले शब्दों का व्याकरण करने के लिए उसे पृथक्-पृथक् सूत्र नहीं बनाने पड़े।[2] उदाहरण के लिए अपत्यार्थ सूचित करने को प्रातिपदिक सामान्य से 'अण्' (अ) प्रत्यय रूपग्राम जुड़ता है, यह सामान्य नियम कर देने पर सूत्रकार को ऐसे प्रतिपादकों की सूची नहीं देनी पड़ती जो 'अण्' प्रत्यय पाते हैं, अपितु केवल उन प्रातिपदिक-विशेषों के बारे में विशेष नियम करना शेष रहता है जो 'अण्' प्रत्यय से भिन्न प्रत्यय द्वारा 'अपत्य' अर्थ सूचित करते हैं। उदाहरणार्थ 'तस्यापत्यम्' (अष्टा० 4.1.92) सूत्र द्वारा यह सामान्य नियम कर देने पर कि प्रातिपदिकसामान्य अपत्यार्थ सूचित करने को अपने आगे 'अण्' प्रत्यय रखता है, यह आवश्यक नहीं रहता कि 'अण्' प्रत्यय पाने वाले प्राति पदिकों का किसी विशेष सूत्र द्वारा उल्लेख किया जाये। ऐसा करना तो पुनः 'प्रतिपद पाठ' द्वारा शब्द-ज्ञान करने की अवैज्ञानिक एवं अनुपादेय शैली के हाथों पड़ना होगा। अब तो केवल यह आवश्यक है कि उन प्रातिपदिक-विशेषों के बारे में नियम बनाया जाये जो अपत्यार्थ सूचित करने को 'अण्' प्रत्यय के स्थान पर कोई अन्य प्रत्यय प्राप्त करते हैं। पाणिनि यही करता है। वह 'अत इञ्' (अष्टा० 4.1.95) सूत्र द्वारा अकारान्त प्रातिपदिकों से 'अपत्य' अर्थ में 'इञ्' (इ) प्रत्यय का नियम देता है। 'अकारान्त प्रातिपदिक' प्रातिपदिक-कुल का एक भाग-विशेष है। अतः तत्सम्बधी नियम पूर्व नियम का बाधक या अपवाद होगा। यदि अकारान्त प्रातिपदिकों का भी कोई वर्गविशेष उक्त अर्थ में अन्य प्रत्यय रखता है तो सूत्रकार के सामने उन्हें सूचीबद्ध करके तत्सम्बन्धी नियम देने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रहता।

---

1. पतञ्जलि ने सामान्य-विशेष नियम की उत्सर्गापवाद शैली को लघु यत्न से अधिक शब्द ज्ञान का श्रेष्ठ उपाय माना है। देखिए, महा० "किञ्चित् सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्, येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्।"
2. N. Krishnaswami, An Introduction to Linguistics for Language Teachers, p. 56 : "A limited stock of utterances chosen at random is the corpus. The corpus has to serve as a descriptive sample from which we make generalisations."

ऐसा नियम उक्त रीति से अदन्त प्रातिपदिक-सामान्य के बारे में विहित 'अत इञ्' नियम का अपवाद होगा, जैसे 'गर्गादिभ्यो यञ्' (अष्टा० 4.1.105) गर्गादि के विषय में इसका अपवाद है।

सूत्रकार ने इस उत्सर्गापवाद शैली से शास्त्रलाघव तो प्राप्त किया ही है, साथ ही एक ही प्रकार के अर्थ-द्योतन में शब्दकुल की विविध संरचनात्मक आकृतियों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत कर दिया।

(2) **असिद्धत्व-विधान**—असिद्धत्व का सिद्धान्त अष्टाध्यायी में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इसका पर्याप्त विवेचन अतिरिक्त अध्याय में होगा। यहां इतना जान लेना प्रकृतोपयोगी है कि पाणिनि को अपने ही द्वारा बनाए गये सूत्रों की प्रवृत्ति में अनेक अन्तर्विरोधों का सामना करना पड़ा। ऐसे अन्तर्विरोध मुख्यतः दो रूपों में आये—(1) दो सूत्रों की समकालिक प्रवृत्ति की संभावना (2) किसी एक के कार्य कर देने पर अन्य अनभीष्ट सूत्र की प्रवृत्ति की सम्भावना। इस प्रकार के अन्तर्विरोधों को दूर करने को यदि सूत्रकार निषेध-सूत्रों का सहारा लेता तो सम्भव है एक-दो सहस्र सूत्रों की अधिक रचना करनी होती।[1] उदाहरणार्थ विष्ण् +अव्+इह' आदि में 'लोपः शाकल्यस्य' द्वारा वलोप कर देने पर 'आद्गुणः' की प्राप्ति होती है। उसे रोकने को यदि निषेधविधि से काम लिया जाय तो नया सूत्र बनाना होगा। 'असिद्धत्व-सिद्धान्त' ने सूत्रकार को इस विषम-स्थिति से उभार दिया है।

(3) **धातुपाठ और गणपाठ**—पाणिनीय सूत्र-शास्त्र में लाघव लाने मे धातुपाठ और गणपाठ का भारी महत्त्व है। वस्तुतः अष्टाध्यायी के ये दोनों परिशिष्ट पाणिनि के भाषावैज्ञानिक अभिधान-कोश (Lexicon) हैं,[2] जिन्हें उसने अपनी शास्त्रीय योजना के अनुसार धातु और प्रातिपदिकों के समुच्चयों तथा उनके भी उपसमुच्चयों के रूप में विरचित किया है। इन समुच्चयों के आदिम शब्द के आधारपर उसने शास्त्रोपयोगी भ्वादि, अदादि जैसी अनेक लघु संज्ञाएं बना डालीं[3] तथा उन संज्ञाओं के सहारे शब्द-रचना के सामान्य-विशेष नियम बनाने में सफलता प्राप्त की है।

---

1. Buiskool, Tripadi, p. 25 : "of a special technical means concerning the application of the sutras and, finally also amounting to shortening of expression, Panini avails himself in neutralizing certain rules with respect to certain others."
2. A. E. Darbyshire, Exercises in Linguistics, p. 80 : "Lexis is that part of linguistics which deals with the main units of the language that carry the main burden of referential meaning."
3. भ्वादि और अदादि जैसे लघु नाम से तदुपलक्षित पूरे समुच्चय का बोध होता है।

6.16. अर्थ-लाघवार्थ की गई सतर्कताएं

अल्पाक्षरता, यद्यपि सूत्र की प्रथम विशेषता है, किन्तु इसे अर्थ की असंदिग्धता की कीमत पर नहीं होना चाहिए। पाणिनि ने अपने सूत्रों के अर्थ को स्पष्टतः प्रतीत कराने के लिए निम्नलिखित सतर्कताएं बरती हैं :

(1) अस्पष्टताकारक सन्धियों को दूर रखना; जैसा कि चतुर्दशसूत्री में वर्णों को स्पष्ट रखने के लिए स्वर-सन्धि नहीं की गई और न ही ककारादि इत् को जश्त्वादि कार्य किये। 'वृद्धिरादैच्' (अष्टा० 1.1.1) आदि सूत्रों में कुत्व नहीं किया गया।

(2) अपने ही द्वारा निर्धारित नियमों के विपरीत धातु, प्रत्यय और अव्यय आदि से 'सुप्' विभक्तियों का प्रयोग किया है, क्योंकि इसके विना उद्देश्य, विधेयादि का बोध सम्भव न था।

(3) सूत्र-संरचना में शैली की एकरूपता है। अनेकों अर्थ-सन्देहों का निर्णय आचार्य-शैली के आधार पर होता है। उसके सूत्र में प्रथम स्थान उद्देश्य का, द्वितीय स्थान विधेय का और तृतीय स्थान निमित्त का होता है।

(4) परिभाषाओं द्वारा पदों की विभक्तियों तक के अर्थ निश्चित कर दिये गये हैं; जैसे षष्ठ्यन्त पद स्वस्थानिक 'आदेश' अथवा स्वावयव 'आगम' की विधि का बोध करायेगा। सप्तम्यन्त पद निमित्त का बोधक होगा। पंचम्यन्त पद परकार्य का सूचक है।

अष्टाध्यायी में लाघवार्थ अपनाई गई उक्त विधाओं का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि पाणिनि का अधिकाधिक ध्यान शास्त्र-लाघव की ओर रहा है।। इस उपलब्धि के लिए उसने निश्चित और सुस्पष्ट विधाओं का अवलम्बन किया है, जो उसके सूत्र-शास्त्र को यथासम्भव दुरूहताओं से मुक्त करती हैं तथा उसे उत्कृष्ट 'योजनाबद्ध कृति' का रूप देती हैं।

अध्याय 7

अनुबंध-योजना

7.1. अनुबंध और 'इत्'

पाणिनि के व्याख्याकार जिसे 'अनुबंध' नाम से जानते हैं, पाणिनि ने उसे लाघवार्थ एकाक्षर 'इत्' नाम दिया है।[1] 'एतीति इत्'—व्युत्पत्ति से शास्त्र-प्रक्रिया के निर्वाहार्थ जिन प्रतीक ध्वनि-चिह्नों को प्रकृति तथा प्रत्यय आदि के साथ संसक्त किया है और जो संरचनात्मक इकाई के रूप में कोई महत्त्व नहीं रखते अपितु सद्यः लुप्त हो जाते हैं, 'इत्' या 'अनुबंध' कहलाते हैं। वार्तिककार कात्यायन ने 'इत्' के लिए 'अनुबंध' शब्द का प्रयोग किया है।[2] उसने पाणिनि के 'इत्' का प्रसिद्ध पर्याय होने से इसकी कोई परिभाषा नहीं की है। 'अनुबंध' शब्द 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'बंध' (बंधने) धातु से व्युत्पन्न है। 'अनु' का सामान्य अर्थ 'पश्चात्' होता है, अतः 'अनुबंध' का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ 'पश्चात् संसक्त होने वाला' है। इस व्युत्पत्ति में 'पश्चात्' का आशय दैशिक परत्व, जैसा कि कुछ विद्वान् समझते हैं,[3] संगत नहीं लगता है। हमारी राय में इसका अर्थ कालिक या बौद्धिक परत्व होना चाहिए। 'अनुबंध' वे सांकेतिक चिह्न हैं जो शास्त्रकार द्वारा संरचना-उद्देश्यों से पहले रूपग्राम आदि संरचना-इकाइयों को समुच्चयों में बांटकर उन्हें विशेषित करने के लिए जोड़ दिये गये हैं, ताकि उन समुच्चयों को सांकेतिक नाम दिए जा सकें; जैसे शित्, पित् आदि। 'अनु' का अर्थ दैशिक परत्व लेने से अनुबंध की

1. क्षितीशचन्द्र चटर्जी, टेक्नीकल टर्म्स एण्ड टेक्नीक ग्राफ संस्कृत ग्रामर, पृ० 156
2. कात्यायन, वा० 17 (महा० ग्र० 1 पा० 1 पस्पशा० 1, पृ० 59)
3. Kshitish Chandra Chatterji, Technical Terms and Technique of Sanskrit Grammar, p. 155.

आश्रय के अंत में संसक्ति की अनिवार्यता होगी, जबकि अष्टाध्यायी में अनुबंध न न केवल अंत में अपितु आदि और मध्य में भी संसक्त किये गये हैं। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अनुबंधों का संयोजन एक बीजगणितीय प्रक्रिया का अग है। सूत्रकार अपनी तकनीक से पहले भाषा की वाक्यात्मक इकाई का पदों में, पदों का प्रकृति-प्रत्ययों में तथा उनका वर्णों में विभाजन करता है।[1] पश्चात् इन संरचनात्मक उपादानों में संरचना के भिन्न-भिन्न स्तरों पर ध्वन्यात्मक तथा स्वरात्मक साधर्म्य एवं वैधर्म्य निर्णीत करने होते हैं। इस प्रक्रिया को कम से कम नियमों के द्वारा सम्पन्न करने को शास्त्रकार रूपग्रामों तथा ध्वनि-ग्रामों को साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर नाना समुच्चयों में विभक्त करता है। समुच्चयों के भी अनेकों उपसमुच्चय बनाने होते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह संज्ञा-सूत्रों द्वारा समुच्चय संज्ञाएं निश्चित करता है, परंतु संरचनात्मक उपादानों के समुच्चयों की संख्या बहुत अधिक होती है, अतः शास्त्रकार को अनेक बीजगणितीय संकेतों द्वारा संज्ञाएं बनानी होती हैं। 'अनुबंध' या 'इत्' का प्रयोग इसी प्रकार की बीज--गणितीय विधा है। शास्त्रकार संरचनात्मक भेदों के आधार पर पूर्व योजनानुसार समुच्चयों में कल्पित किये हुए रूपग्रामादि को पश्चात् अनुबंधों से युक्त कर देता है और तदनुसार समुच्चयों में टित्, कित् आदि संज्ञाएं स्वयं प्रतीत हो जाती हैं। केवल यही नहीं कभी-कभी एक ही रूपग्राम को अनेक संरचनात्मक संदर्भों में पृथक्-पृथक् समच्चय में ले जाना होता है। ऐसी स्थिति में शास्त्रकार एक से अधिक अनुबंध लगा देता है। भिन्न-भिन्न अनुबंध एक ही रूपग्राम को व्याकरण-कार्य के लिए भिन्न-भिन्न नाम प्रदान करने का सफल प्रयोग है। अनुबंध के इस बहू-द्देशीय पक्ष पर भाष्यकार ने रोचक प्रकाश डाला है—'तद्यथा लोके कश्चिदेवं देवदत्तमाह—इह मुण्डो भव, इह जटिलो भव, इह शिखी भव—इति यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपतिष्ठते'।[2]

7.2. अष्टाध्यायी में प्रयुक्त अनुबंध

पाणिनि द्वारा उपयोग में लाये गये अनुबंधों के चार वर्ग हैं :

---

1. Robert A. Hall, Jr., Introductory Linguistics, p. 26 : "There are three criteria which are normally observed in the process of classification : distribution, similarity, and identity of function. By distribution, we mean the conditions under which the various elements (allophones, allomorphs etc.) occur, i.e., the position in which they are found with respect to each other and to other elements."

2. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 2

(क) **अच् अनुबंध**—अच् (स्वर) वर्णों में 'पाणिनि' ने अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, ए, ओं' को अनुबंध के रूप में प्रयुक्त किया है। केवल 'ऐ' एवं 'औ' को अनुबंध नहीं बनाया है। प्रकृति-प्रत्यय आदि उपदेश में जिस 'अच्' को अनुनासिक प्रतिज्ञात किया है, वह 'इत्' होता है।[1]

(ख) **अच्-धर्म अनुबंध**—पाणिनि ने न केवल 'अच्' स्वरों को अपितु अच्-निष्ठ उदात्तादि धर्मों को भी अनुबंध-रूप में प्रयुक्त किया है। अनुबंध-रूप से प्रयुक्त स्वरधर्म उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित हैं।

(ग) **हल् अनुबंध**—हल् अनुबंधों का विवरण वर्णमाला के वर्गानुसार इस प्रकार है—

हल् अनुबंध विवरण[2]

(1) कवर्ग	:	क्, ख्, ग्, घ्, ङ्
(2) चवर्ग	:	च्, ज्, ञ्
(3) टवर्ग	:	ट्, ड्, ण्
(4) तवर्ग	:	त्, न्
(5) पवर्ग	:	प्, म्
(6) अंतःस्थ	:	य्, र्, ल्, व्
(7) ऊष्म	:	श्, ष्, स्

(घ) **अज्झल् समुदाय-अनुबंध**—अष्टाध्यायी में कुछ अज्झल् समुदायरूप अनुबंधों का प्रयोग हुआ है, जो ये हैं—

ञि, टु, डु।[3]

7.3. अनुबन्ध-प्रयोग के उद्देश्य

(1) **प्रत्याहार-संज्ञाएं**—चतुर्दशसूत्री में जिन णकारादि अनुबन्धो का प्रयोग किया है, उनका उद्देश्य अण्, अक् आदि प्रत्याहार बनाना है। 'पाणिनि' ने प्रत्याहार का क्षेत्र वर्ण-संज्ञाओं से बढ़ाकर रूपग्रामीय संज्ञाओं तक पहुंचाया है। इस प्रकार की संज्ञाओं के दो वर्ग हैं :

(क) प्रकृति-प्रत्याहार—कृञ्

(ख) प्रत्यय-प्रत्याहार—सुप्, सुट्, आप्, तिङ्, तङ्, तृन्।

इन प्रत्याहारों का पूर्ण परिचय 6.6 के अन्तर्गत प्राप्त होगा।

(2) **अनुबन्ध-विशेषित वर्णबोधक संज्ञाएं**—पाणिनि ने सवर्णग्राहकता

1. उपदेशेऽजनुनासिक इत् (अष्टा० 1.3.2)
2. देखिए—'हलन्त्यम्' (अष्टा० 1.3.3) से "न विभक्तौ तुस्माः' (अष्टा० 1.3.4) तक
3. आदिर्ञिटुडवः (अष्टा० 1.3.5)

नियम का संकोच करने को स्वरों के आगे 'त्' अनुबन्ध लगाकर उनकी तपर संज्ञा की है, जिसके अनुसार 'तपर' स्वर 'तत्काल' मात्र का बोधक होता है, अन्य सवर्ण भेदों का नहीं। द्वितीय प्रकार 'उदित्' संज्ञाओं का है। ये संज्ञाएं कु, चु, टु, तु, पु हैं।

(3) **रूपग्रामविशेषण**—प्रकृति-प्रत्यय रूपग्रामों में 'अनुवन्ध' का प्रयोग उनके समुच्चय व्यवस्थापन के लिए है। जिस रूपग्राम की 'टित्', 'कित्' आदि संज्ञा हो जाती है, जिसके द्वारा वह रूपग्राम भिन्न अनुवन्ध वाले तथा निरनुबन्ध रूपग्रामों से पृथक् हो जाता है,[1] 'ङीप्' और 'ङीन्' पित्, नित् के रूप में विशिष्ट रूपग्राम हैं।

(4) **रूपग्रामसामान्यार्थ**—समान व्याकरणिक कार्य के लिए रूपग्रामों को सामान्य सकेत से ग्रहण करने को अनुबन्ध का प्रयोग हुआ है, जैसे—'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (अष्टा० 4.1.1) में 'ङी' पद से सामान्य 'ङ्' अनुबन्ध के सहारे 'ङीप्' ङीष्, ङीन्' तीनों का ग्रहण हो जाता है।

(5) **सामान्यग्रहण-अविघातार्थ**[2]—पूर्व शीर्षक के अंतर्गत जिस सामान्यग्रहण की बात कही गई है वह तभी सम्भव है जब सामान्य रूप से ग्रहण कराने-वाले अनुबन्ध को विशेष स्थिति में जाने से रोका जाये। एतदर्थ पाणिनि ने कहीं-कहीं रूपग्रामों में व्याकरण कार्य में अनुपयोगी अनुबन्ध भी जोड़े हैं। जो सामान्य अनुबन्ध को विशेष बनने से रोक देते हैं। उदाहरणार्थ—'ङीप्, ङीन्, ङीष्' प्रत्ययों में 'ङीष्' का 'ष्' कोई अन्य उपयोग नहीं रखता केवल 'सामान्यग्रहणार्थ' है। यदि वह न हो तो उक्त सूत्र के 'ङी' पद से केवल 'षिद्गौरादि' के 'ङी' का ग्रहण होगा, ङीप्, ङीन् का नहीं।

(6) **प्रत्यय-व्यक्ति-संज्ञान**—जैसा कि कहा गया है कि भिन्न अनुबन्ध प्रत्ययग्रामों में परस्पर विभेद कर देते हैं, परन्तु कुछ प्रत्ययों से अनुबन्धकरण उनके इत्मूलक समुच्चय बनाने के साथ-साथ व्यक्ति संज्ञान भी करता है; जैसे श्नम्, खच्, अच्, क्विन् प्रत्ययों के श्, च्, न् अनुबन्ध प्रत्यय-व्यक्ति का संज्ञान होने से खच्-खश्; अच्-अ; तथा क्विप्-क्विन् का भेद हो जाता है।[3]

(7) **स्वर-नियम**—पाणिनि ने स्वर-नियम बनाने में क्, च्, ञ्, त्, न्, प्, र्,

---

1. परिभा०, पृ० 211 : 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य'।
2. वही, पृ० 211 : 'तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्यग्रहणम्'।
3. प्रत्यय व्यक्ति का संज्ञान होने से निम्नलिखित सूत्रों में उन्हें समझा जाता है—
   (क) खचि ह्रस्व : (अष्टा० 6.4.94)
   (ख) थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (अष्टा० 6.2.144)
   (ग) क्विन्प्रत्ययस्य कु: (अष्टा० 8.2.62)
   (घ) श्नान्नलोप: (अष्टा० 6.4.23)

ल् आठ अनुबन्धों का प्रयोग किया है।

(8) **रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तन**—अनेक प्रत्ययरूपग्रामों के अनुबन्धों के सहारे गुण-वृद्धि रूप-ध्वनिग्रामीय परिवर्तन अथवा उनके निषेध के नियम बनाये हैं; यथा 'अचोञ्णिति' (अष्टा० 7.2.115), क्ङिति च (अष्टा० 1.1.5)।

(9) **रूपग्रामीय प्रतिनिधान**—पाणिनि ने अनुबन्धों के द्वारा धातु-प्रकृति तथा प्रातिपदिक प्रकृति के समुच्चय बनाने में सहायता ली है। धातुपाठ में धातुओं को अनुबन्धयुक्त किया है और उनके आधार पर आत्मनेपदादि नियम तथा अन्य रूपग्रामीय परिवर्तन किये हैं। व्युत्पन्न प्रातिपदिक जिस अनुबन्धयुक्त प्रत्यय से निष्पन्न होता है, तन्मूलक संज्ञा के आधार पर उससे स्वरविधि[1] तथा स्त्री प्रत्यय-विधि की गई है।[2]

उक्त रूप से सामान्य-विशेष ग्रहण द्वारा प्रकृति-प्रत्यय, आगम आदेश सभी के अनुबन्ध-मूलक समुच्चय हैं, जिनका उल्लेख करके पाणिनि ने तत्तत् व्याकरणिक कार्यों का नियमन किया है। इन कार्यों का परिचय वर्गीकृत अनुबन्ध-तालिकाओं से दिया जायेगा। धातु-संसक्त अनुबन्ध कुछ अधिक जटिलता रखते हैं, अतः उन पर इसी प्रकरण में आगे विशेष दृष्टि डाली जायेगी। 'पाणिनि की अनुबन्ध-योजना' के प्रकृत अध्ययन में उन प्रयासों की ओर दृष्टि डालना भी आवश्यक है, जिन्होंने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

7.4. देवस्थली : अनुबन्धाज़ ऑफ़ पाणिनि

पाणिनीय अनुबन्धों के अध्ययन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कार्य जी० वी० देवस्थली की 'अनुबन्धाज़ ऑफ पाणिनि' कृति के रूप में प्रकाश में आ चुका है। देवस्थली की इस कृति ने पाणिनीय अनुबन्धों के अध्ययन की दिशा मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

देवस्थली की कृति पर एक दृष्टि

देवस्थली की उक्त कृति तीन भागों में है—

प्रथम भाग—प्रस्तावना और सामान्य सर्वेक्षण।

द्वितीय भाग—अनुबन्ध और उनके कार्य।

तृतीय भाग—अनुक्रमणिकाएं :

(अ) प्रत्यय आदि की अनुबन्ध सहित अनुक्रमणिकाएं।

(ब) अनुबन्ध-मुक्त प्रत्यय आदि की अनुक्रमणिकाएं।

---

1. 'चितः' (अष्टा० 6.1.163) आदि स्वर नियम इसी प्रकार रचे गये हैं।
2. 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (अष्टा० 4.1.41) आदि स्त्रीप्रत्यय नियम इसके निदर्शन हैं।

(स) विपरीत क्रम से अनुक्रमणिका।

प्रथम भाग में लेखक ने अनुबन्धों का परिचय[1], उनके शास्त्रीय प्रयोग[2] का सामान्य सर्वेक्षण तथा अनुबन्धों के महत्त्व से सम्बद्ध कतिपय परिभाषाओं[3] का विश्लेषण किया है।

द्वितीय भाग में पाणिनीय अनुबन्धों का वर्णमाला क्रम से उल्लेख करके भिन्न सन्दर्भों में होनेवाले व्याकरणिक कार्यों में उनका उपयोग बताया गया है।

तृतीय भाग में पाणिनीय प्रत्ययों की अनुबन्ध-सहित और अनुबन्धमुक्त सूचियां हैं।

7.5. उक्त कृति में कतिपय अनवधानताएं

(1) धातु-संसक्त अनुबन्धों के सर्वेक्षण में विद्वान् लेखक का ध्यान इस तथ्य की ओर न जा सका कि अनुदात्त अनुबन्ध का कार्य मात्र आत्मनेपद-विधान करना नहीं है, अपितु कुछ रूपग्रामीय एवं रूपध्वनिग्रामीय विधि करना भी है, जोकि इस प्रकार हैं :

(अ) अनुदात्त[4] अनुबन्ध वाली धातु से कर्त्रर्थ में 'युच्' प्रत्यय का विधान;[5] जैसे—वृतु + युच् = वर्तनः; वृधु + युच् = वर्द्धनः आदि।

(ब) अनुदात्त अनुबन्ध वाली धातु से परे लकारस्थानीय सार्वधातुक प्रत्यय को अनुदात्त विधि[6] होती है; जैसे—आस् + ते = आस्ते, वस् + ते = वस्ते।

(2) यह भी स्पष्ट नहीं किया गया कि धातु-संसक्त सभी स्वरानुबन्ध अनुदात्त या स्वरित नहीं होते। उदात्तेत् अर्थात् परस्मैपदी धातुओं के रूप में प्रतिज्ञात धातुओं से भी स्वरों का अनुबन्धन हुआ है, जोकि अनुदात्त या स्वरित नहीं अपितु उदात्त हैं।[7] परस्मैपदी धातुओं से संसक्त स्वरानुबन्ध आत्मनेपदादि विधि के लिए न होकर अन्य व्याकरणिक विधियों के लिए हैं जैसे—'ओव्रश्च्' छेदने धातु से संसक्त 'ओ' निष्ठा (क्त क्तवतु) के 'त्' को नत्वविधि कराता है तथा 'ऊ' 'इट्'

---

1. देवस्थली, अनुबन्धाज आफ पाणिनि, पृ० 7
2. वही, पृ० 8-24
3. वही, पृ० 25-45
4. वही, पृ० 49
5. अनुदात्तेतश्च हलादेः (अष्टा० 3.2.149)
6. तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः। (अष्टा० 6.1.186)
7. पाणिनि ने स्वयं 'उदात्तेत्' शब्द का प्रयोग किसी सूत्र में नहीं किया है, तथापि परस्मैपदी धातुओं के स्वरानुबन्धों को अन्यपदीय धातुओं के अनुबन्धों से भिन्न रखने को 'उदात्त' मानना होगा। अतएव धातुपाठ में 'उदात्तेतः परस्मैभाषः' का उल्लेख रहता है।

आगम का विकल्प करता है। दोनों ही अनुबन्ध न अनुदात्त हैं, न स्वरित, अतः पद-नियम भी नहीं करते। ऐसे अनुबन्ध उदात्त हैं।

यह बात अवश्य है कि जब ये ही अनुबन्ध आत्मनेपदी रूप से प्रतिज्ञात धातुओं से संसक्त होते हैं तो अनुदात्त और यदि उभयपदी धातुओं से संसक्त हैं तो स्वरित माने जाते हैं। उस दशा में उक्त प्रकार के व्याकरणिक कार्यों के साथ-साथ इनसे आत्मनेपदादि का नियमन भी होता है, जैसे—वृतु, वृधु आदि धातुओं से अनुदात्त 'उ' आत्मनेपद का नियम करता है, साथ ही 'क्त्वा' प्रत्यय के योग में 'इट्' आगम का विकल्प[1] भी। इसी प्रकार 'गुहू' (संवरणे) का 'ऊ' स्वरित इत् है। यह धातु के उभयपदी होने का नियम करता है, साथ ही इडागम का विकल्प भी,[2] जैसे—गूहति, गूहते; गूहिता, गोढा आदि।

(3) धातु-संसक्त 'अ' अनुबन्ध का विश्लेषण करते हुए यह कहना कि धातु-अनुबन्ध के रूप में उसका प्रयोग दो पृथक् रूपों में हुआ है—अनुदात्त और स्वरित स्थिति को और जटिल बना देता है, क्योंकि 'अ' अनुबन्ध 'पठ' आदि परस्मैपदी धातुओं में भी है, जोकि न अनुदात्त हो सकता है और न स्वरित। इसे परिशेषात्[3] उदात्त ही मानना होगा।

(4) कुछ अनवधानताएं 'क्' अनुबन्ध के विश्लेषण में हुई हैं, जो इस प्रकार हैं—

(क) 'क्' अनुबन्ध का प्रयोग सार्वधातुक प्रत्ययों[4] के साथ बताया है, जबकि पाणिनि ने किसी सार्वधातुक (तिङ्, शित्) के साथ 'क्' नहीं जोड़ा है।

(ख) सार्वधातुक आर्धधातुक से पृथक्[5] 'कृत्' प्रत्ययों का उल्लेख अवांछनीय और भ्रान्तिकारक है, क्योंकि सार्वधातुक तथा आर्धधातुक के अन्तर्गत सभी 'तिङ्' और 'कृत्' आ जाते हैं।

(ग) अन्त में 'क्' अनुबन्ध वाले दो आर्धधातुक प्रत्यय 'यक्' और 'ठक्'[6] बताये हैं, जबकि दूसरा प्रत्यय 'टक्' होना चाहिए। 'ठक्' प्रत्यय तद्धित का होने से आर्धधातुक नहीं होता।

(घ) तेरह तद्धित प्रत्ययों में 'क्' का उल्लेख करने के स्थान पर उसे तेरह 'कृत्'[7] प्रत्ययों में बताया है।

---

1. 'उदितो वा' (अष्टा० 7.2.56)
2. 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितोवा' (अष्टा० 7.2.44)
3. 'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्' (अष्टा० 1.3 78)
4. जी० वी० देवस्थली, अनुबन्धाज़ आफ पाणिनि, पृ० 63 : "Mute k has been used with agamas, sarvadhatuka and ardhadatuka pratyayas, and krt, taddhita and other kinds of pratyayas."
5. वही
6. वही
7. वही

(ङ) 'क्' अनुबन्ध के विना अतिदष्ट 'कित्व' वाले प्रत्ययों की सूची में 'क्त्वा' को भी शामिल किया है, जबकि 'क्त्वा' बोलते ही 'क्' सर्वप्रथम सुनाई देता है। वस्तुत: मृड्, मृद्, गुध् आदि धातुओं के 'सेट्' होने से पाणिनि का 'नक्त्वा सेट्' (1.2.18) सूत्र उनसे आगे 'क्त्वा' के कित्व को अमान्य करता है। अत: 'मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवस: क्त्वा' (1.2.7) से उसके कित्व का प्रति-विधान करना पड़ा है।

(च) कित्व का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए 'कृत्,' कित् प्रत्ययों[1] से पूर्व को गुण और वृद्धि का निषेध बताया है, जबकि कित् चाहे कृत् हो चाहे तिङ्'[2] गुण-वृद्धि नहीं होंगे।

(छ) 'घ्' अनुबन्ध को केवल तीन कृत प्रत्ययों में प्रयुक्त बताया है, जबकि उसका प्रयोग चार कृत् प्रत्ययों में है। यहां लेखक द्वारा 'घ्'[3] की उपेक्षा हो गयी।

(ज) 'ड्' अनुबन्ध के प्रसंग में दो कृत् प्रत्ययों में केवल 'ड्'[4] को प्रस्तुत हैं। 'ड'[5] प्रत्यय उपेक्षित रह गया।

7.6. अनुबन्धों के प्रयोग के विषय में कुछ इसी प्रकार की भ्रान्तियां डा० विद्या निवास मिश्र की भी पाई गई हैं :—

(क) डा० मिश्र ने इस तथ्य की उपेक्षा करते हुए कि विधीयमान 'अण्' सवर्ण का ग्राहक नहीं बनता, कुछ पाणिनीय सूत्रों में 'तपर' की आवश्यकता बतायी है।[6] उनके अनुसार 'एरु :' (3.4.86) का पाठ 'इत उत्' समीचीन था। उनका अनुमान है कि प्रथम पद में मात्रालाघव अथवा स्पष्टता के लिए 'तपर' को टाला गया है ताकि 'इत्' से लोट् के तिप् आदि प्रत्ययों के इत् का बोध न हो जाये। द्वितीय के बारे में उनकी धारणा है कि मौखिक परम्परा ने 'तपर' खो दिया है। दोनोंसमाधान निराधार हैं। यहाँ 'तपर' का प्रयोजन ही नहीं है। यहां षष्ठ्यन्त 'ए:' से दीर्घादि के ग्रहण की आपत्ति तब हो यदि वह 'लोट्' में कहीं सम्भव हो। 'उ' विधीयमान है, अत: सवर्णग्राहक हो ही नहीं सकता।

(ख) सूत्र 3.4.80, 3.4.94, 3.4.96, 4.1.36, 4.1.38, 4.4.108, 6.4.67, 7.1.34 में जो तपर पाठ की भ्रष्टता की आशंका है वह भी उक्त दृष्टि से पाणिनि-सम्मत नहीं है।

---

1. जी० वी० देवस्थली, अनुबन्धाज आफ पाणिनि, पृ० 66
2. 'स्तुयात्' आदि कित् 'तिङ्' में गुण नहीं होता। देखिये—'किदाशिषि' (अष्टा० 3.4.104)
3. जी० वी० देवस्थली, अनुबन्धाज आफ पाणिनि, पृ० 176
4. वही, पृ० 121
5. 'सप्तम्यां जनेर्ड:' (अष्टा० 3.2.97)
6. वि० नि० मिश्र, दि डेस्क्रिप्टिव टेकनीक आफ पाणिनि, पृ० 63-64

(ग) 'क्' अनुबन्ध के कार्यों का प्राकरणिक अन्तर बताते हुए उसे 'कृत्' प्रत्ययों में अङ्ग के 'अच्' को 'गुण' या 'वृद्धि' का निमित्त[1] माना है, जबकि तद्धित प्रत्ययों में उसे अंग की आदि वृद्धि का निमित्त कहा है। अष्टाध्यायी के अनुसार धातु-विहित प्रत्ययों में 'क्' और 'ङ्' कभी गुण और वृद्धि के निमित्त नहीं होते।

7.7. अनुबन्धों के अध्ययन के अन्तर्गत उपर्युक्त असावधानियां कोई अनहोनी घटना नहीं है। पाणिनीय अनुबन्ध-योजना अत्यन्त जटिल और बहूद्देश्यीय है। अतः उसके अध्ययन को नये-नये प्रयासों की आवश्यकता है। देवस्थली ने वर्ण-माला-क्रम से प्रत्येक अनुबन्ध का धातु, प्रातिपदिक, तिङ्, कृत्, तद्धित एवं स्त्री-प्रत्यय आदि में एकत्र प्रयोजन निरूपण किया है, जोकि संदर्भ की अनेकता से दुर्बोध हो जाता है। पाणिनि ने एक ही अनुबन्ध को भिन्न-भिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न कार्य-सिद्धि को अपनाया है। अतः पाणिनीय विधा में अनुबन्धों की स्पष्ट भूमिका जानने के लिए उनके अध्ययन की निम्नलिखित रूपरेखा अधिक समीचीन होगी :

(1) धातु-संसक्त अनुन्ध एवं उनके कार्य।
(2) धातु-प्रत्यय-संसक्त एवं उनमें अतिदिष्ट अनुबन्ध तथा उनके कार्य।
(3) प्रातिपदिक-संसृष्ट अनुबन्ध एवं उनके कार्य।
(4) प्रातिपदिक-प्रत्यय-संसक्त अनुबन्ध और उनके कार्य।
(5) आगम-संसक्त अनुबन्ध और उनके कार्य।
(6) आदेश-संसक्त अनुबन्ध तथा उनके कार्य।
(7) स्वर-संसक्त अनुबन्ध और उनके कार्य।
(8) हल्-संसक्त अनुबन्ध और उनके कार्य।
(9) शून्य-रूपग्राम-संसक्त अनुबन्ध तथा उनके कार्य।
(10) चतुर्दश सूत्री के अनुबन्ध तथा उनके कार्य।

7.8. धातु-संसक्त अनुबन्धों पर एक विशेष दृष्टि

जैसाकि कहा गया था पाणिनि के सामने आत्मनेपदादि नियम करने को

---

1. V. N. Mishra, Descriptive technique of Panini, p. 64: "A k notation has two sets of confrastive functions, k of the primary derivational sufflx stands for the strengthening or lengthening of the vowel of the constituent proceding it, while the same k of the secondary derivational sufflx stands for the lengthening of the first syllable vowel of the constituent preceding it."

धातुओं के त्रिधा विभाजन की आवश्यकता थी। साथ ही एक ही वर्ग की धातुओं से व्याकरणिक कार्यों के लिए कुछ का ग्रहण करना और कुछ का छोड़ा जाना आवश्यक था। इससे भी आगे परस्मैपदी, आत्मनेपदी, उभयपदी तीनों ही धातु-वर्गों से कतिपय समान कार्यों के लिए तीनों वर्गों से धातुओं को ग्रहण करना था। धातुओं का समान और असमान कार्यों के लिए समुच्चयन अनुबन्धों की सहायता से ही सम्भव हुआ।

धातु अनुबन्धों के आसञ्जन में पाणिनीय रीति यह रही है : पद-नियम के लिए ऐ, औ को छोड़कर सभी स्वरों का तथा ङ् और ञ्—दो व्यंजनों का प्रयोग किया है, यद्यपि आत्मनेपदादि नियम ङ् और ञ् अनबन्धों से ही हो सकता था। किन्तु समान व्याकरणिक कार्यों के लिए तीनों समुच्चयों से कतिपय धातुओं के ग्रहणार्थ समान स्वरों का अनुबन्धन किया। इन स्वरों का आत्मनेपदी और उभयपदी धातुओं में जहां अनुबन्धन करना पड़ा वहां ङ् और ञ् को अनावश्यक मानकर छोड़ दिया। उन्हीं स्वरों को अनुदात्त और स्वरित करके पदनियम में भी उपयोग कर लिया। इससे शास्त्र-लाघव तो हुआ ही कुछ धातुओं में आवश्यकतानुसार दो-दो स्वरानुबन्ध करने में सरलता हो गयी, क्योंकि ङ् या ञ् को अन्त में नहीं रखा गया। इस प्रकार पाणिनि ने स्वरानुबन्धों का दोहरा लाभ उठाया। अनुदात्तेत् स्वरानुबन्ध से एक तीसरा लाभ भी लिया जो अनुदात्तेत् हलादि धातु से 'युच्' प्रत्यय विधि तथा अनुदात्त स्वर विधि के रूप में रहा।

'स्वरित इत्' का अनुदात्तेत् की भांति पद नियम के अतिरिक्त कोई अन्य प्रयोजन नहीं, तथापि जिन उभयपदी धातुओं में दो-दो स्वरानुबन्ध करने थे वहां 'ञ्' की स्थिति भार ही नहीं अनावश्यक भी रहती। अतः स्वर को ही स्वरितेत् मान लिया।

जो व्याकरणिक कार्य उक्त अनुबन्धों की परिधि से रह गये उन्हें धातुओं में ष् (क्षमूष्), आरोपित मित् (घटादयोमितः आदि) तथा स्वर-हल्-समुच्चित अनुबन्ध (ञि, टु, डु, इर्) लगाकर सपन्न किया।

7.9. धातु-संसक्त अनुबन्धों का वर्गीकरण

(1) **स्वरानुबन्ध**—इनके प्रयोग की दो दिशायें हैं।

(क) उदात्तादि वर्ण-धर्मों द्वारा, जैसे—'अनुदात्तेतश्च हलादे :'।

(ख) वर्ण-व्यक्ति के नाम द्वारा, जैसे—'आदितश्च'।

(2) **हल् अनुबन्ध**—ङ् और ञ् पदनियम के लिए हैं। इनके अतिरिक्त 'क्' और 'ष्' दो अनुबन्धों का प्रयोग और हुआ है। कुछ धातुओं को धातुपाठ में मित्' प्रतिज्ञात किया गया है।

(3) **समुच्चित अनुबन्ध**—जैसे—'इर्' ञि, टु, डु।

आगे उपयोगी अनुबन्ध-तालिकाओं में पूर्वोक्त योजना के अनुसार अनुबन्ध तथा भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में तन्मूलक संज्ञा के कार्य प्रस्तुत किए जा रहे हैं। अनुबन्धमूलक संज्ञाओं तथा तत्सम्बन्धी सूत्र में उसके प्रयोग से पाणिनीय शैली का अधिक मूर्त्त रूप प्रस्तुत करने की इच्छा से 'सूत्र' सन्दर्भ भी साक्षात् दिए गए हैं।

7.10. धातु-संसक्त-अनुबन्ध

धातु-प्रतिरूप	अनुबन्ध	अनुबन्धमूलक समुच्चय	संदर्भ-सूत्र	कार्य
स्वर-धर्म				
एध	अनुदात्त	अनुदात्तेत्	(1) अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (1.3.12)	आत्मनेपद
			(2) अनुदात्तेतश्च हलादे :	'युच्' प्रत्यय
			(3) तास्यनुदात्तेन्ङि—अनुदात्तदुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमहन्ङो : (6.1.185)	
भज	स्वरित	स्वरितेत्	स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (1·3.72)	उभयपद
पठ	उदात्त	उदात्तेत्	—	परिशेष से परस्मैपद
स्वर-वर्ण				
एध	अ	—	—	उच्चारणार्थ तथा यथास्थान आत्मनेपदादि नियमार्थ।
पठ	"		"	
ञिमिदा	आ	आदित	आदितश्च (7.2.16)	इण्निषेध।

वदि	इ	इदित्[1]	इदितोनुम् धातो : (7.1.58)	नुम
मदी	ई	ईदित्	श्वीदितो निष्ठायाम् (7.2.14)	इण्निषेध
वृतु	उ	उदित्	उदितो वा (7.2.56)	विकल्प से इट्
गाहू	ऊ	ऊदित्	स्वरतिसूतिसूयतिधूञू-दितो वा (7.5.44)	इट् विकल्प
टुवेपृ	ऋ	ऋदित्	नाग्लोपिशास्वृदिताम् (7.4.2)	उपधा ह्रस्व नहीं
गम्लृ	लृ	लृदित्	पुषादिद्युतादिलृदित: परस्मैपदेषु (3.1.55)	'च्लि' को 'अङ्'
लगे	ए	एदित्	ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणि-श्व्येदिताम् (7.2.5)	'सिच्' परे वृद्धि नहीं
भुजो	ओ	ओदित्	ओदितश्च (8.2.44)	निष्ठा नत्व

हल् अनुबन्ध

ओहाक्	क	—	—	सामान्य ग्रहणार्थ[2]
इङ्	ङ्	ङित्	अनुदात्तङित आत्मने-पदम् (1.3.12)	आत्मनेपद
कृञ्	ञ् ञित्		स्वरितञित: कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (1.3.72)	उभयपद
घट्	म्	मित्[3]	मितां ह्रस्व: (6.4.92)	उपधा ह्रस्व
क्षमूष्	ष्	षित्	षिद्भिदादिभ्योऽङ् (3.3.104)	अङ् प्रत्यय

1. जो धातुएं 'इदित' नहीं होती, 'कित्' 'ङित' प्रत्ययों में उनका नलोप होता है।

2. यदि 'ओहाक्' धातु में 'क्' अनुबन्ध न हो तो यह 'ओदित्' विशेष हो जायेगी और 'ओदितश्च' (8.2.45) से केवल इसका ही ग्रहण होगा, 'ओहाङ्' का नहीं— 'तदनुबन्धक-ग्रहणेनातदनुबन्धकस्यग्रहणम्।

3. पाणिनि ने किसी भी धातु से 'म' अनुबन्ध नहीं जोड़ा, केवल धातु-पाठ में कतिपय धातुओं को 'मित्' प्रतिज्ञात कर दिया है, यथा—'घटादयो मित:'।

समुदित अनुबन्ध

भिदिर्	इर्	इरित्	इरितो वा (3.1.57)	'च्लि' को अङ् विकल्प
ञि तृषा	ञि	ञीत्	ञीतः क्तः (3.2.87)	निष्ठा नत्व
टुवेपृ	टु	ट्वित्	ट्वितोऽथुच् (3.3.89)	अथुच्
डुपचष्	डु	ड्वित्	ड्वितः क्त्रिः (3.3.88)	क्त्रि

7.11. धातु-प्रत्यय-संसक्त अनुबन्ध

प्रत्यय-प्रतिरूप	अनुबन्ध	अनुबन्धमूलक-वर्ग	संदर्भ-सूत्र	कार्य
णिनि	इ	—	—	उच्चारणसुविधा अन्त्यलोपवारण जैसे—'णिनि'
शतृ	ऋ	उगित्	1. उगितश्च (4.1.6)	ङीप्
			2. उगितश्च (6.3.45)	तरप्, तमप्, में नदी प्रत्यय को ह्रस्व।
			3. उगिदचां सर्वनाम-स्थानेऽधातोः (7.1.70)	सर्वनामस्थान में 'नुम्'
क्यप्	क्	कित्[1]	1. अदो जग्धिर्ल्यप्ति-किति (2.4.36)	'जग्धि' आदेश
			2. दधातेर्हि (7.4.42)	'धा' को 'हि'

1. धातु प्रत्ययों में लगभग 90 प्रतिशत प्रयोजन 'क्' 'ङ्' अनुबन्धों के समान हैं। केवल तकारादि 'कित्' और कित् लिट् में भेद है। वास्तव में ङित् से होने वाले सभी कार्य 'कित्' से सम्भव हैं, किन्तु 'अपित्' सार्वधातुकों को कित् से बाहर रखने को ङित् करना पड़ा है। इसके दो उद्देश्य हैं—
   (क) 'अपित्' तादि सार्वधातुक को तादि कित् से पृथक् रखना है अन्यथा 'अदो जग्धिः⋯' आदि विधियां उसमें भी लगेंगी।
   (ख) 'अपित्' सार्वधातुक में 'वचिस्वपि⋯(6.1.15)' सम्प्रसारण नहीं होता, कित् होने से प्राप्त होगा। अतएव 'क्' 'ङ्' दो अनुबन्ध करने पड़े।
   दोनों अनुबन्धों के समान प्रयोजन 'ङ्' अनुबन्ध के अन्तर्गत दिये जाएंगे।

			3. जहातेश्चक्त्वि (7.4.43)	वेद में 'हि' विकल्प
			4. दो दद्घोः (7.4.46)	'दा' को 'दद्'
			5. अच उपसर्गात्तः (7.4.47)	'दा' को 'त्'
			6. वचिस्वपियजादीनां-किति (6.1.15)	सम्प्रसारण
			7. वश्चास्यान्यतरस्याम् (6.1.39)	'व' को 'य' विकल्प से
			8. द्यतिस्यतिमास्था-मित्तिकित (7.4.40)	'इत्' भाव
			9. घ्वसोरेद्धावभ्यास-लोपश्च (6.4.119)	एत्व-अभ्यास लोप
			10. अत एकहल्मध्येऽनादेशा देर्लिटि (6.4.120)	एत्व-अभ्यास लोप
			11. तृफलभजत्रपश्च (6.4.122)	एत्व-अभ्यास लोप
			12. राधो हिंसायाम् (6.4.123)	एत्व-अभ्यास लोप
			13. वा जृभ्रमुत्रसाम (6. 4. 124)	विकल्प से एत्व-अभ्यास लोप
			14. फणां च सप्ता-नाम् (6. 4. 125)	विकल्प से एत्व-अभ्यासलोप
			15. न शसददवादि-गुणानाम् (6. 4. 126)	एत्व-अभ्यास लोप निषेध
खच्	ख्	खित्	1. खित्यनव्ययस्य (6. 3. 66)	ह्रस्व
			2. अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् (6. 3. 67)	मुम्
			3. इच एकाचोऽम्प्रत्यय-वच्च (6. 3. 68)	अम्

ग्नुः	ग्	गित्	ग्लाजिस्थश्चक्स्नुः[1] (3. 2. 139)	स्था इत्व न (ग्स्नुः)
घञ्	घ्	घित्	चजोः कुः घिण्यतोः (7. 3. 52)	कुत्व
नङ्	ङ्	ङित्	1. क्ङिति च (1. 1. 5)	इक् को गुण वृद्धि निषेध
			2. अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (6. 4. 15)	उपधा-दीर्घ
			3. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (6. 4. 24)	उपधा का लोप
			4. शासइदङ् हलोः (6. 4. 34)	उपधा इत्व
			5. अनुदात्तोपदेशवनति-तनोत्यादीनामनु-नासिकलोपो झलि क्ङिति (6. 4. 37)	अनुनासिकलोप
			6. गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि (6. 4. 98)	उपधा लोप
			7. तनिपत्योश्छन्दसि (6. 4. 99)	उपधा लोप
			8. घसिभसोर्हलि च (6. 4. 100)	उपधा लोप
			9. दीङो युडचि क्ङिति (6. 4. 63)	युट्

1. 'क्स्नु' प्रत्यय वस्तुतः गित् है। [सूत्रपाठ में चर्त्वेन 'क्' श्रुत होता है। कित् मानने से 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' (अष्टा० 6.4.66) से 'स्था' को ईत्व की आपत्ति होगी। 'क्ङिति च' (अष्टा० 1.1.5) में भी चर्त्वेन 'ग्' भी निर्दिष्ट है अतः 'जिष्णु' में गुण नहीं होगा। देखिए—काशिका (अष्टा० 3.2.139)।

10. ज्वरत्वरश्रिव्यविमवामुपधायाश्च (6. 4. 20)	उपधा-ऊठ्
11. राल्लोपः (6. 4. 21)	रेफ से आगे का लोप
12. छ्वोः शूडनुनासिके च (6. 4. 19)	च्छ को श, व को ऊ
13. अत उत्सार्वधातुके (6. 4. 110)	'करोति' के अ को उ
14. श्नसोरल्लोपः (6. 4. 111)	अल्लोप
15. श्नाभ्यस्तयोरातः (6. 4. 112)	आ लोप
16. ई हल्यघोः (6. 4. 113)	ईत्व
17. अयङ् यि क्ङिति (7. 4. 22)	शी को अय आदेश
18. आतो लोप इटि च (6. 4. 64)	आलोप इट् परे
19. घुमास्थागापाजहातिसां हलि (6. 4. 66)	इत्व
20. जनसनखनां सञ्झलोः (6. 4. 42)	आत्व
21. ये विभाषा (6. 4. 43)	विकल्प से आत्व
22. ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनांङिति च (6. 1. 16)	सम्प्रसारण
23. स्वापेश्चङि (6. 1. 18)	सम्प्रसारण
24. स्वपिस्यमिव्येयांयङि (6. 1. 19)	सम्प्रसारण
25. नित्यं ङितः (3 4. 99)	सलोप

			26. इतश्च (3. 4. 100)	इलोप
			27. तस्थस्थमिपां तांतंतामः (3. 4. 101)	ताम्, तम्, त, अम्
			28. आतोङितः (7. 2. 81)	ईय
			29. लङादि लकार	ङित् वर्ग
अच्	च्[1]	चित्	चितः (6. 1. 163)	अन्तोदात्त
जुस्	ज्	—	—	जुस् (लिङ्) और उस् (लिट्) का भेद
घञ्	ञ्[2]	ञित्	ञिनित्यादिर्नित्यम् (6. 1. 197)	आदि उदात्त
ट	ट्	टित्	1. —	टित् लकार
			2. टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः (4. 1. 15)	ङीप्
ड	ड्	डित्[3]		टि लोप
अण्	ण्[4]	णित्	1. अचो ञ्णिति (7. 2. 115)	अजन्त को वृद्धि
			2. अत उपधायाः (7. 2. 16)	उपधा वृद्धि
			3. हनस्तोऽचिण्णलोः (7. 3. 32)	हन् को त

1. एकाक्षर 'क्यच्' आदि में 'च्' अनुबन्ध सामान्य ग्रहणार्थ है अर्थात् 'नः क्ये' (1.4.15) सूत्र से क्यच्, क्यष् दोनों का ग्रहण होता है।
2. 'ञ्' और 'ण्' उक्त स्थल को छोड़कर सहगामी अनुबन्ध हैं। दोनों का प्रयोग स्वर-भेद के लिए है।
3. पाणिनि ने स्वयं 'ड्' अनुबन्ध का उल्लेख करके धातु-प्रत्यय को कोई व्याकरणिक कार्य नहीं बताया है। 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' (अष्टा० 2.4.85) में डित्करण की व्यर्थता देखकर वार्तिककार ने सूत्रकार का यह अभिमत लिया है—'डिति टेर्लोपाल्लोपः' (वा० 1676) अर्थात् डित्करण बिना भसंज्ञा के 'टिलोप' के लिए है। पाणिनि ने 'टेः' (अष्टा० 6.4.143) से भसंज्ञक का टिलोप' कहा है।

			4. आतो युक् चिण्कृतोः (7. 3. 33)	युक्
			5. नोदात्तोपदेशस्य-मान्तस्यानाचमेः (7. 3. 34)	उपधावृद्धि निषेध
तव्यत्	त्	तित्	तित्स्वरितम् (6. 1. 185)	स्वरित
सन्	न्	नित्	1. ञ्नित्यादिर्नित्यम् (6. 4. 197)	आद्युदात्त
			2. तादौ च निति कृत्यतौ (6. 2. 50)	प्रकृतिस्वर
शप्	प्	पित्	1. नाभ्यस्तस्याचि पितिसार्वधातुके (7. 3. 87)	लघूपध गुण निषेध
			2. उतो वृद्धिर्लुकि हलि (7. 3. 89)	वृद्धि
			3. ऊर्णोतेर्विभाषा (7. 3. 90)	विकल्प वृद्धि
			4. गुणोऽपृक्ते (7. 3. 91)	गुण पित् परे
			5. तृणह इम् (7. 3. 92)	इम् आगम
			6. ब्रुव ईट् (7. 3. 93)	ईट् आगम
			7. यङो वा (7. 3. 94)	ईट् विकल्प
			8. अनुदात्तौ सुप्पितौ (3. 1. 4)	प्रत्यय अनुदात्त
			9. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (6. 1. 71)	तुक् आगम
			10. मीह्रीभृमदजनघनदरिद्रा-जागरां प्रत्ययात्पूर्वं-पिति। (6. 1. 192)	प्रत्यय से पूर्व उदात्त

श्नम्	म्	मित्	—	मित् आगम अन्त्य अच् के पर में लगता है।
अनीयर्	र्	रित्	उपोत्तमं[1] रिति (6. 1. 217)	उपोत्तम उदात्त
ण्वुल्	ल्	लित्	लिति (6. 1. 193)	लित् से पूर्व उदात्त
शप्	श्	शित्	1. तिङशित्सार्वधातुकम् (4. 4. 113)	सार्वधातुक संज्ञा
			2. ष्ठिवुक्लम्यमिचमां शिति (7. 3. 75)	दीर्घ
			3. क्रमः परस्मैपदेषु (7. 3. 76)	दीर्घ
			4. इषुगमियमाम् छः (7. 3. 77)	'छ' अन्त्यादेश
			5. पाघ्राध्मास्थाम्नादाण् दृश्यर्त्तिसर्त्तिशदसदां पिब-जिघ्रधमतिष्ठमनयच्छ पश्यर्छधौशीय सीदाः (7. 3. 78)	पिबादि आदेश
			6. ज्ञाजनोर्जा (7. 3. 79)	'जा' आदेश
			7. प्वादीनां ह्रस्वः (7. 3. 80)	ह्रस्व
			8. मीनातेर्निगमे (7. 3. 81)	ह्रस्व
			9. मिदेर्गुणः (7. 3. 82)	गुण
षाकन्	ष्	षित्	षिद्गौरादिभ्यश्च (4. 1. 41)	ङीष्

1. त्रिप्रभृतीनामन्त्यमुत्तमं तस्य समीपे यत् तदुपोत्तमम् (काशिका, अष्टा० 6.1.217)

7.12. प्रातिपदिक-संसक्त[1] अनुबंध

	अनुबंध	अनुबंधमूलक वर्ग	सूत्र-संदर्भ	कार्य
भवतु	उ	उगित्	सर्वादिगण (1.1.27)	
			1. उगिदचां सर्वनाम-स्थानेऽधातोः (1.1.70)	'नुम्'
			2. उगितश्च (4.1.6)	ङीप्
			3. उगितश्च (6.3.45)	तरप्, तमप् में 'नदी' ह्रस्व
चित्रङ्	ङ्[2]	ङित्	अनुदात्तङित आत्मनेपदम (1.3.12)	'ङित्' आत्मनेपद
एकागारिकट्	ट्	टित्	एकागारिकट् चौरे (5.1.113)	ङीप्

7.13. अ. प्रातिपदिक-प्रत्यय-संसक्त अनुबंध—सुप् प्रत्यय[3]

प्रत्यय प्रतिरूप	अनुबंध	अनुबंधमूलक वर्ग	सूत्र-संदर्भ	कार्य
ङसि	इ	—	टाङसिङसामिनात् स्या : (7.1.12)	'ङसि', ङस् का भेद
सु	उ	—	सु (प्रथमा ए० व०)	उच्चारणार्थ
लुक्	क्	—	प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (1.1.61)	लुक्, श्लु, लुप् का भेद

1. पाणिनि ने व्याकरणिक कार्यों की निष्पत्ति के लिए गण-पाठ और सूत्र-पाठ में प्रातिपदिकों में कुछ अनुबन्ध जोड़ दिये हैं, जैसे 'भवतु' में 'उ' और नदट्, देवट् आदि में 'ट्' अनुबन्ध जोड़ा है। देखिए—सि० कौ० तत्वबोधिनी (अष्टा० 4.1.15) : पचादिष्वस्य पाठात् स्वतोऽस्य टित्वम्।

2. पाणिनि ने 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' (अष्टा० 3.1.19) में 'चित्रङ्' प्रातिपदिक का 'ङित्' करण धातुता पाने पर आत्मनेपदविधानार्थ किया है। देखिये—काशिका 'ङकार आत्मनेपदार्थः।

3. 'सुप्' प्रत्ययों में निर्दिष्ट अनुबन्धों से भिन्न अनुबन्ध का प्रयोग भी पाणिनीय सूत्रों में→

ङे	ङ्	ङित्	1. ङिति ह्रस्वश्च (1.4.6)	'नदी' संज्ञा
			2. घेर्ङिति (7.3.111)	गुण
			3. आण् नद्याः (7.3.112)	'आट्' आगम
			4. सर्वनाम्नः स्याड् — 'स्याट्' आगम, ह्रस्वश्च (7.3.114)	ह्रस्व
			5. तीयस्य ङित्सुवा सर्वनाम संज्ञा- (वा०206)	विकल्प
जस्	ज्	—	जस् (प्रथमा व०व०) 'जस्' 'शस्' से भेद	
टा	ट्	—	1. औट् (द्वितीया द्वि० व०)	सुट् प्रत्याहार[1]
			2. टा (तृतीया ए०व०)	विभक्ति विशेषणार्थ[2]

मिलता है, जो निम्नलिखित हैं :

(क) औङ आपः (अष्टा० 7.1.18)

(ख) आङो नास्त्रियाम् (अष्टा० 7.3.120)

व्याख्याकारों का मत है कि 'औङ्' और 'आङ्' दोनों प्रत्यय 'औ' तथा 'टा' के स्थान पर पूर्वाचार्यों द्वारा कल्पित थे। पाणिनि ने उनका ही व्यवहार कर लिया है। यदि यह सत्य भी हो तो भी सूत्रकार ने उस आवश्यकता का कोई संकेत नहीं दिया, जिससे उसे अपने प्रत्ययरूप को त्याग कर प्राचीन रूपों का उक्त सूत्रों में उल्लेख करना पड़ा। लगता यह है कि सूत्रकार ने विभक्तिसौकर्य के लिए 'ङ' को अन्त्य हल् लगाया है। 'औ' और 'टा' का षष्ठीरूप सुकर नहीं था। साथ ही, 'औ' और 'औट्' में तदनुबन्धकग्रहणे नाऽतदनुबन्धकस्य ग्रहणम्' नियम भी आड़े आता है क्योंकि 'औट आपः' सूत्र करने से विभक्तिसौकर्य तो है, किन्तु 'औ' का ग्रहण न हो सकेगा, क्योंकि वह 'तदनु बन्धक' नहीं है। यदि 'औ' को सूत्रत्वात् निर्विभक्तिक पद के रूप में रख दिया जाये— 'औ आपः', तो भी वह 'औट्' का ग्रहण नहीं करा पाएगा—निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्'। 'औङ्' में 'ङ्' लग जाने से 'औ और औट्' दोनों का सामान्य (औ) के आधार पर ग्रहण हो जाता है। इसका ङित्करण उक्त प्रत्ययों को 'ङित्' विभक्तिवर्ग में नहीं डाल सकता, क्योंकि यह तो उक्त दोनों प्रत्ययों की संकेतसंज्ञा है। ङित और अङित सुप् का निर्णय तो अष्टा० 4.1.2 में अनुबन्धकरण से होगा।

1. सुडनपुंसकस्य (अष्टा० 1.1.43)
2. सि० कौ० तत्वबोधिनी (अष्टा० 4.1.2) 'टाटकारस्तु टाङसिङसामिनात्स्याः' (अष्टा० 7.1.12), द्वितीया टौस्वेनः (अष्टा० 2.4.34) इति विशेषणार्थः।

सुप्	प्	—	सुप् (सप्तमी ब० व०)	सुप्प्रत्याहारार्थ[1]

ब. प्रातिपदिक-प्रत्यय-संसक्त अनुबंध—स्त्री प्रत्यय

प्रत्यय प्रतिरूप	अनुबंध	अनुबंधमूलक वर्ग	सूत्र-संदर्भ	कार्य
ङीप्	ङ्	—	ङ्याप्प्रतिपदिकात् (4.1.1)	सामान्यग्रहणार्थ[2]
चाप्	च्	चित्	चितः (6.1.163)	अन्तोदात्त
डाप्	ड्	डित्	—	'टि' लोप
ङीन्	न्	नित्	ञ्नित्यादिर्नित्यम् (6.1.197)	'नित्' परे आदि उदात्त
टाप्	प्	पित्	अनुदात्तौ सुप्पितौ (3.1.4)	प्रत्यय अनुदात्त
ङीष्	ष्	—	—	सामान्यग्रहण अविधातार्थ[3]

स. तद्धित-प्रत्ययसंसक्त अनुबंध

प्रत्यय प्रतिरूप	अनुबंध	अनुबंधमूलक वर्ग	सूत्र-सन्दर्भ	कार्य
विनि	इ	—	—	उच्चारणार्थ
ध्यमुञ्	उ	—	—	उच्चारणार्थ
मतुप्	उ	अत्वन्त	(1) अत्वसन्तस्य चाधातोः (6.4.14)	उपधा दीर्घ

1. सि० कौ०, तत्त्वबोधिनी (अष्टा० 4.1.2) 'सुपः पकारस्तु प्रत्याहारार्थः।'
2. तीनों प्रत्ययों में 'ङ्' सामान्य होने से 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (अष्टा० 4.1.1) में 'ङी' से तीनों का (ङीप्, ङीन्, ङीष्) ग्रहण होता है।
3. यदि 'ङीष्' में 'ष्' अनुबन्ध न हो तो वह स्वयं 'ङी' रूप में विशेष प्रत्यय हो जायेगा और उस दशा में 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' के ङी' पद से केवल उसका ही ग्रहण होगा, 'ङीन्' का नहीं।

"	"	उगित्	(2) उगित्मूलक विधियां वही जो उगित धातु प्रत्ययों में	देखिये उगित कार्य धातु-प्रत्यय तालिका
फक्	क्	कित्	(1) किति च (7.2.118)	आदि वृद्धि
"	"	"	(2) कितः (6.1.165)	अन्तोदात्त
आलच्	च्	चित्	चितः (6.1.163)	प्रत्यय को अन्तोदात्त
यञ्	ञ्	ञित्	(1) तद्धितेष्वचामादेः (7.2.17) आदि वृद्धि	
"	"	"	(2) ञ्नित्यादिर्नित्यम् ञित् परे आद्युदात्त (6. 1. 197)	
ढट्	ट्	टित्	देखो धातु-प्रत्यय	ङीप्
ड्य	ड्	डित्	(1) —	विशेषणार्थ
"	"		(2) तिविंशतेर्डिति (6.4.142)	विंशति का 'ति' लोप
अण्	ण्	णित्	तद्धितेष्वचामादेः (7 2.17)	आदि वृद्धि
यत्	त्	तित्	तित्स्वरितम् (6.1.185)	प्रत्ययस्वरित
इष्ठन्	न्	नित्	ञ्नित्यादिर्नित्यम् (6.1.197)	आदि उदात्त
पाशप्	प्	पित्	अनुदात्तौसुप्पितौ (3.1.4)	अनुदात्त
जातीयर्	र्	रित्	उपोत्तमं रिति (6.1.217)	उपोत्तम को उदात्त
ट्युल्	ल्	लित्	लिति (6.1.193)	लित् से पूर्व उदात्त
ष्यङ्	ष्	षित्	षिद्गौरादिभ्यश्च (4.1.41)	ङीष्
छस्	स्	सित्	सिति च (1.4.16)	पद-संज्ञा[1]

1. 'पद'-संज्ञा होने से 'भवदीय' आदि में 'झलांजशोऽन्ते' (अष्टा० 8.2.39) से 'जश्' हो जाता है।

7.14. आगम-संसक्त अनुबंध

आगम[1] प्रतिरूप	अनुबंध	अनुबंधमूलक वर्ग	सूत्र-संदर्भ	कार्य
सक्[2]	अ	—	—	उच्चारणार्थ
कुक्	उ्	—	—	उच्चारणार्थ
तुक्	क्	कित्	आद्यन्तौ टकितौ (1.1.46)	'कित्' आगम अन्त में होता है।
तुट्	ट्	टित्	वही	'टित्' आगम आदि में।
मुम्	म्	मित्	मिदचोऽन्त्यात्परः (1.1.47)	'मित् आगम अन्त्य 'अच्' के आगे होता है।

7.15. आदेशसंसक्त-अनुबंध

आदेश प्रतिरूप	अनुबंध	अनुबंधमूलक वर्ग	सूत्र-संदर्भ	कार्य
अनङ्	ङ्	ङित्	ङिच्च (1.1.53)	अन्त्यादेश
जुस्	ज्	—	—	'जुस्' (लिङ्) और 'उस्' (लिट्) का अन्तर करता है।
इट्	ट्	—	इटोऽत् (3.4.106)	प्रत्यय विशेषणार्थ[3] है।
डा	ड्	डित्	—	'भ' संज्ञा के बिना 'टि' लोप।

---

1. पाणिनि ने आगमों के अनुबन्धमूलक तीन वर्ग किये हैं—टित्, कित्, मित्। केवल 'ऐच्' ऐसा आगम है जिसका स्थान-नियम अनुबन्ध से नहीं, शब्दतः बताया गया है—'न् य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' (अष्टा० 7.3.3)
2. 'सक्' कित आगम है। इसमें 'कुक' आदि के विपरीत 'अ' उच्चारणार्थ है 'उ' नहीं।
3. काशिका (अष्टा० 3.4.78) 'इटष्टकार इटोऽत् इतिविशेषणार्थः।'

ल्यप्[1]	ल्	लित्	लिति (6.1.193)	लित् परे रहते पूर्व उदात्त।
औश्	श्	शित्	अनेकाल्शित्सर्वस्य (1.1.55)	सर्वादेश[2]

7.16. स्वर-संसक्त अनुबंध

स्वरों की सावर्ण्य-मूलक बोधकता नियमित करने को उनसे तपरकरण किया है। जिन स्वरों के आगे या जिनसे पूर्व 'त्' अनुबंध संशक्त होता है वे सवर्ण के बोधक न होकर 'तत्काल' मात्र[3] के बोधक होते हैं, जैसे—अत् ह्रस्व 'वे' का बोधक है, अपने दीर्घादि भेदों का नहीं।

7.17. हल्-संशक्त अनुबंध

पाणिनि ने स्पर्श-वर्गों के आदि वर्ण के अन्त में 'उ' अनुबंध जोड़ा है और इस प्रकार 'कु, चु, टु, तु, पु' उदित् संज्ञाएं की हैं, जो अपने सवर्णों का ग्रहण[4] कराती हैं।

7.18 शून्य-रूपग्राम संसक्त अनुबंध

लुक्, श्लु, लुप्, प्रत्यय के लोप् की संज्ञाएं हैं। प्रत्यय का लोप इनमें जिसके द्वारा होता है तदनुसार ही उसकी संज्ञा होती है। इस प्रकार शून्यात्मक प्रत्यय रूपग्राम इन तीन संज्ञाओं वाला होता है। इनमें क्रमशः क्,[5] श्,[6] प्[7] इनका विषय-भेद करते हैं अर्थात् व्याकरणिक कार्यों में अंतर बताते हैं।

---

1. पाणिनीय रीति से 'ल्यप्' 'क्त्वा' के स्थान में होने वाला आदेश है—
'समासे न पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (अष्टा० 7.1.37)
2. पाणिनि ने 'शित्' सर्वादेश केवल रूपग्रामीय स्तर (प्रकृति-प्रत्यय) को ही किया है। उसने प्रातिपदिक, सुप्, विकरण और लकार के आदेशों को 'शित्' किया है, धातु के सर्वादेश को नहीं, जैसाकि 'देवस्थली' ने लिखा है—'देवस्थली', अनुबन्दाज आफ पाणिनि, पृ० 154, भाष्यकार ने घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च (अष्टा० 6.4.119) पर टिप्पणी करते हुए 'घु' के अभ्यास को होनेवाले लोप में सर्वादेशार्थ 'शित्व' अवश्य माना है। देखिए—सि० कौ० अष्टा० 6.4.119 पर 'तत्वबोधिनी'।
3. 'तपरस्तत्कालस्य' (अष्टा० 1.1.70)
4. 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' (अष्टा० 1.1.69)
5. 'लुक्तद्धितलुकि' (अष्टा० 1.2.49)
6. 'श्लौ' (अष्टा० 6.1.17)
7. 'लुपियुक्तवद् व्यक्तिवचने' (अष्टा० 1.2.51)

7.19. चतुर्दशसूत्री के अनुबंध

चतुर्दश सूत्री के 'ण्' आदि अनुबंध 'अण्' आदि वर्णप्रत्याहार बनाने के उपयोग में आते हैं। अष्टाध्यायी में इकतालीस वर्णप्रत्याहारों का प्रयोग हुआ है; जिन्हें चतुर्दश सूत्री के अन्तर्गत चतुर्थ अध्याय में देखा जा सकता है।

7.20. निष्कर्ष

पाणिनि ने अपने सूत्र-शास्त्र में लाघवार्थ जो भी उपाय अपनाये हैं, अनुबंधों का प्रयोग उन सबमें अधिक बीजगणितीय है। आचार्य 'देवस्थली' के शब्दों में 'पाणिनि की कृति अपनी संक्षिप्तता और सारगर्भता के लिए सुविदित है। ये दोनों विशेषतायें पाणिनि ने अनेक युक्तियों द्वारा प्राप्त की हैं; और उनमें अनुबंधों का प्रयोग सर्वाधिक सतर्कता-पूर्ण है। वास्तव में पाणिनि की कृति पर अच्छी प्रभुता पाने के लिए अनुबंधों से पूर्ण परिचय होना अभीष्टतम है।[3]

---

1. कात्यायन, वा० 16 (महा० अ० 1 पा० 1 [पस्पशा० 1, पृ० 59) : 'वृत्तिसमवायार्थ उपदेश: ।"
2. वही, वा० 17 : 'अनुबन्धकरणार्थश्च ।,
3. जी० वी० देवस्थली, अनुबन्धाज आफ पाणिनि, पृ० 3

अध्याय 8

स्थान्यादेश-व्यवस्था

8.1. 'स्थानी' एवं 'आदेश' का पाणिनीय अभिप्राय

पाणिनि ने 'स्थानी' और 'आदेश' की कोई परिभाषा नहीं की है, यद्यपि दोनों ही शब्दों का उसके सूत्रों में अनेकशः प्रयोग हुआ है।[1] इसका कारण दोनों शब्दों की स्वतोव्याख्यातता ही समझी जा सकती है। 'आचार्यस्य स्थानेशिष्यः' इत्यादि वाक्यों में स्थान शब्द का प्रयोग स्पष्टतः 'प्रसग'[2] या 'अवसर' के अर्थ में होता है। 'स्थानमस्यास्ति' इति स्थानिन् इस व्युत्पत्ति से जिसके प्रयोग का स्थान अर्थात् अवसर या प्रसंग हो वह 'स्थानी' कहलाता है। फलितार्थ रूप में शब्द-व्युत्पादन के लिए अपनाये गये कृत्रिम संरचनात्मक विश्लेषण में संरचना की जिस इकाई को प्रथम स्तर पर कल्पित किया जाय, किन्तु द्वितीय स्तर पर उसका प्रतिनिधित्व दूसरा उपादान करे, 'स्थानी' कहलाता है। अतएव पतञ्जलि ने 'स्थानी' की परिभाषा—'स्थानी' हि नाम यो भूत्वा न भवति[3]—इस रूप में की है। प्रयोग का अवसर होने पर भी जिसका प्रयोग न हो—'स्थानी' शब्द की इसी अर्थ-धारणा के अनुरूप पाणिनि ने 'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि

---

1. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (अष्टा० 1.1.56), युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यम: (अष्टा० 1.5.105) आदि।
2. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 7, पृ० 277 : 'स्थानशब्दश्च प्रसङ्गवाची।'
3. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 7, पृ० 296

मध्यमः' सूत्र में 'स्थानी' शब्द का 'अप्रयुज्यमान अर्थ में खुला प्रयोग किया है ।[1]

'आदिश्यते यः स आदेशः' इस व्युत्पत्ति से 'आदेश' शब्द स्थानी के प्रतिनिधि का बोधक है । शब्द-संरचना के प्रथम स्तर पर प्राप्त स्थानी का अग्रिम स्तर पर प्रतिनिधान करने से यह अभिनव विधि[2] होता है ।

8.2. स्थान्यादेश-व्यवस्था का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण

वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान विवेचनाधीन भाषा का संरचनात्मक विवरण देने को कृत्रिम प्रक्रिया का सहारा लेता है । इस संरचनात्मक विश्लेषण में उसे भाषा के संरचना-उपादानों—वाक्य, प्रकृति, प्रत्यय, वर्ण-समुदाय अथवा वर्ण-समुदाय अथवा वर्ण-व्यक्ति का स्पष्ट रूप में स्तरात्मक विभाजन करना होता है । शास्त्रकार इन सभी उपादानों के प्रक्रिया-अनुसार भाषा-वैज्ञानिक अर्थ निर्धारित करता है । संरचना-उपादानों के लिए परिभाषित तकनीकी नाम और उनके निर्धारित अर्थ अपनी शास्त्रीय परिधि में ही सार्थकता रखते हैं । उनकी अर्थवत्ता शास्त्रीय प्रक्रिया के सन्दर्भविशेष में है, स्वतन्त्र भाषाशब्दों की भांति नहीं, 'पच्' और 'ण्वुल्' आदि संरचना इकाइयां भाषावैज्ञानिक अर्थवत्ता रखती हैं परन्तु भाषिक अर्थवत्ता नहीं । भाषिक अर्थवत्ता तो 'पाचक' शब्द में ही होगी ।

भाषा की संरचनात्मक इकाइयों के आनुक्रमिक सम्बन्ध मुख्यतः तीन रूपों में मिलते हैं :—

(क) समुच्चय और सदस्य-जैसे धातु/भू ।

(ख) संघटन तथा संघटक का सम्बन्ध—जैसे पाचक/पच् + ण्वुल्

(ग) स्थानी का आदेश के साथ—जैसे वु/ अक ।

उक्त तीन प्रकार के सम्बन्धों में प्रथम दो ऐसे हैं जिनमें क्रमशः सदस्य का समुच्चय से और संघटक का संघटन से स्तर-भेद नहीं होता । इन्हें केवल व्याप्य-व्यापक दृष्टि से ही आनुक्रमिक समझना चाहिए । जहां तक तीसरे प्रकार के सम्बन्ध का प्रश्न है, वह वास्तव में प्रतिनिधि और प्रतिनिधेय का है । संरचना-प्रक्रिया में 'स्थानी' अगले स्तर पर 'आदेश' द्वारा प्रतिनिहित होता है ।

भाषा की संरचनात्मक इकाइयां मुख्यतः चार स्तरों[3] पर देखी जाती हैं—

1. नागेश, लघु० शेखर, पृ० 365

'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः' (अष्टा० 1.4.105) की व्याख्या के अन्तर्गत—स्थानं प्रसङ्गस्तद्वति स्थानिनीत्यर्थः स च तदर्थावगतो वक्त्राऽप्रयोग एव ।'

2. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 8, पृ० 296 : 'आदेशो हि नाम योऽभूत्वा भवति' ।

3. पाणिनीय अष्टाध्यायी में स्थानी और आदेश कभी-कभी एक स्तर पर देखे जाते हैं—जैसे अस्तेर्भूः' (2.4.52) 'अस्' रूपग्राम को उसी स्तर पर 'भू' आदेश करता है । परन्तु इसे एक स्तर पर मानना उचित न होगा । वस्तुतः ऐसे सन्दर्भों में पाणिनि ने आवश्यकतानुसार उप-स्तर स्थिर किये हैं ।

स्तर (Stratum)	उपादान (Units)
(क) अर्थग्रामीय स्तर	अर्थग्राम (Sememe)
(ख) रूपग्रामीय स्तर	रूपग्राम (Morpheme)
(ग) रूपध्वनिग्रामीय स्तर	रूपध्वनिग्राम (Morphop-honeme)
(घ) ध्वनिग्रामीय स्तर	ध्वनिग्राम (Phoneme)

8.3. संरचनात्मक इकाइयों के सम्बन्ध में पाणिनि का दृष्टिकोण

उक्त चार प्रकार के संरचनात्मक स्तर किसी भी योगात्मक भाषा की संरचना में सहज देखे जा सकते हैं। पाणिनि ने अपने संरचनात्मक विश्लेषण में एकरूपता का निर्वाह करने के लिए उक्त स्तरों को कहीं-कहीं उप-स्तरों में विभक्त कर दिया है, जैसे—अनेक धातु और प्रातिपादिक प्रकृतियों को तत्समानार्थक दूसरे धातु और प्रातिपादिक से रूपग्रामीय-स्तर पर ही प्रतिनिहित कराया है। इस प्रकार का प्रतिनिधान रूपग्राम का संरचना के अग्रिम स्तर पर रूपध्वनिग्राम के द्वारा नहीं है, अपितु एक रूपग्राम का स्थान रूपग्रामीय स्तर पर दूसरा रूपग्राम लेता है। रूपध्वनिग्राम तो रूपग्राम का वह प्रतिनिधान है जो स्वयं अग्रिम स्तर पर ध्वनिग्राम से प्रतिनिहित होता है। यही सिद्धान्त प्रत्यय रूपग्रामों के समानस्तरिक सर्वादेशों के बारे में भी समझना चाहिए। साधारणतः ऐसे सन्दर्भों में स्थानी और आदेश का एक स्तर पर होना पूर्वोक्त चतुस्तरीय उपादान-व्यवस्था के विरुद्ध लगता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि यहां संरचनात्मक स्तरों का कोई अतिक्रमण नहीं है। शास्त्रकार ने अपनी सुविधानुसार कुछ उप-स्तर और कुछ कृत्रिम उपादान चुन लिये हैं जिन्हें वह आरम्भ बिन्दु मानकर संरचना के वास्तविक रूप की ओर बढ़ जाता है।

पाणिनीय रीति से प्रकृति-प्रत्यय रूपग्राम अग्रिम स्तर पर अपने घटकों में होने वाले गुण-वृद्धि, सम्प्रसारण आदि रूपध्वनिग्रामों के द्वारा प्रतिनिहित होते हैं। रूपध्वनिग्राम का अग्रिम स्तर पर ध्वनिग्रामीय प्रतिनिधान होता है। रूपध्वनिग्राम वस्तुतः रूपग्राम तथा ध्वनिग्राम के मध्य कल्पित वह इकाई है जो ध्वनिग्राम का अमूर्त रूप है और जिसे अग्रिम स्तर पर ध्वनिग्राम के रूप में मूर्त रूप पाना है।[1] अतः संरचनात्मक इकाइयों का पाणिनीय विभाजन आधुनिक संरचनात्मक भाषा-विज्ञान के विभाजन से पर्याप्त समन्वय रखता है।

---

1. Robert A. Hall, Jr., Introductory Linguistics, p. 138 : "An alternation of phonemes within a given morpheme bridges the gap between the morphological and the phonemic levels, and hence is called 'morphophonemic.'"

8.4. अनुबन्ध या 'इत्' संरचनात्मक इकाई नहीं

पाणिनि की संरचनात्मक प्रक्रिया में अनुबन्ध या 'इत्' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके सहारे पाणिनि ने रूपग्रामों तथा ध्वनिग्रामों के यथेष्ट समुच्चय बनाये हैं, जो उसके शास्त्र को न केवल लाघव प्रदान करते हैं अपितु उसकी पद्धति को नितान्त कृत्रिम और बीजगणितीय रूप देते हैं। यह सब होते हुए भी अनुबन्धों को पूर्वोक्त चार संरचनात्मक उपादानों में कहीं भी स्थान नहीं दिया जा सकता। डा० विद्यानिवास मिश्र ने रूपग्रामीय अनुबन्धों का 'रूपध्वनिग्राम' के साथ समन्वय बिठाने का प्रयत्न करके जो निष्कर्ष निकाला है, वह चिन्त्य है। डा० मिश्र अनुबन्ध का रूपध्वनिग्राम से जो साम्य तय करते हैं वह उसके द्वारा अग्रिम स्तर पर रूपग्राम का प्रतिनिधान होना है। यह प्रतिनिधान ञण् आदि अनुबन्ध स्वयं नहीं करते अपितु गुण-वृद्धि आदि के माध्यम से करते हैं। किन्तु इसके साथ ही इनको रूपध्वनिग्राम मानने में उन्हें दो बाधाएँ दिखती हैं। प्रथम, अनुबन्ध स्वयं संरचना के अग्रिम स्तर पर ध्वनिग्राम द्वारा प्रतिनिधान नहीं पाते हैं, उनका लोप होता है। द्वितीय, वे रूपग्रामों का वर्गीकरण करते हैं। अतः उनकी स्थिति रूपग्रामीय और रूपध्वनिग्रामीय दोनों स्तरों पर प्रतीत होती है। ऐसा होना संरचना उपादानों के स्तरीय समानान्तरण के विपरीत है।[1]

हम समझते हैं, पाणिनि का 'इत्' रूपध्वनिग्राम से बढ़कर कुछ भी हो किन्तु रूपध्वनिग्राम नहीं है। रूपध्वनिग्राम आत्मरूपेण रूपग्राम का संरचना के अग्रिम स्तर पर प्रतिनिधान करता है तथा स्वयं भी ध्वनिग्रामीय स्तर पर ध्वनिग्राम के रूप में प्रतिनिहित होता है। वह केवल रूपग्राम में घटित होने वाले ध्वन्यात्मक परिवर्तनादि की पूर्व अवस्था का सांकेतिक नाम है। पाणिनि का 'इत्' न तो रूपग्राम का 'आदेश' बनता है और न स्वयं ध्वनिग्राम से आदिष्ट होता है। प्रत्यय के साथ जुड़े 'इत्' के सहारे होने वाले रूपग्रामीय परिवर्तन कभी भी न तो 'इत्' नाम से होते हैं और न 'इत्' के स्थान पर कोई ध्वनि आदेशहोता है। सत्य तो यह है कि पाणिनीय दृष्टि से 'इत्' को किसी भी दशा में 'संरचनात्मक इकाई नहीं' माना जा सकता। यह केवल संरचना इकाइयों के समुच्चय बनाने में उपयोगी बीजगणित के कोष्ठक-प्रयोग जैसा चिह्न मात्र है। अत एव पाणिनीय

---

1. V. N. Mishra The Descriptive Technique of Panini, p. 65 : "Yet these symbols can not be equated with the unit morpophoneme of the item-and-arrangement system, as they are in themselves not representable by a pnonemic appearance at the phonemic stratum, and they also stand for the morphemic distribution of the class denoted by them."

व्याख्याकारों ने 'इत्, को रूपग्रामों का अवयव तक मानने में आपत्ति की है।[1]

8.5. पाणिनि द्वारा कल्पित कुछ अन्तर्माध्यमिक स्तर

उक्त चार प्रकार के संरचनात्मक स्तरों के अतिरिक्त भी शास्त्रकार यदि अपेक्षा करे तो अतर्माध्यमिक-स्तर भी कल्पित करता है। पाणिनि द्वारा कल्पित अन्तर्माध्यमिक स्तर निम्नवत् हैं :—[2]

(क) रूपग्रामीय स्तर पर 'प्रतीकरूपग्राम' कल्पित किये हैं जो रूपग्रामीय स्तर पर ही अन्य रूपग्राम के द्वारा प्रतिनिधित्व पाते हैं : जैसे—'पाचक' की सरचना में 'वु' एक अन्तर्माध्यमिक प्रतीक रूपग्राम है। यह रूपग्रामीय स्तर पर ही 'अक' द्वारा प्रतिनिहित होता है। ऐसा करने में पाणिनि का उद्देश्य 'ण्' इत् की सहायता से जहां प्रत्ययात्मक रूपग्राम को 'णित्' नाम वाले समुच्चय में डालना है वही प्रकृति रूपग्राम को रूप-ध्वनिग्रामीय स्तर पर 'वृद्धि' प्रतिनिधान करना भी है।[3] इसी प्रकार फ, ढ, ख, छ, घ और ठ आदि प्रतीक रूपग्राम हैं जो अगले स्तर पर आयन, एय, ईन, ईय, इय[4] और इक[5] आदेशों द्वारा प्रतिनिहित होते हैं।

(ख) प्रतीक रूपध्वनिग्राम; (Abstract Morphophoneme) जैसे उपदेश अवस्था में धातुओं के ष्, ण् जो अगले स्तर पर 'स'[6] और 'न'[7] द्वारा प्रतिनिहित हो जाते हैं। यह स्तर धातु रूपग्रामों के शास्त्रोपयोगी 'षोपदेश', 'णोपदेश'[8] आदि

---

1. परिभा०, पृ० 16 : 'अनेकान्ता अनुबन्धाः', तुलना कीजिए—कैयट, प्रदीप, महा० (अष्टा० 1.1.4) 'अनुबन्धो न धात्वेकदेशः, यस्मात् उपदेश एवेत्संज्ञा।'
2. V. N. Mishra, The Descriptive Technique of Panini, p. 128 : "Panini's intermediary levels are :
   (1) the abstract morphemic shape such as 'gamlr'
   (2) the abstract phonemic shape such as 'JH' (ant) or N. (N)
   (3) the alternable phonemic shape such as S N, etc.
3. Ibid., p. 14. "The abstract shape of the suffix sometimes determines its membership of its external distribution class, and most often its representation at the lower stratum." देखिए, 'अचोञ्णिति' तथा 'अत उपधाया' (अष्टा० 7.2.115-116) आदि
4. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् (अष्टा० 7.1.2)
5. ठस्येकः (अष्टा० 7.3.50)
6. धात्वादेः षः सः (अष्टा० 6.1.64)
7. णो नः (अष्टा० 6.1.65)
8. उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (अष्टा० 8.4.14)

अतिरिक्त समुच्चय बनाने हेतु कल्पित किया है।

(ग) प्रतिनिधेय ध्वनिग्राम; जैसे शब्द-रचनाओं के अग्रिम स्तर पर 'न्' तथा 'स्' ध्वनिग्राम 'ण्' तथा 'ष्' इन मूर्धन्य ध्वनियों द्वारा प्रतिनिधित्व पाते हैं।[1]

8.6. संरचनात्मक चतुःस्तरीय उपादानों का अष्टाध्यायी-रीति से समन्वय

अष्टाध्यायी रीति से उक्त उपादानों का लक्ष्य में समन्वय इस प्रकार देखा जा सकता है—'औपगव' शब्द अपनी संरचना-विश्लेषण प्रक्रिया में इन स्तरों से विकसित होता है:—

(क) **अर्थग्रामीय स्तर**—'उपगोः अपत्यम्'—अग्रिम स्तरपर अपत्यात्मक अर्थग्राम 'अण्' रूपग्राम के द्वारा प्रतिनिधान पाता है।[2]

(ख) **रूपग्रामीय स्तर**—इस स्तर पर 'उपगोः अपत्यम्'—यह अर्थग्राम उपगु+अण्, दो रूपग्रामों से प्रतिनिहित है।

(ग) **रूपध्वनिग्रामीय स्तर**—इस स्तर पर संयुक्त रूपग्राम का प्रतिनिधान 'आदि-वृद्धि'[3] तथा 'अन्त्य गुण'[4] से होता है। यह अमूर्त प्रतिनिधान है।

(घ) **ध्वनिग्रामीय स्तर**—'वृद्धि' रूपध्वनिग्राम का अग्रिम स्तर पर मूर्त्त प्रतिनिधि 'औ' ध्वनि तत्त्व हो जाता है।

यह तथ्य और स्पष्ट रहना चाहिए कि उक्त स्तर और उपादानों का विभाजन संरचना की अधिकतम सीमा है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक शब्द-संरचना में चारों उपादान और उनके स्तर स्पष्ट दिखाई दें। जैसे—मरुत्+औ= मरुतौ'—इस शब्द संरचना को रूपध्वनिग्रामीय और ध्वनिग्रामीय स्तरों से नहीं गुजरना पड़ा।

8.7. प्रतिनिधि-सिद्धान्त

उपर्युक्त भाषावैज्ञानिक विश्लेषण का प्रमुख उद्देश्य वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में आधुनिक भाषाशास्त्रियों द्वारा समर्थित तथा अष्टाध्यायीकार द्वारा उपज्ञात 'स्थान्यादेश' की व्यवस्था का वास्तविक रूप प्रस्तुत करना है।

---

1. देखिए, धात्वादेः षः सः (अष्टा० 6.1.64) सूत्र पर तत्त्वबोधिनी धातुपाठे तालव्यनन्त्यादिपाठवत् ठोपदेशा अपि व्यवस्थयैवठिताः।
2. तस्यापत्यम् (अष्टा० 4.1.92)
3. तद्धितेष्वचामादेः (अष्टा० 7.2.117)
4. ओर्गुणः (अष्टा० 6.4.146)

आधुनिक भाषा-विज्ञान इसे प्रतिनिधि-सिद्धान्त[1] के नाम से जानता है। डा० विद्यानिवास मिश्र के अनुसार पाणिनीय स्थान्यादेशविधा का यही रूप है। पाणिनीय विधा के अनुसार 'प्रतिस्थानी' आदेश से संवाद करता है। वह सर्वादेश अथवा आंशिक आदेश भी हो सकता है।[2]

पाणिनीय स्थान्यादेश-व्यवस्था में निर्भ्रान्त रहने के लिए यह ध्यातव्य है कि इसमें 'स्थानी' का 'आदेश' के रूप में विपरिणाम नहीं बताया जाता अपितु उसका प्रतिनिधित्व किया जाता है। जिसके लिए ध्वनिगत साम्य की आवश्यकता नहीं (यदि साम्य है तो कोई आपत्ति नहीं) अपितु अर्थाभिधानसामर्थ्य की अपेक्षा है।[3] वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान के 'प्रतिनिधि-सिद्धान्त' के विषय में पाणिनि ही नहीं, उसके व्याख्याकार भी, जैसाकि आगे स्पष्ट होगा, निर्भ्रान्त थे।

8.8. 'स्थानी' का नहीं अपितु तद्विषयक बुद्धि का विपरिणाम

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान, जोकि शब्दों को नित्य मानकर चलता है, कैसे 'स्थानी' का आदेश रूप में विपरिणाम बता सकता है? 'कात्यायन' ने स्वयं यह प्रश्न[4] उठाकर 'सिद्धन्तु यथा लौकिकवैदिकेष्वभूतपूर्वेऽपि स्थानप्रयोगात्' वार्तिक से समाधान किया है। इसका सीधा आशय यह है कि 'स्थानी' एक बुद्धिगत सत्ता है न कि भौतिक सत्ता। अतः उसके भौतिक रूप से न होते हुए भी प्रसंगमात्र में आदेश-विधि की जाती है, जैसे—उपाध्यायस्य स्थाने शिष्यः इत्युच्यते, न च तत्र उपाध्यायो भूतपूर्वोऽपि भवति।[5] पतञ्जलि दो कदम आगे बढ़कर व्यावहारिक स्पष्टता लाता है। उसका कहना है कि प्रक्रिया की दृष्टि से हम 'स्थानी' की पूर्वस्तरिक सत्ता मान भी लें तो भी आदेश द्वारा प्रतिनिधान होने से नित्यता पर आंच नहीं आती—'भूतपूर्वे चापि स्थानशब्दो वर्तते। कथं? बुद्ध्या। तद् यथा

---

1. Charles F. Hockett: 'A Course in Modern Linguistics', p. 255: "A substitute is a form which, under certain conventional circumstances, replaces any member of a given form class. Thus, in English, the substitute I replace sany singular noun phrase, providing that this word or phrase denotes the speaker of the utterance in which the substitute is used."
2. V. N. Mishra, The Descriptive Technique of Panini, p. 95.
3. नागेश, मञ्जूषा, पृ० 7: 'आदेशानाञ्च स्थान्यर्थाभिधान समर्थस्यैवादशेतेति न्ययायेन ते' (ये स्थानिनामर्थाः इति 'ते' पदस्यार्थाः)।
4. कात्यायन, वा० 317, अनुपपन्नं स्थान्यादेशत्वं नित्यत्वात्।
5. वही, वा० 318 का भाष्य।

कश्चिद् कस्मैचित् उपदिशति प्राचीनं ग्रामादाम्राः इति। तस्य सर्वत्राम्रबुद्धिः प्रसक्ता। ततः पश्चादाह—'ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णास्ते न्यग्रोधाः' इति। स तत्राम्रबुद्ध्या न्यग्रोधबुद्धिं प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति आम्रांश्चापकृष्य माणान् न्यग्रोधांश्चोपाधीयमानान्। नित्या एव च स्वस्मिन् विषये आम्राः, नित्याश्च न्यग्रोधाः। बुद्धिस्तस्य विपरिणम्यते। एवमिहापि अस्तिरस्मायाविशेषोणोपदिष्टः तस्य सर्वत्रास्तिबुद्धिः प्रसक्ता। सः 'अस्तेर्भूः' इत्यनेनास्तिबुद्ध्या भवतिबुद्धिं प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति-बुद्ध्या 'अस्ति' चापकृष्यमाणं, भवति, चोपाधीयमानम् नित्य एव च स्वस्मिन् विषयेऽस्तिर्नित्यो भवतिश्च। बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते।[1]

महाभाष्यकार के इस विवरण से पाणिनि के स्थान्यादेशपद्धति की स्थिति एकदम स्पष्ट हो जाती है। किसी व्यक्ति द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के लिए पहले यह बताए जाने पर कि गाँव से पूर्व की दिशा में आम्र के वृक्ष हैं तो वह सभी वृक्षों के बारे में आम्र की धारणा बना लेता है। पश्चात् जब उसे बताया जाता है कि जिन्हें तोड़ने से दूध निकलता है, लटकती हुई बरारें हैं तथा बड़े-बड़े पत्ते हैं वे बरगद वृक्ष हैं। तब वह उतने अंश में आम्र की धारणा हटा देता है और बरगद की धारणा से जुड़ जाता है। अपने-अपने विषय में आम्र और बरगद दोनों ही प्रकार के वृक्षों की सत्ता बनी हुई है, केवल उस व्यक्ति की पहले की धारणा में परिवर्तन आ जाता है। यहाँ पहले बताए गए आम्र बरगद में नहीं बदल जाते। ठीक इसी प्रकार स्थानी और आदेश की धारणाएं हैं। उदाहरण के लिए शास्त्र-कार पहले सत्ता अर्थ में सार्वत्रिक रूप से 'अस्' धातु का उपदेश करता है। इससे अध्येता के मन में 'अस्ति' के प्रयोग की सार्वत्रिक धारणा बन जाती है। बाद में उसे बताया जाता है कि कतिपय सन्दर्भों में 'अस्ति' के स्थान में 'भू' का प्रयोग होता है। वहाँ वह 'भवति' के प्रयोग की धारणा से जुड़ जाता है तथा 'अस्ति' की धारणा से हट जाता है। अपने-अपने प्रयोग के सन्दर्भों में 'अस्ति' और 'भवति' दोनों बने हुए हैं केवल अध्येता की धारणा में परिवर्तन होता है। 'स्थानी' का सम्बन्ध संरचना के प्रथम स्तर की धारणा से होता है तथा 'आदेश' का सम्बन्ध संरचना के द्वितीय स्तर की धारणा से होता है।

8.9. स्थान्यादेश-व्यवस्था में संरचना-विश्लेषण की एकरूपता

पाणिनि की संरचना-विश्लेषण की पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उसकी एकरूपता है। संरचनात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत विवेचनाधीन भाषा का काल्पनिक विखण्डन करके जो भी अर्थतत्त्व, रूपग्राम, ध्वनिग्राम निर्धारित किये तथा उनके संयोजन की जो एकरूप पद्धति अपनायी है, वह मानव-मेधा का अद्वितीय उदा-

1. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 8, वा० 297

हरण है। विश्लेषण की यह एकरूपता तब तक सर्वथा असम्भव थी जब तक उक्त प्रकारक स्थान्यादेश-व्यवस्था को न अपनाया जाता। संरचनात्मक विश्लेषण की एकरूपता बनाये रखने को ही उसे 'शून्य' रूपग्राम की कल्पना करनी पड़ी। उसकी शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार प्रकृति-प्रत्यय दोनों[1] मिलकर अर्थ-बोध कराते हैं, कोई एक नहीं, अतः जहां कहीं उसे प्रकृति के साथ प्रत्यय तत्त्व नहीं दीखता, वहां वह उसका लोप अर्थात् 'शून्य-प्रत्यय' कल्पित करता है।[2]

8.10. स्थान्यादेश व्यवस्था 'परिपूरक वितरण' के भाषावैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित

पाणिनि की स्थान्यादेश-व्यवस्था संरचनात्मक भाषा विज्ञान के 'परिपूरक-वितरण'[3] के सिद्धान्त पर आधारित है। इसका अर्थ यह है कि जिन ध्वन्यात्मक या रूपात्मक परिस्थितियों में एक रूप का प्रयोग होता है, दूसरे का भी उन्हीं में होता है या सब का अलग-अलग। यदि सबका एक ही परिस्थिति में प्रयोग होता है तो उसका आशय यह है कि उनका आपस में विरोध है। एक स्थान में दूसरा भी आ जाता है। यदि ऐसा है तो उन्हें एक रूपग्राम का अंग नहीं माना जा सकता। वे सभी अलग-अलग रूपग्राम हैं किन्तु यदि परिपूरक वितरण में है, अर्थात् वितरण या प्रयोग की दृष्टि से सभी का स्थान अलग-अलग बंटा है। जहां एक आता है वहां दूसरा नहीं। इसका आशय यह है कि उनका आपस में विरोध नहीं है।[4] और ऐसी स्थिति में वे सभी एक ही रूपग्राम के संरूप हैं। 'संक्षेप में वे दो भाषायीतत्त्व 'परिपूरक-वितरण' में कहे जाते हैं जिनमें एक जिस स्थिति में प्रयुक्त हो दूसरा कभी न हो'—अर्थात् कोई ऐसी परिस्थिति न हो जहां दोनों प्रयुक्त

---

1. 'सुप्तिङन्तंपदम्' (अष्टा० 1.4.14) पाणिनिकृत पद की परिभाषा स्वयं प्रकृति-प्रत्यय का अनिवार्य.साहचर्य बताती है। साथ ही उसी सूत्र पर देखिए महाभाष्य : 'समयश्च कृतः न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या—न च केवलः प्रत्ययः' इति।
2. Rodert A. Hall, Jr., Introductory Linguistics, p. 179: "Assumption of such a zero—suffix is the only efficient way of dealing with homonimity of stems in languages whose inflected stems are virtually bound forms."
3. डा० भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान कोष, पृ० 560
4. Roqert A. Hall, Jr., 'Introductory Linguistics', p. 26: "A noncontrastive distribution is one of the prerequisites for elements to be classed together as members of the same functional unit. If one element occures where the other does not, and viceversa, so that they complement each other, we say that (as in the two examples we have been using), they are in 'complementary distribution'."

हों।' उदाहरणार्थ पाणिनीय रीति से 'मत्याम्' और 'मतो' पदों में 'ङि' (स० ए० व०) के स्थान पर आदिष्ट 'आम्' (ङे राम् नद्याम्नीभ्य : 7.3.116) और 'औ' (औत् 7.3.128) परस्पर संरूप नहीं हैं क्योंकि दोनों एक ही स्थिति में प्रयुक्त हैं किन्तु ये दोनों ही 'ङि' (इ) के संरूप हैं। पाणिनि की स्थान्यादेश व्यवस्था भाषाविज्ञान के इसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर आधारित है। वह अपनी संरचनात्मक प्रक्रिया में जिस तत्त्व को (प्रकृति, प्रत्यय आदि को) आरम्भिक बिन्दु मानकर चलता है उसका आदेश अगले स्तर पर अथवा उपस्तर पर परिपूरक वितरण के आधार पर ही प्रयुक्त होता है। सत्य तो यह है उक्त परिभाषा की दृष्टि से जिन तत्त्वों को परिपूरक वितरण में मानना कठिन था उन्हें भी उसने कुछ परिस्थितियों में, न कि सर्वत्र, उनके प्रयोग के परिपूरक वितरण का लाभ उठाकर, जिस तत्त्व का अधिक स्थलों में प्रयोग था उसे रूपग्राम तथा अल्पप्रयोग वाले तत्त्व को (कहीं-कहीं एक ही परिस्थिति में प्रयोग होने पर भी[1] संरूप मान कर आदेश-विधान कर दिया। 'जरा' और 'जरस्' यद्यपि कुछ रूपों में एक ही परिस्थिति में (अजादि प्रत्ययों में) प्रयुक्त होते हैं, अतः किसी एक को दूसरे का संरूप मानना कठिन है। किन्तु पाणिनि हलादि विभक्तियों में 'जरा' का प्रयोग देखता है वहां 'जरस्' का नहीं (अजादि में भले ही दोनों का हो) वह 'जरस्' को संरूप मानकर विश्लेषण कर डालता है। उसकी यह शैली यह भी सूचित कर देती है कि उक्त दोनों रूपग्राम स्वतन्त्र है किन्तु कुछ विभक्तियों में 'जरस्' ने अपना प्रयोग खो दिया है।

परिपूरक वितरण के सिद्धान्त का सर्वोत्कृष्ट रूप तो प्रत्यय रूपग्रामों के स्थान में विहित आदेशों के संदर्भ में दिखाई देता है। सुब्न्त पदों की संरचना का विश्लेषण करने को पाणिनि ने सु, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्यय मूल रूपग्राम के रूप में निर्धारित कर दिये हैं। इन स्थानी प्रत्ययों की कल्पना में शास्त्रकार की सूझ अद्भुत रही है क्योंकि यदि अनुबन्ध-मुक्त रूप में देखा जाय तो 'मरुत्' जैसे हलन्त शब्दों में इनका श्रवण 'अविकल' रूप में होता है। 'सु' भी अधिकांश शब्द-प्रयोग में 'स्' के रूप में सुना जाता है, अतः उसने इन्हीं को मूल रूपग्राम चुना। संरचना प्रक्रिया में प्रातिपदिक-तत्त्व और 'सुप्' तत्त्व—इन दो रूपग्रामों के संयोग से जो भी समुच्चित रूपग्राम बना उसमें प्रकृति-प्रत्यय को यथायोग

---

1. H. A. Gleason Jr., An Introduction to Descriptive Linguistics, p. 80 : "Two elements are said to be in 'complementary distribution' if each occurs in certain environments in which the other never occurs—that is, if there are no environments in which both occur."

संरूपों[1] द्वारा आदिष्ट कर दिया गया अन्यथा वे ही मूल-रूप में बने रहते। इस प्रकार सारा विश्लेषण सहज ही एकरूपता से चलता रहता है।

लकारों, लकारस्थानिक अठारह तिङ् प्रत्ययों का तत्तकाल में 'वाच्य,' 'पुरुष' और 'वचन' के अनुसार परिपूरक-वितरण के अनुसार उनके 'संरूप' प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार सारी संरचना प्रक्रिया, जो विश्लेषण की गहराई और सूक्ष्मता के कारण पर्याप्त जटिल है, बीजगणितीय पद्धति से क्रमबद्ध कर दी गई है कि परिपूरक वितरण में जिस 'स्थानी, को जो आदेश मिलता है वह आत्मचालित-सा उपस्थित हो जाता है। पदों में 'सुप्'स्थानिक तथा 'तिङ्' स्थानिक संरूपों की अत्यन्त विविधता भी उन्हें 'सुबन्त' और 'तिङन्त' नाम पाने में बाधक नहीं होती क्योंकि पाणिनीय रीति से आधार-बिन्दु तो 'सुप्' और 'तिङ्' प्रत्यय हैं।

8.11. 'स्थानी' का वर्गीकरण

स्पष्ट किया जा चुका है कि 'स्थानी' तथा 'आदेश' का सम्बन्ध चार स्तरों पर मिलता है—अर्थग्रामीय स्तर, रूप ग्रामीय स्तर, रूपध्वनि ग्रामीय स्तर और ध्वनिग्रामीय स्तर। इनको दृष्टिकोण में रखते हुए पाणिनीय अष्टाध्यायी में वर्णित 'स्थानी' और 'आदेश' को निम्नलिखित वर्गों में देखा जा सकता है—

(क) वाक्यात्मक अर्थग्राम-रूप 'स्थानी'

कोई भी अर्थग्रामीय धारणा जिसे वाक्यात्मक रूप से व्यक्त किया जाता है, संरचनात्मक प्रक्रिया की दृष्टि से प्रथम 'स्थानी' होता है, क्योंकि शास्त्र द्वारा विहित 'रूपग्राम' अगले स्तर पर उसका ही प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरणार्थ —'मक्षिकाणामभावः' तथा 'उपगोरपत्यम्' ये दोनों ही वाक्यात्मक अर्थग्राम 'स्थानी' हैं जिन्हें क्रमशः रूपग्रामीय स्तर पर 'निर्मक्षिकम्' और 'ओपगवः' द्वारा प्रतिनिहित किया जाता है।

(ख) रूपग्रामीय 'स्थानी'

रूपग्रामीय 'स्थानी' के दो वर्ग हैं—प्रकृतिरूप स्थानी और प्रत्ययरूप स्थानी। दोनों ही प्रकार के रूपग्रामीय 'स्थानी' अगले स्तर पर अपने-अपने संरूपों द्वारा प्रतिनिहित होते हैं। उदाहरणार्थ 'अस्' धातु-प्रकृति आर्धधातुक

1. Charles F. Hockett, A cours in Modern Linguistics, p. 272 : "Each representation is a morph; all the morphs which represent some given morphene are called 'allomorphs' of that morpheme."

विलय में अपने संरूप 'भू' द्वारा 'पाद' प्रकृति शसादि विभक्ति में 'पद्' द्वारा प्रतिनिहित होते हैं। इसी प्रकार 'प्रत्ययरूपग्राम' भी प्रक्रिया के अगले स्तर पर अपने संरूप द्वारा प्रतिनिहित होते हैं, जैसे 'जस्' प्रत्यय यथायोग 'शि,' 'शी' तथा 'औश्' से प्रतिनिहित होता है। उक्त सभी स्तर वस्तुतः अन्तर्माध्यमिक हैं। रूपग्राम का द्वितीय स्तर का प्रतिनिधान 'गुण, वृद्धि' आदि रूपध्वनिग्राम करते हैं।

(ग) रूपध्वनिग्रामात्मक 'स्थानी'

प्रकृति-प्रत्ययात्मक रूपग्रामों का रूपान्तरण करने वाले गुण-वृद्धि आदि वे 'स्थानी' हैं जो अगले स्तर पर 'ध्वनिग्राम' द्वारा प्रतिनिहित होते हैं। जैसे—मृजेर्वृद्धिः' (अष्टा० 7.2.114) सूत्र मृज्घटक 'इक्' के स्थान में वृद्धि करता है। यहां 'इक्' लक्षणा वृद्धि तृतीय कोटि का 'स्थानी' है जिसको अगले स्तर पर वृद्धिसंज्ञक ध्वनि-ग्राम आत् तथा ऐच् से प्रतिनिहित होना है।

(घ) ध्वनिग्रामात्मक 'स्थानी'

वर्णात्मक ध्वनिग्राम वह स्थानी है जो अपनी सवर्ण-ध्वनियों से 'शब्दरूप' में उच्चारण पाता है। साथ ही अपने पूर्ववर्ती रूपध्वनिग्राम को प्रतिनिहित भी करता है। जैसे—'मृजेर्वृद्धिः' (अष्टा० 7.2.114) द्वारा 'मृज्' रूपग्राम का 'वृद्धि' रूपध्वनिग्राम अग्रिम संरचना स्तर पर प्रतिनिधान करता है; ध्वनिग्रामीय स्तर पर 'वृद्धि' का 'आत्' 'ऐच्' प्रतिनिधान करता है। ये 'आत्' 'ऐच्' ध्वनिग्राम भी दीर्घत्वादि वर्ण धर्मों से युक्त ध्वनियों के द्वारा अग्रिम स्तर पर प्रतिनिहित होते हैं। वस्तु दृष्टि से वर्ण-ध्वनियां ही संरचना के तात्त्विक उपादान हैं। शेष पूर्ववर्ती सभी स्तर एक कृत्रिम प्रक्रिया है।[1]

8.12. आदेश का वर्गीकरण

संरचनात्मक उपादानों की दृष्टि से पूर्व स्तरके उपादान का अग्रिम स्तर का

---

1. V. N. Mishra, The Descriptive Technique of Panini, p. 65 : "For most spoken languages, there are atleast four structural strata. We may call these the phonemic, the morphophonemic, the morphemic and sememic. In addition, there is a another stratum, the phonetic, which lies adjacent to the phonemic structure, the phonetic stratum belongs to the 'real world.' And consists of sounds while everything in the linguistic structure is abstract in nature and either continuous or consists of sounds."

प्रतिनिधि आदेश होता है। अष्टाध्यायी की रीति से आदेश का वर्गीकरण निम्नवत् होगा :

(1) **सर्वादेश**

वे 'आदेश' जो अपने 'स्थानी' का संरचना के अग्रिम स्तर पर पूर्ण प्रतिनिधान करते हैं, और स्वभावत: उसे विदाई देते हैं, 'सर्वादेश' कहलाते हैं । पाणिनि ने 'सर्वादेश' का विषय रूपग्रामों तक ही सीमित रखा है। सभी सर्वादेश धातु या प्रातिपदिक के स्थान में विहित हैं तथा तद्विहित प्रत्ययों के स्थान में; जैसे, 'अस्' धातु को 'भू'; 'पाद' प्रातिपदिक को 'पद' और 'जस्' प्रत्यय को 'शी' सर्वादेश होते हैं। अष्टाध्यायी में सर्वादेश के दो वर्ग हैं—

(क) **अनेकाल्सर्वादेश**[1]—जिस संरूप में एक से अधिक :'अल (वर्ण) हों; जैसे, 'अस्' के स्थान में 'भू' (भ् + उ);[2] भिस्' के स्थान में 'ऐस्'[3] आदि सर्वादेश हैं।

पाणिनि की रचना-प्रक्रिया में किसी-किसी प्रकृति के अन्तिम 'अल्' (वर्ण) को 'अनेकाल्' आदेश द्वारा प्रतिनिहित करना पड़ा है। उस दशा में 'अनेकाल्' नियम की सर्वादेशता रोकने को आचार्य ने उसे 'ङित्' किया है और तदनुसार सर्वादेश का अपवाद नियम[4] बना दिया।

(ख) **शित्सर्वादेश**—प्रकृति-प्रत्ययस्थानिक वे आदेश जिनमें अनेकालता नहीं है, किन्तु सूत्रकार ने 'श्' अनुबन्ध लगा दिया है, शित्सर्वादेश है; जैसे 'इदम्' को 'अश्';[5] 'जस्' को 'शी'[6] आदि।

(2) **एकदेश्यादेश**

अष्टाध्यायी में एकदेशी आदेश की तीन स्थितियां हैं :—

(क) **अन्त्यादेश**—प्रकृति अथवा प्रत्यय के अन्तिम 'अल्' के स्थान में विहित आदेश 'अन्त्यादेश' होते हैं। अन्त्यादेश भी दो प्रकार के होते हैं—

(अ) एकाल् अन्त्यादेश—शित् और मित्[7] एकाल् आदेशों को छोड़कर सभी एकाल् आदेश अन्तिम 'अल्' के स्थान में ही होते हैं।

---

1. अनेकाल्शित्सर्वस्य, (अष्टा० 1.1.55)
2. 'अस्तेर्भूः' (अष्टा० 2.4.52)
3. 'अतोभिसऐस्' (अष्टा० 7.1.9)
4. 'ङिच्च' (अष्टा० 1.1.53)
5. इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ (अष्टा० 2.4.32)
6. 'जसः शी' (अष्टा० 7.1.17)
7. मित्' आदेश; जैसे, 'शप्' के स्थान में श्नम्, 'रुधादिभ्यः श्नम्' (अष्टा० 3.1.78)

(आ) अनेकाल् अन्त्यादेश—पाणिनि ने जिन 'अनेकाल्' आदेशों में 'ङ्' अनुबन्ध लगाया है, वे सभी सर्वादेश न होकर अन्त्यादेश होते हैं; जैसे, 'अवङ्', 'अकङ्', 'अनङ्' 'आनङ् आदि 'ङित' अनेकाल् आदेश।

(ख) **आद्यादेश**—अष्टाध्यायी सूत्रों में पंचम्यन्त पद के निर्देश से जो आदेश विहित होते हैं वे आदि 'अल्' के स्थान में ही होते हैं अन्तिम के नहीं।[1] जैसे 'उद्+स्थानम्' सन्धि में 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (अष्टा॰ 8.4.6.1) द्वारा विहित पूर्वसवर्ण 'स्थानम्' के आदि वर्ग 'स्' के स्थान में होता है।

(3) एकादेश

संहिता (सन्धि) के विषय में पूर्व शब्द के अन्तिम वर्ण तथा पर-शब्द के आदि वर्ण दोनों के स्थान पर एकवर्णात्मक आदेश होता है; जैसे 'महा+उत्सव' की सन्धि करने से 'महा' के अन्तिम वर्ण 'आ' तथा 'उत्सव' के 'उ' दोनों के स्थान पर 'ओ' एकादेश होता है। इसका निरूपण 'एकःपूर्वपरयो :' (अष्टा॰ 6.1.75) में हुआ है।

अष्टाध्यायी में सर्वादिशों तथा एकदेश्यादेशों के निरूपण की कोई निर्धारित अध्यायात्मक या पादात्मक योजना नहीं है।

लेखक डा॰ विद्यानिवास मिश्र की इस मान्यता से कि सर्वादिशों का निरूपण अष्टा॰ 2.4 में हुआ है तथा एकदेश्यादेशों का निरूपण अष्टा॰ 6.4 से 7.4 तक किया गया हैं, शेष कुछ आदेशों को (जिनमें दोनों प्रकार के हो सकते हैं) अष्टा॰ 8.2.4 में बताया है;[2] सहमति का कोई ठोस आधार नहीं देखता। अध्याय दो के चतुर्थ पाद में प्रातिपदिकस्थानिक सर्वादेशों में केवल 'इद्म' और 'एतद्' के 'अश्' तथा 'एन्' का; धातुस्थानिक सर्वादिशों में केवल आर्ध-धातुक-विषयक आदेशों का; प्रत्ययस्थानिक सर्वादेश में केवल 'लुक्' और उसके अपवादों का तथा लुट्स्थानिक 'डा, री, रस्' का वर्णन हुआ है जबकि सार्वधातुक विषयक धातुस्थानिक अनेक सर्वादेश (अष्टा॰ 7.3.7.79) द्वारा; प्रातिपदिक-स्थानिक अधिकांश सर्वादेश षष्ठ अध्याय प्रथम-पाद के 'उत्तरपदाधिकार' में तथा प्रत्ययसम्बन्धी सर्वादेश प्रधान रूप से सप्तम के प्रथम-पाद से आगे वर्णित हैं। इतना अवश्य है कि द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद में किसी एकदेशी आदेश का निरूपण नहीं है।

सर्वादेश वस्तुतः वे 'रूपग्राम' होते हैं जो अपने 'स्थायी' रूपग्रामों की भांति भाषा के प्राचीन अथवा सम-सामयिक रूप में अपना निज का अस्तित्व रखते हैं।

1. 'आदेः परस्य' (अष्टा॰ 1.1.54)

2. V. N. Misra, 'The Descriptive Technique of Panini', p. 95

शास्त्रकार समसामयिक भाषा में उनकी 'परिपूरकवितरण' की स्थिति के आधार पर उन्हें संरूप मानकर संरचना के अग्रिम स्तर पर आरम्भ बिन्दु के रूप में स्वीकृत 'स्थानी' के बदले आदिष्ट कर देता है।

8.13. पाणिनीय स्थान्यादेश-व्यवस्था पर कतिपय आक्षेप तथा उनके समाधान

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से पाणिनीय व्याकरण के मूल्यांकन करने का दावा करने वाले कुछ विद्वानों को पढ़कर और सुनकर लगा है कि पाणिनीय स्थान्यादेश-व्यवस्था के विषय में उन्हें कुछ गम्भीर आपत्तियां हैं। उनका दावा है कि पाणिनीय स्थान्यादेश-व्यवस्था अनेक भाषावैज्ञानिक तथ्यों पर पर्दा डालती है और पाणिनि को अनेक भाषावैज्ञानिक वास्तविकताओं का ज्ञान न होने से उसने मनमाने-ढंग से शब्दों की जोड़-तोड़ की है।[1] उक्त प्रकार के आक्षेपों को नीचे संकलित किया जा रहा है ताकि पाणिनीय सन्दर्भ में इनकी यथार्थता और अयथार्थता को समझा जा सके :—

(1) पाणिनि ने अनेक धातुओं के स्थान में जो आदेश-विधान किये हैं वे वस्तुतः स्वयं धातु थे। पाणिनि को यह वास्तविकता या तो विदित न थी अथवा विदित भी हो तो उसकी शैली से यह तथ्य तिरोहित हो गया।[2]

(2) पाणिनि ने अनेक ऐसे प्रातिपदिकस्थानिक आदेश किये हैं जो अपने 'स्थानी' प्रातिपदिक की भांति ही प्रकृत्यन्तर थे। पाणिनि ने इस यथार्थता को महत्व न देकर उन्हें आदेश कोटि में डाल दिया; जैसे 'हृदय' को 'हृद', 'नासिका' को 'नस्' आदेश इत्यादि।[3]

(3) सामाजिक प्रयोगों में अनेक मूल-प्रातिपदिक प्रकृतियों को ओझल करके उनके स्थान में अनावश्यक प्रत्यय और विकार की सहायता से शब्द रचना की है जो कहीं-कहीं बहुत उपहासास्पद लगती है; जैसे 'धर्मन्' प्रकृत्यन्तर होते हुए

---

1. भाषाविज्ञान के एक विद्वान् ने 'शब्दों और धातुओं के मूलरूप के विषय में पाणिनि और कात्यायन की त्रुटियां शीर्षक के अन्तर्गत शोधपत्र प्रस्तुत करते हुए रेखाकित किया था, "पाणिनि और कात्यायन के सामने न तो सस्कृत भाषा के ऐतिहासिक विकास की जानकारी थी और न आजकल के समान ग्रीक, लैटिन, जर्मन, रूसी आदि सजातीय भारत-यूरोपीय भाषाओं के कोषों और तुलनात्मक अध्ययन की सामग्री थी। उन्होंने तो अपने काल में प्रचलित मान्यताओं के आधार पर या अपनी कल्पना से शब्दों की सिद्धि की तथा भाषा के स्वरूप को प्रस्तुत किया।"
2. डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, 'संस्कृत शिक्षण की नवीन योजना', पृ० 153
3. पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु (अष्टा० 6.1 63)

भी 'धर्म' शब्द से अनिच्'[1] प्रत्यय की सहायता से 'धर्मन्' शब्द बनाना आदि 'जानि' शब्द को उपेक्षित कर 'जाया' को 'निङ्' अन्त्यादेश करना आदि।[2]

(4) 'स्थानी' और आदेश में आपेक्षिक ध्वनिगत साम्य के अभाव में मनमानी स्थान्यादेश व्यवस्था की है जैसे 'अस्' के स्थान में 'भू'[3] अथवा 'अद्' के स्थान में 'जग्ध्'[4] 'फ' आदि प्रत्ययों को 'आयन्' आदि आदेश किए हैं।[5]

(5) भाषावैज्ञानिक ध्वनि-नियमों के विरुद्ध वर्णस्थानिक आदेश विहित किये हैं; जैसे 'हन्' धातु के 'ह्' के स्थान में 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' (अष्टा० 7.3.54) सूत्र से कुत्व-विधि द्वारा 'थ्' आदेश आदि।[6]

पाणिनि व्याकरण में तिङन्त का स्वरूप यथार्थ और परिपूर्ण नहीं है। उसने लकारस्थानिक प्रत्ययों को साङ्कर्य[7] कर डाला है।

ये आक्षेप न तो ऐसे विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गये है जो व्यर्थ ही पाणिनीय शास्त्र का महत्त्व कम करना चाहते हों और न ही उन लोगों द्वारा जिनका कि पाणिनीय व्याकरण और आधुनिक भाषाविज्ञान से कोई सम्बन्ध ही न हो। वास्तव में पाणिनि की वैज्ञानिक-प्रतिभा[8] के प्रति उनके हृदय में महान् सम्मान है

1. धर्मादनिच्केवलात् (अष्टा० 5.5.124)
2. जायाया निङ् (अष्टा० 5.4.134)
3. अस्तेर्भूः (अष्टा० 2.4.52)
4. अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति (अष्टा० 2.4.36)
5. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् (अष्टा० 7.1.2)
6. डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, संस्कृत शिक्षण की नवीन योजना, पृ० 194: "भाषाविज्ञान से पता चलता है कि 'हन्' के स्थान पर मूल भारतयूरोपीय धातु 'घन्' या (Gwhen) थी। उच्चारण के सिद्धान्तों की दृष्टि से भी यह सम्भव प्रतीत होता है कि 'घ' का 'ह' रह जाय परन्तु 'ह' का 'घ' नहीं हो सकता।"
7. डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, 'संस्कृत शिक्षण की नवीन योजना', पृ० 192: "लोट् लकार के उत्तम पुरुष 'पठानि', 'पठाव', 'पठाम' में दीर्घ 'आ' सुनायी देता है जोकि 'पठतु' 'पठताम्' आदि पहले रूपों में नहीं है पाणिनि के उत्तम-पुरुष में दीर्घ 'आ' क्यों है, इसका कारण हमें भाषाविज्ञान बतलाता है। तुलनात्मक अध्ययन से पता लगता है कि लोट् का उत्तम-पुरुष 'लोट्' का रूप है ही नहीं प्रत्युत 'लेट्' का रूप है जोकि 'लोट्' के उत्तम-पुरुष में आ गया है।
8. डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, 'Reappraisal of Panini' (An article published in Gopinath Kaviraj Abhinandan Granth), p. 296: "If the modern method of experimentation in physical sciences had existsd at that time, and the same brain would have been applied to it, the world might have witnessed the miracle of modern sciences long before the Christian Era."

और साथ ही पाणिनीय युग की साधनहीनता के कारण शास्त्रकार के साथ गहरी सहानुभूति भी। इन आक्षेपों द्वारा पाणिनीय शास्त्र के बारे में सम्भावित अनेक आशंकाओं और भ्रांतियों को भाषावैज्ञानिक आधार देकर उभारा गया है, अतः स्वाभाविक है कि इससे पाणिनीय व्याकरण के अध्येता को अपने शास्त्र के बारे में अत्यधिक सतर्क एवं स्पष्ट धारणा बनाने में सहायता मिलेगी। ऐसे आक्षेप पाणिनीय अध्येता को अपने शास्त्र की ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक भाषा विज्ञान के सन्दर्भ में समीक्षा करने की प्रेरणा तो देते ही हैं साथ ही, यह चुनौती भी कि वह पाणिनीयशास्त्र की दृष्टि से इनका सही समाधान दे।

8.14. उपर्युक्त आक्षेपों के प्रकाश में अष्टाध्यायी पर एक दृष्टि

हम इस तथ्य से पूर्ण सहमत हैं कि वर्तमान युग में ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक अध्ययन के जो साधन उपलब्ध हैं वे पाणिनि-काल में न थे। अतः विवेचनाधीन भाषा की वंश-परम्परा और सजातीय भाषा-परिवार (भारत-योरोपीय) में उसके शब्दों के यत्र-तत्र विकीर्ण रूपों का परिचय पाणिनि को सम्भव न था। जहां तक वैदिक भाषा के शब्दों का प्रश्न है, पाणिनि या कात्यायन उनके अर्थों या विकास क्रम से अपरिचित थे, यह मानना यथार्थता से दूर होगा। विशेषतः उन शब्दों से जो निश्चित ही वेद-मन्त्रों में बहु-प्रयुक्त थे, जैसे-'धर्मन्' आदि प्रातिपदिक अथवा 'आह्' आदि धातुएं। किन्तु भाषाविज्ञान के अध्येता को यह तथ्य भी ध्यान में रखना चाहिए कि किसी भी भाषा के संरचनात्मक अर्थात् वर्णनात्मक व्याकरण (भाषाविज्ञान) के निर्माण में उक्त-प्रकारक अध्ययन कोई विशेष सहायक साधन नहीं बनते क्योंकि[1] भाषाविज्ञान की यह विधा भाषा का ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययन नहीं करती अपितु

1. Harris, 'Readings in Linguistics' (1944, p. 199) : "While charactrising the item-and-process method" "the between two partially similar form is described...as a process which yields one form out of the other. Thus when bases or theme several vocablic forms, the various forms said to be the result of vowel charge processes operating upon the base or theme. The difference between a base and base-plus-suffix is described as a result of the process of suffixation. This is a traditional manner of speaking, specially in American Indian Grammar. "It has, of course, nothing to do with historical change or process through time; it is merely process through the configuration, moving from one to another part of the pattern."

उसके संरचना-विश्लेषण तक ही केन्द्रित रहती है।

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की अपनी निजी तकनीक और निश्चित सीमाएं हैं। उसका अन्तिम और एकमात्र उद्देश्य विवेचनाधीन भाषा की सार्थक वाक्य-पदात्मक इकाइयों का सजातीय और विजातीय तत्वों के आधार पर वर्गीकरण करके कृत्रिम बीजगणितीय प्रक्रिया से उनके संरचनात्मक उपादानों का स्पष्ट विवरण प्रस्तुत करके उनके संयोजन और वियोजन की प्रक्रिया से भाषा-संरचना में निहित सामान्य और विशेष प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना है। उसकी बुनियादी तकनीक और सैद्धान्तिक पक्ष को बिना समझे अनेक प्रकार की उलझनें और भ्रान्तियां होना स्वाभाविक है। हमारी मान्यता है कि पाणिनीय विधा का तकनीकी और सैद्धान्तिक पक्ष समझ लेने पर उपर्युक्त प्रकार के आक्षेपो की कोई आधारभित्ति ही नहीं रह जाती है।

8.15. पाणिनीय दृष्टि से उक्त आक्षेपों का समाधान

यह आपत्ति, कि पाणिनि को प्राचीन वैदिक भाषा में चले आ रहे अनेक धातुओं और प्रातिपदिकों का ज्ञान न था अतएव उसने उन्हें स्वतंत्र प्रकृति न मानकर आदेश-कोटि (Allomorph) में डाल दिया, वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है। रूपग्रामीय स्थानी और उसका संरूप अर्थ-बोधन की दृष्टि से स्वतंत्र भाषिक रूप होते हैं।[1] विश्लेषण प्रक्रिया की दृष्टि से किसे 'स्थानी' (Eme) और किसे 'आदेश' चुना जाय, यह लाघव पर निर्भर करता है। अत: अष्टाध्यायी के अध्येता को यह तथ्य स्पष्ट रूप से विदित रहना चाहिए कि पाणिनि द्वारा जितने भी 'प्रकृति स्थानिक' एवं 'प्रत्यय स्थानिक' आदेश बताए गए हैं वे सभी स्वतंत्र 'प्रकृति' और 'प्रत्यय' हैं। संरचनात्मक विश्लेषण में एकरूपता और क्रम बनाने की दृष्टि से जिसमें लाघव दिखाई देता है, शास्त्रकार उसे ही 'स्थानी' मानता है और यथास्थिति आदेश (Allo) द्वारा (जोकि स्वयं में स्वतंत्र प्रकृति है) प्रतिनिहित कर देता है। भाष्यकार स्पष्टत: इस भ्रान्ति से बचने का स्पष्ट निर्देश करता है—'नित्य एव च स्वस्मिन् विषयेऽस्ति नित्यों भवतिश्च[2] अर्थात् अपने-अपने प्रयोग विषय में 'स्थानी' 'अस्' और आदेश 'भू' दोनों नित्य हैं। अत: 'भू', 'अद्', 'अज्', 'चक्ष्' आदि धातुओं के स्थान में

---

1. H. A. Gleason, Jr., An Introduction to Descriptive Linguistics, p. 80 : "Two elements can be considered as the same morpheme if (1) they have some common range of meaning, and (2) they are in complementary distribution conditioned by some phonologic feature. (see जरा = जरस् 8. 11)
2. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 8, पृ० 297, वा० 318

आर्ध-धातुक विषय में विहित अस्, जग्ध, वी, ख्या आदि आदेश तथा 'हृदय', 'पाद्', 'दन्त', 'नासिका' आदि प्रातिपदकों के स्थान में विहित 'हृद्' 'पद्' 'दन्', 'नस्' आदि आदेश अपने-अपने रूपों में स्वतंत्र प्रकृति[1] ही हैं। संरचनात्मक दृष्टि से जहां अपेक्षा है वहां सूत्रकार स्वयं प्रकृत्यन्तर की सूचना देता है और तदनुसार ही वार्तिककार सन्देह दूर रखने को व्याख्यान करता है। वैदिक भाषा में 'शीर्षन्', 'शिरस्' और 'शीर्ष' तीन प्रातिपदिकों का स्वतंत्र प्रयोग था। पाणिनि 'शीर्षन् छन्दसि' (अष्टा० 6.1.60) द्वारा उसे सूचित करता है और साथ ही लौकिक भाषा में यकारादि तद्धित-प्रत्ययों में उसे 'शिरस्' का आदेश मानता है। इसी यथार्थ को वार्तिककार 'शीर्षश छन्दसि प्रकृत्यन्तरम्' वा० 2497 द्वारा; तथा पतञ्जलि उक्त वार्तिक की व्याख्या—शीर्षन्छन्दसिप्रकृत्यन्तरं द्रष्टव्यम्'—द्वारा स्पष्ट करता है। अतः पाणिनि के पास भारत-योरोपीय भाषा शब्दों के विकासक्रम का न सही, किन्तु वैदिक शब्दों के विकास या प्रयोग-वैविध्य का ज्ञान नहीं था, अस्वीकार्य है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि वर्णनात्मक व्याकरण के नाते 'अष्टाध्यायी जहां शब्द-संरचना बताती है, वहीं सन्दर्भविशेषों में शब्द-प्रयोग का सामाजिक नियमन आयति मानदण्डन भी करती है। उदाहरणार्थ 'हृदय' और 'हृद्' दो स्वतंत्र प्रकृति होने से हृदयशोक, हृच्छोक; सौहार्दम्, सौहृदययम्; हृद्रोगः, हृदयरोगः दो प्रकार के प्रयोग स्वतः हो सकते है, तब पाणिनि का 'वा शोकष्यञ्रोगेषु' (अष्टा० 6.3.51) सूत्र का जो विकल्प से 'हृदय' 'हृद्' आदेश करता है, क्या प्रयोजन है? 'भट्टोजि दीक्षित' ऐसे प्रयत्न को 'प्रपञ्चार्थम्' (स्पष्ट बोधार्थ) बताता है[2] किन्तु इससे सटीक समाधान 'शिवदत्त दाधिमथ' की टिप्पणी में मिलता है—'प्रपञ्चार्थमिति-प्रयोगद्वयमप्येष्वेव अन्यत्र तु हृदयशब्दस्यैव प्रयोग इति व्यवस्थापनार्थमिति भावः।' पाणिनि का यह नियम यह व्यवस्थापन करता है कि समकालिक संस्कृत भाषा में केवल उल्लिखित प्रयोगों में ही दोनों प्रकृतियों का प्रयोग मान्य है अन्यत्र उत्तर-पद परे रहते 'हृदय' का ही प्रयोग होता है।[3] ऐसे ही व्याकरण-मूलक व्यवस्थापन जब गहरी जड़ पकड़ जाते हैं तो समसामयिक भाषा में लोग तद्विरोधी प्रयोग को, भले ही भाषा का प्राचीन रूप उसका समर्थन करे, 'असाधु' मानते हैं जैसाकि दाधिमथीकार ने 'उदक' से भिन्न

---

1. नागेश, 'उद्योत' महा० अ० 6 पा० 1 आ० 3, पृ० 713 (अष्टा० 6.1.63) 'वस्तुतस्तु' 'तुल्यास्य सूत्रादिभाष्ये 'आस्ये' 'पादेनोपहतम्' 'भासेन पूर्वाय' इत्यादि प्रयोगदर्शनेन 'हृदयस्य प्रियः' इत्यादि सौत्र प्रयोगेण च प्रकृत्यन्तरत्वपक्षोभावश्यकः।"
2. सि० कौ०, पृ० 266 (अष्टा० 6.3.51)
   'हृदयशब्दपर्यायो हृच्छब्दोऽप्यस्ति, तेन सिद्धे प्रपञ्चार्थमिदम्।'
3. दाधिमथी टिप्पणी, "प्रपञ्चार्थमिति-प्रयोगद्वयमेष्वेव, अन्यत्रतु हृदयशब्दस्येवप्रयोग इति व्यवस्थार्थमिति भावः"

'उद्' को प्रातिपदिक अस्वीकारते हुए 'प्रसन्नोदम् सरः' को असाधु माना है .[1]

किन्तु पाणिनीय व्याख्याता के साधु या असाधु मानने से 'उद्' शब्द स्वतंत्र प्रकृति नहीं रहा; ऐसा नहीं है। उसकी अभिमत 'साधुता' या 'असाधुता' का मापदण्ड केवल यह है कि पाणिनीय शास्त्र में उसे वैकल्पिक प्रकृति घोषित किया अथवा नहीं। लक्षणेकचक्षुष्क व्याख्याता का शास्त्रीय आग्रह प्रयुज्यमान शब्द का अस्तित्व नहीं मिटा सकता।

अष्टाध्यायी में 'स्थानी' या प्रकृति के रूप में ग्रहण करने से ही किसी शब्द का भाषा में स्वतंत्र अस्तित्व माना जाय अथवा आदेशरूपेण गृहीत कर लेने से उसे स्वतन्त्र शब्द न माना जाय, यह बात नहीं है। पाणिनि का 'स्थानी' या 'प्रकृति' का निर्धारण 'धातु-पाठ' और 'गणपाठ' सब कुछ अपनी शास्त्रीय प्रक्रिया के लाघव की दृष्टि से है। बहुत स्पष्ट-सी बात है कि तथाकथित आदेशात्मक 'पश्य' आदि धातुओं को; और 'हृद्', 'पद्'आदि प्रातिपदिकों को धातुपाठ और गणपाठ में ले आइये तो पाणिनि क्षण-भर में संस्कृत भाषा के विकास-इतिहास का ज्ञाता बन जायेगा। किन्तु अष्टाध्यायीकार की शास्त्रीय-योजना में यह सब अनावश्यक है। जैसाकि पहले ही स्पष्ट किया गया है उसकी स्थान्यादेश-व्यवस्था 'परिपूरक-वितरण'[2] के सिद्धान्त पर आधारित है। पाणिनि देखता है कि सार्वधातुक विषय में 'भू' और 'अस्', पर 'परिपूरक-वितरण' लागू नहीं होता क्योंकि 'अस्ति', 'भवति' दोनों प्रयोग समान परिस्थिति में प्रयुक्त होते हैं; किन्तु आर्धधातुक विषय में दोनों का 'परिपूरक-वितरण' सही बैठता है। वहां 'भू' का ही प्रयोग है 'अस्' का नहीं। अतः संरचनात्मक एकरूपता के लिए आर्धधातुक विषय में 'अस्' के स्थान में 'भू' आदेश विहित करता है। सार्वधातुक विषय में परिपूरक वितरण न होने से दोनों 'धातुओं' को धातुपाठ में पढ़ा गया है।

वे समानार्थक धातुएं जिनमें एक केवल सार्वधातुक विषय में प्रयुक्त है; दूसरा आर्धधातुक में, तो उनका परिपूरक-वितरण बैठ जाने से आर्धधातुक विषय वाली प्रकृति को, क्योंकि उसका प्रयोगक्षेत्र व्यापक है, धातुपाठ में उपदिष्ट करता है अर्थात् उसे 'स्थानी' बनाता है। इससे शास्त्रलाघव होता है। सार्वधातुक

---

1. दधिमथी टिप्पणी : "उदकस्योद इति—प्रसन्नोदं सरः इति त्वसाध्वेव, उदकपर्यायोद शब्दाङ्गीकारे 'एक हलादौ'—(6 3.59) व्यर्थमेवस्यात्। प्रपञ्चार्थमित्यत्रेव व्याख्याङ्गीकारेण उदशब्दाङ्गीकारेऽपि प्रसन्नोदम् इत्यत्रोदशब्दप्रयोगव्यवस्थापकाभाव एवेति बोध्यम्।"
2. Robert A. Hall Jr. 'Introductory Linguistics', p. 26 : "If one element occurs where the other does not, and vice-versa. so that they complement each other, we say that (as in the two examples we have been using), they are in complementary distribution."

विषय वाली प्रकृति को अल्प विषय वाली होने से आदेश रूपेण गृहीत करता है। इन्हें धातु-पाठ में पढ़ें या न पढ़ें अष्टाध्यायी प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं आता।

जिन सामासिक प्रयोगों में कतिपय 'समासान्त' प्रत्ययों अथवा आंशिक आदेश के द्वारा प्रकृति के रूपान्तरण पर जो आपत्ति की जाती है, वहां भी वह ध्यातव्य है कि पाणिनि की योजना कतिपय सामासिक प्रातिपदिक भर सूचित करना नहीं है अपितु उन प्रातिपदिकों से अपनी शास्त्रीय प्रक्रिया के अन्तर्गत निर्धारित नियमों द्वारा लिङ्ग-सूचक-प्रत्यय तथा उदात्तादि स्वर का भी विधान करना है। एतदर्थ उसने प्रकृत्यन्तर के प्राचीन वैदिक भाषा अथवा समकालिक भाषा में होते हुए भी उसे प्रत्ययान्तता प्रदान की तथा प्रत्ययों को अभीष्ट अनुबन्धों से युक्त किया ताकि सारी संरचनात्मक प्रक्रिया निर्बाध चलती रहे। अतः 'धर्म' से 'अनिच्' द्वारा 'धर्मन' का व्युत्पादन वैदिक भाषा में उसके निज के अस्तित्व का उच्छेद नहीं करता। यहां यह भी तथ्य अनुपेक्षणीय है कि 'समासान्त' प्रत्यय कोई अर्थ-वैशिष्ट्य न लाकर समास-घटक उत्तर-पद का स्वरूप-स्थापन ही करता है, जोकि बहुत सम्भव है, भाषा के प्राचीन रूप में पूर्व-प्रचलित हो। इस प्रकार के सभी परिवर्तन 'वर्णनात्मक व्याकरण' की दृष्टि से कहे जायेंगे 'संरूप' या आदेश ही। पाणिनि ने अपनी संरचनात्मक-प्रक्रिया का आधार या स्थानी समसामयिक भाषारूपों की उस प्रकृति को चुना है जिसके प्रयोग का परिसर अधिक व्यापक है। प्रत्येक संरूप क्योंकि अनिवार्य रूप से 'स्थानी' के अर्थ-बोध में समर्थ होता है[1] और 'परिपूरक-वितरण' में प्रयुक्त होता है अतः उसके प्रकृत्यन्तर होने की पूर्ण संभावना रहती है। स्वतन्त्र शब्द के रूप में उसका उसका प्रयोग कब ? कहां ? और किस अर्थ में हुआ ? यह अध्ययन भाषाविज्ञान की अन्य विद्याओं के अन्तर्गत आता है।

'युगजानिः' जैसे समास-रूप का 'जाया' शब्द से घटित बताना 'जानि' के स्वतन्त्र अस्तित्व को तो छिपा ही नहीं सकता, आपाततः यह व्यवस्थापन अवश्य कर देता है कि 'युवति-जाया यस्व'—इस अर्थ-तत्व को 'युवजानिः' से ही प्रति-निहित देखा जाता है, 'युवजायः' से नहीं। जो ध्वनि-साम्य के बिना किये गये आदेशों पर जो आपत्ति की गयी है वह सर्वथा निर्मूल है। उक्त सन्दर्भों में वर्ण-स्थानिक वर्णादेश नहीं हो रहा है जोकि उभयगत 'स्थान-प्रयत्न' का साम्य देखा जाय।[2] यहां तो 'प्रकृति' को प्रकृत्यन्तर से 'परिपूरक-वितरण' के आधार पर प्रति-

---

1. नागेश—मंजूषा, पृ० 7 : 'आदेशानां च स्थान्यार्थाभिधानसमर्थस्येवादेशतेतिन्यायेन ते।'
2. Robert A. Hall Jr., 'Introductory Linguistics', p. 26. "The criteria of similarity applies to phonetic resemblance in the case of phonetic features, and to meaning in the case of other types of variants."

निहित किया जा रहा है। आदेशन या प्रतिनिधान की यह विधा आधुनिक भाषा-विज्ञान में भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी है।[1] 'फ' 'ढ' आदि प्रतीक प्रत्ययों को मनमाने ढंग से आयनादि आदेश का जहां तक प्रश्न है यह शास्त्रकार की बीज-गणितीय विधा का चरमोत्कर्षक है। यह कौन नहीं जानता कि वास्तविक प्रत्यय-रूपग्राम 'आयन्' आदि ही है। किन्तु यह भी एक सत्य है कि भाषा शब्दों में इन रूपग्रामों की समानता होते हुए भी कहीं 'आदि वृद्धि' तो कहीं उसका अभाव; कहीं अन्तोदात्त तो कहीं कोई स्वर। भाषागत इन सभी वैशिष्ट्यों का निरूपण करने के लिए पाणिनि ने सामान्य तत्व प्रत्यय-रूपग्राम के लिए सार्वत्रिक एक-एक प्रतीक 'फ' 'ढ' आदि चुन लिए और अपनी योजना के अनुसार उपयोगी अनुबन्धों से सम्पृक्त कर दिया ताकि स्वरादि भेद स्पष्ट किये जा सकें।

वर्णस्थानिक तथा प्रत्ययस्थानिक आदेशों को लेकर जो ध्वनि नियमों तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान के निष्कर्षों के विरोध की बात उठाई गई है वह भी संरचनात्मक भाषाविज्ञान के प्रतिनिधि सिद्धान्त का अपरिचय ही सूचित करती है। हमारा विचार है कि पाणिनि की स्थान्यादेश-व्यवस्था पर लगाए गए प्राय: सभी आक्षेप और प्रश्नचिह्न न केवल पाणिनीय व्याकरणविधा का सतही ज्ञान सूचित करते हैं अपि तु यह भी बताते हैं कि आक्षेपकर्त्ता लोग संरचनात्मक भाषा-विज्ञान की सीमाओं से तथा उसके विधात्मक स्वरूप से सुपरिचित नहीं हैं। पाणिनीय व्याकरणशास्त्र का सही विधात्मक महत्त्व समझने के लिए संरचना-त्मक भाषाविज्ञान के अधुनातन सिद्धान्तों के सम्यक परिचय के साथ-साथ पाणिनीय परम्परा का प्रामाणिक अध्ययन होना भी नितान्त अपेक्षित है।

1. R. H. Robins : General Linguistics, p. 203 : "The Allomorphs or variants morpheme shapes/-s/, /-z/ and /-iz/ are phonologically predictable in their distribution relative to one another, but there are plenty of examples of allomorphs of a morpheme in complementary distribution but not predictable by any phonological criteria."

अध्याय 9

पाणिनि द्वारा प्रयुक्त संज्ञाएं

प्रस्तुत अध्याय को 'पाणिनीय संज्ञाएं' अथवा 'पाणिनि-कृत संज्ञाएं' नाम न देकर 'पाणिनि द्वारा प्रयुक्त संज्ञाएं' नाम देने के पीछे हमारा अभिप्राय अपने विवेचन को उन संज्ञाओं के वृत्त से बाहर तक ले जाना है जिन्हें साधारणतः 'पाणिनीय संज्ञाएं' पुकारा जाता है, अर्थात् जिनकी परिभाषा सूत्रकार ने उद्देश्य-विधेय का उल्लेख करके किसी 'संज्ञा-सूत्र'[1] द्वारा अथवा 'संज्ञाधिकारसूत्र'[2] द्वारा की है इस विवेचन का विषय नहीं है क्योंकि यह कार्य अनेक प्रक्रिया-ग्रंथों द्वारा हो चुका है। यहां हमारा पूरा प्रयत्न पाणिनि की उस तकनीक को समझने की दिशा में होगा जो उसमें संरचना-उपादानों के तत्तत् समुच्चयों को परिभाषित करने के लिए अपनाई है।

9.1. पाणिनि द्वारा प्रयुक्य संज्ञाओं को नवीन परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए हम उनका अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत करेंगे :

1. 'संज्ञा' शब्द का व्यापक अर्थ; तथा पाणिनि द्वारा प्रयुक्त किन्तु अपरिभाषित संज्ञाएं।
2. 'कृत्रिम' तथा 'अकृत्रिम' संज्ञा का आशय।
3. अष्टाध्यायी में संज्ञाओं को प्राकरणिक स्थिति।
4. आकडारीय संज्ञाओं के अंतर्विरोध तथा उनका निराकरण।
5. कारक और समास अधिकार की संज्ञाओं का समालोचन।
6. संज्ञाओं के परिभाषण की पाणिनीय शैली।
7. पाणिनि-प्रयुक्त संज्ञाओं का भाषावैज्ञानिक वर्गीकरण।

---

1. वृद्धिरादैच् (अष्टा० 1.1.1) आदि।
2. 'कारके' (अष्टा० 1.4.23) आदि।

9.2. 'संज्ञा' शब्द का व्यापक अर्थ; तथा पाणिनि द्वारा प्रयुक्त किन्तु अपरिभाषित संज्ञाएं

'संज्ञायते' इति अथवा 'संज्ञातेऽनया'—इन दो व्युत्पत्तियों से क्रमशः कर्म या करण में 'अङ्' प्रत्यय करके 'संज्ञा' शब्द व्युत्पन्न होता है। प्रथम व्युत्पत्ति से पदार्थ-विशेष के बोधक रूप में जिस शब्द का ज्ञान कराया जाय अर्थात्—परिभाषित किया जाय उसे 'संज्ञा' कहा जाएगा तथा द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार जो शब्द व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर किसी पदार्थ-विशेष के बोधक रूप में स्वीकृत है, भले ही शास्त्रकार ने उसकी परिभाषा न की हो 'संज्ञा' कहलाएगा। दोनों व्युत्पत्तियों को ध्यान में रखते हुए शास्त्रकार द्वारा परिभाषित अथवा अपरिभाषित पदार्थ-विशेष का बोध कराने वाले शब्द 'संज्ञा' कहे जाएंगे। पाणिनि ने 'वृद्धि', 'गुण' आदि अनेकविध संज्ञाओं को अपने संज्ञासूत्रों द्वारा परिभाषित किया है। किन्तु कुछ संज्ञाएं ऐसी भी हैं जिनका उसने खुला प्रयोग किया है परन्तु उनकी कोई परिभाषा नहीं दी है अर्थात् उन्हें पाठक के सामान्य-ज्ञान पर छोड़ दिया है। इनमें प्रमुख संज्ञाएं ये हैं—

'अ'—कालवाची वर्तमान, भूत, भविष्यत् आदि।

'ब'—विभक्तिसूचक प्रथमा, द्वितीया आदि।

'स'—गुणवचन, जाति, उपोत्तम आदि।

'द'—अनुबन्धमूलक टित्, कित् आदि।

'न'—तदादि, तदुपथ; जैसे यादि, वलादि, अदुपथ, कोपथ[1] आदि।

इनमें से काल वाची संज्ञाओं की परिभाषा को पाणिनि ने लोकप्रमाणक मानकर स्वयं 'अशिष्य'[2] घोषित किया है। प्रथमा, द्वितीया आदि संज्ञाएं संभवतः पाणिनि युग में तत्तत् विभक्ति के बोधन में वैयाकरणरूढ़ि प्राप्त कर चुकी थी अतः उनकी परिभाषा करना अनावश्यक समझा है।[3]

'गुणवचन' और 'जाति' संज्ञाओं की कर्त्तव्यता का कात्यायन ने 'गुणवचनं च' (अष्टा० 1.4.1, वा० 1007) तथा 'समासकृत्तद्धिताव्यय सर्वनामासर्वलिङ्गा जातिः' (अष्टा० 1.4.1, वा० 1008) द्वारा संकेत किया है। 'उपोत्तम' संज्ञा का परिचय हमें व्याख्याकारों[4] से मिलता है।

---

1. तदन्त संज्ञा; जैसे अदन्त, इदन्त आदि के लिए पाणिनि ने 'येनविधिस्तदन्तस्य' (अष्टा० 1.1.72) सूत्र दिया है।
2. 'कालोपसर्जने चतुल्यम्' (अष्टा० 1.2.57).
3. काशिका (अष्टा० 2.3.2) 'द्वितीयादयः शब्दाः पूर्वाचार्यैः सुमांतिकेषु स्मर्यन्ते, तैरेवात्र व्यवहारः'।
4. काशिका, 'उपोधर्मरिति' (अष्टा० 6.1.217) पर 'विभ्रमुतीनामन्त्यमुपोत्तमम् तस्य समीपे यत्तदुपोत्तमम्'।

अनुबन्धमूलक 'टित्' 'कित्' आदि तथा तदादि, तदुपथ जैसे; अजादि,[1] अदुपथ[2] आदि प्रकृति तथा प्रत्ययों के वर्ग विशेष का संज्ञान कराने वाले शब्द भी संज्ञा ही हैं किन्तु इन्हें स्वतोव्याख्यात मानकर छोड़ दिया है और उनके संज्ञा-संज्ञि भाव का बोध हमें अष्टाध्यायीकार के व्यवहार से होता है।

9.3. 'कृत्रिम' तथा 'अकृत्रिम' सज्ञा का आशय

पतञ्जलि ने पाणिनि-कृत संज्ञाओं को 'कृत्रिम' और 'अकृत्रिम' दो रूपों में देखा है। प्रथम वर्ग में टि, घु, भ आदि तथा द्वितीय वर्ग में 'प्रतीतपदार्थक' नाम से अन्वर्थ 'कारक' आदि संज्ञाओं को ग्रहण किया है। परन्तु यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि अन्वर्थ संज्ञाएं भी शास्त्रकार द्वारा पदार्थ-विशेष के बोध में नियत कर देने से 'कृत्रिम' ही हो जाती हैं।[3] सभी व्याकरणिक संज्ञाओं का निर्धारण पाणिनि ने अपनी वर्णनात्मक तकनीक के अन्तर्गत शब्द-रचना के नियमों में अधिकाधिक एकरूपता लाने की दृष्टि से किया है। अतः किसी भी बाह्य अर्थ दृष्टि से पाणिनीय संज्ञा को परखा जा सकता है। उदाहरणार्थ—'पद' संज्ञा को लें।

लौकिक व्यवहार में भले ही वाक्य में प्रयोगार्ह 'सुबन्त' और 'तिङन्त' शब्द को ही 'पद' कहा जा सके किन्तु पाणिनि ने शब्द-रचना की दृष्टि से इसका प्रयोग सुबन्त-तिङन्त से बढ़ाकर कुछ प्रत्ययों[4] के योग में केवल प्रातिपादिक के लिए भी किया है। यही कारण है कि पाणिनि अपनी संज्ञाओं को यथासंभव 'संरचनात्मक' शब्दों में परिभाषित करता है। ऐसा होने से प्रत्येक संज्ञा अपने सुनिश्चित पारिभाषिक अर्थ का बोध कराती है तथा उसके अर्थ में कोई भी ह्रास या वृद्धि कर पाना संभव नहीं रहता।

9.4. अष्टाध्यायी में संज्ञाओं की प्राकरणिक स्थिति

पाणिनि ने प्रकरणविशेष तक सीमित रहने वाली कुछ संज्ञाओं[5] को छोड़कर सभी को आरंभ के दो अध्यायों में रखा है। इनमें से भी 'आकडारादेका संज्ञा' अष्टा० 1.4.1 से 'कडारा : कर्मधारये' अष्टा 2.2.38 तक पूरे तीन पाद में उन

1. अजादेर्द्वितीयस्य (अष्टा० 6.1.2)
2. पोरदुपधात् (अष्टा० 3.1.98)
3. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 5 (अष्टा० 1.1.23)
4. देखिए, (अ) नः क्ये (अष्टा० 1.4.15)
   (ब) सिति च (अष्टा० 1.4.16)
   (स) स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (अष्टा० 3.1.92) आदि।
5. देखिए, तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्, (अष्टा० 3.1.92) आदि।

संज्ञाओं का संग्रह किया है जिनमें एक ही पदार्थ पर एक साथ लागू होने वाली दो या अधिक संज्ञाओं में जिसकी प्राकरणिक स्थिति सूत्र-क्रम से आगे है; अथवा यदि पूर्व में है तो पर संज्ञा के लागू होने पर जिसे लागू होने का कोई अवसर ही न रहे,[1] विरोधी संज्ञा को अपने विषय में रोक देती है। अर्थात् एक सन्दर्भ में एक की एक ही 'संज्ञा' होती है। यही आकडारीय प्रकरण का 'एकसंज्ञानियम' कहा जाता है जो कि स्वयं में प्रमाण है कि पाणिनि की दृष्टि में 'संज्ञा' स्वयं में कोई वस्तु नहीं अपितु तत्तद् व्याकरणिक कार्य साधने का 'लघु' प्रतीकमात्र है।[2] अन्यथा एक ही शास्त्रकार द्वारा एक ही पदार्थ की नाना-संज्ञाएं करना; कहीं उनके समावेश तो कहीं एक को बाधित कर दूसरी का बलीयस्त्व बताना उपहासास्पद लगता है।

9.5. आकडारीय संज्ञाओं का अन्तर्विरोध तथा उसका निराकरण

आकडारीय संज्ञाओं में 'एकसंज्ञा' का नियम हो जाने से कुछ संज्ञाओं मे अनभीष्ट अन्तर्विरोध आ गया अर्थात् जिन संज्ञाओं को शब्द संरचना में एक-दूसरे के साथ रहना था उसमें बाधा आ गई। इस विरोध का निराकरण पाणिनि ने अग्रिम सूत्र में 'च' अव्यय[3] के सहारे पूर्व संज्ञा का समावेश करके किया है तथा जहां ऐसा नहीं किया है वहां पूर्व संज्ञाओं की स्वरित-प्रतिज्ञा से अनुवृत्ति[4] द्वारा दोनों का समावेश समझा जाता है।

आकाडारीय प्रकरण की समावेशनीय संज्ञाएं निम्नलिखित हैं—

1. 'च' द्वारा समाविष्ट

(अ) 'गति तथा 'उपसर्ग—उपसर्गाः क्रियायोगे (अष्टा० 1.4.59, गतिश्च अष्टा० 1.4.60)।

(ब) 'करण' तथा 'कर्म'—साधकतम् करणम् (अष्टा० 1.4.42, दिवः कर्म च अष्टा० 1.4.43)

2. अनुवृत्ति द्वारा समाविष्ट

(अ) 'अङ्ग' तथा 'भ' (यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम् (अष्टा० 1.4.13) यचि मम्—अष्टा० 1.4.18)।

---

1. काशिका, (अष्टा० 1.4.1) 'या परानवकाशा च'।
2. महा० अ० 1 पा० 4 आ० 3, पृ० 242. 'लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्'।
3. देखिए—उपसर्गाः क्रियायोगे (अष्टा० 1.4.59) गतिश्च (अष्टा० 1.4.60).
4. महा० अ० 1 पा० 4 आ० 1, पृ० 193 'ननु च यस्याप्येकसंज्ञाधिकारस्तस्याप्यङ्गसंज्ञापूर्विकेमपदसंज्ञे। कथम्?। अनुवृत्तिः क्रियते।'

(ब) 'अङ्ग' तथा 'पद' (यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम् अष्टा॰ 1.4.13, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (अष्टा॰ 1.4. 11) ।

(स) 'गुरु' तथा 'नदी'—संयोगे गुरु (अष्टा॰ 1.4.11), यूस्त्र्याख्यो नदी (अष्टा॰ 1.4.3) ।

(द) 'लघु' तथा 'घि'—ह्रस्वं लघु (अष्टा॰ 1.4.10) शेषोघ्यसखि (अष्टा॰ 1.4.7) ।

(क) परस्मैपद आत्मनेपद प्रथममध्यमोत्तम (पुरुष संज्ञाएं) लः परस्मैपदम् (अष्टा॰ 1.4.99), 'तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः (अष्टा॰ 1.4.101)

9.6. 'कारक' और 'समास' अधिकार की संज्ञाओं का समालोचन

'कारके' (अष्टा॰ 1.4.23) के अधिकार में पठित अपादानादि संज्ञाओं को तथा 'प्राक्कडारात्समासः' (अष्टा 2.1.3) अधिकार में अव्ययीभावादि संज्ञाओं को आकडारीय काण्ड में डालने से स्वयं स्पष्ट है कि पाणिनि ने जिन अर्थसन्दर्भों में उन्हें परिभाषित किया है वहीं उसी की बताई हुई स्वभिन्नकारकसंज्ञाओं और स्वभिन्नसमाससंज्ञाओं की भी 'अतिव्याप्ति' का अवसर बनता है जिसे टालने में एकसंज्ञानियम[1] काम आता है। प्रश्न उठता है कि आखिर वह क्या परिस्थिति रही जिसमें शास्त्रकार निर्विरोध संज्ञाएं नहीं दे पाया ? इसका उत्तर पाने के लिए हमें कारक संज्ञाओं तथा समास संज्ञाओं पर क्रमशः विचार करना होगा।

9.7. कारक तत्त्व

कारक तत्त्व वस्तुतः वाक्यगत क्रियाबोधक पद तथा द्रव्यबोधक पद का अन्वय संबंध है। स्वाभाविक है कि क्रिया के साथ द्रव्य का संबंध क्रियाजनकतया ही होगा। यह बात अलग है कि अनेक द्रव्य एक ही काल में एकक्रिया से एकरूपेण क्रियाजनकत्व सम्बन्ध न रख पाएं। किन्तु एक क्रिया के अन्तर्भूत अनेक गौण (साधन) क्रियाएं समाहित रहती हैं जिनका मिलाजुला रूप मुख्यक्रिया (साध्य) होती है। जो द्रव्य साक्षात् मुख्यक्रिया का जनक नहीं भी है। वह भी तद्गत गौणक्रिया का जनक होने से क्रियाजनक की कोटि में आ जाता है। अतः क्रियाजनक ही कारक कहा जाता है। क्रिया की मुख्यता और गौणता के द्वारा क्रियाजनक भी मुख्य और गौण दो वर्गों में हो जाता है।

मुख्य क्रियाजनकत्व कर्तृत्वरूप में होता है तथा गौण क्रियाजनकत्व, क्रियाजन्यफलाश्रयत्व, क्रियासाधनत्व, क्रियोद्देश्यत्व, क्रियाजन्यविश्लेषावधित्व तथा

1. आकडारादेका संज्ञा (अष्टा॰ 1.4.1)

क्रियाधारत्व[1] रूप में होता है। इस प्रकार क्रियाजनकतारूप कारक तत्त्व के छः भेद हैं। सामान्यतः इनका बोध भाषा में क्रमशः द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी विभक्तियों द्वारा होता है। कारक तत्त्व का बोध कराने की दशा दशा में ही इन्हें कारक-विभक्ति कहा जाता है। अन्यथा उपपद विभक्ति कहलाती हैं। प्रथमा किसी भी कारकतत्त्व बोधन नहीं करती अपितु प्रातिपदिकार्थ-मात्र (सम्बन्ध तथा कारकत्व से रहित प्रकृत्यर्थ मात्र) बोधित करती है। अतः वह कारक विभक्ति नहीं है।

9.8. द्वितीया आदि विभक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न कारक तत्त्वों का द्योतन

अनेकों ऐसे सन्दर्भ हैं जहां कारक विभक्तियों के सम्बन्ध में उक्त सामान्य नियम का व्यतिक्रम मिलता है। उदाहरणार्थ—'पर्यङ्कमधिशेते' वाक्य में आधार का बोध सप्तमी नहीं द्वितीया कराती है; 'अक्षान् दीव्यति' में साधन का बोध तृतीया नहीं द्वितीया ही दे रही है। पाणिनि ने एक ही विभक्ति से बोधित होने वाले सभी कारक तत्त्वों को एक ही शीर्षक अर्थात् संज्ञा के अंतर्गत ला खड़ा खड़ा किया और तदनुसार विभक्ति विधान कर दिया।[2] 'अकथितं च' (अष्टा० 1.4.51) इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। जो कुछ विशिष्ट सन्दर्भों में सभी कारकों को 'कर्म' संज्ञा से समेट लेता है। ऐसी दशा में सामान्यतः प्राप्त संज्ञाओं का विशेष विहित संज्ञाओं से विरोध आना स्वाभाविक है। इस विरोध का परिहार करने के लिए पाणिनि ने 'आकडारादेका संज्ञा' (अष्टा० 1.4.1) तथा 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (अष्टा० 1.4.2) सूत्रों की रचना की है।

9.9. यह भी ध्यातव्य है कि कर्म आदि कारक संज्ञाओं का उद्देश्य केवल विभक्ति-नियम करना नहीं है। विभक्ति-नियम तो अनधिक प्रयत्न से संज्ञाओं के बिना भी संभव था। शास्त्रकार बड़ी सुविधा से 'द्वितीया' को अधिकृत करके, उसके आगे 'कर्त्तुरीप्सिततमं', 'अधिशीङ्स्थासामाधारे' आदि शैली में सूत्र शृंखला कर सकता था। पाणिनि की शास्त्रीय योजना में कर्मादि संज्ञाओं के प्रयोजन व्यापक हैं।

(1) अपने सूत्रों में 'कर्म' आदि संज्ञाओं से परिभाषित पदार्थ का बोध कराना और फलतः शास्त्र-लाघव पाना; जैसे—'कर्मण्यण्' (अष्टा० 3.2.1),

1. क्रिया का आधार 'कर्तृ-कर्म द्वारा होता है। देखिए—काशिका (अष्टा० 1.4.45) कर्तृ-कर्मणोः क्रियावयभूतयोः धारणक्रियां प्रति य आधारस्तत् कारकमधिकरणसंज्ञं भवति।'

2. अत एव जगदीशतर्कालङ्कार भट्टाचार्य ने कर्मादि कारकों की परिभाषा तत्तद् विभक्ति द्वारा बोधित कारकत्व रूप से की है, देखिए—शब्दशक्तिप्रकाशिका, 'कारकप्रकरणम्', पृ० 294.

'करण यजः' (अष्टा० 3.2.85), 'करणाधिकरणयोश्च' (अष्टा० 3.3.117); 'भीष्मादयोऽपादाने' (अष्टा० 3.4.74) आदि में देखा जा सकता है।

(2) कर्मवाच्य और कर्तृवाच्य का नियमन करना 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' (अष्टा० 1.4.46) आदि आधार-विषय में यदि 'कर्म' नाम न दिया जाता तो 'लः' कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः (अष्टा० 3.4.69) नियम से कर्मवाच्य 'ले' का विधान सम्भव न था और 'अधिशीयते पर्यङ्को देवदत्तेन' आदि के लिए पृथक् नियम बनाने होते।

9.10. अपादानादि संज्ञाओं को एक सामान्य संज्ञा 'कारक' के अन्तर्गत लाने में भी पाणिनि का उद्देश्य सभी का एक ही 'कारक' शब्द से सूत्रों में ग्रहण कर लेना है; जैसे 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (अष्टा० 6.2.139) 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' (अष्टा० 3.3.19) आदि में 'कारक' शब्द से अपदानादि सभी कारक ग्रहण किए जाते हैं।

यहाँ हम सामान्य सूत्र द्वारा परिभाषित अन्वर्थ कारक संज्ञा को वास्तविक मानकर उसके शीर्षक के अन्तर्गत लाए गए अन्य कारक रूपों को 'आरोपित संज्ञा' नाम देकर सूत्र-तालिका दे रहे हैं ताकि उक्त स्थिति सर्वथा स्पष्ट रहे।

अन्वर्थ एवं आरोपित कारक संज्ञा करने वाले सूत्रों का वर्गीकरण

कारक	अन्वर्थसंज्ञा-सूत्र	आरोपितसंज्ञा-सूत्र
कर्त्ता	(1) स्वतन्त्रः कर्त्ता 1.4.54	
	(2) तत्प्रयोजको हेतुश्च 1.4.55	
कर्म्म	(1) कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म। 1.4.49	(1) अकथितं च। 1.4.51
	(2) तथायुक्तं चानीप्सितम्। 1.4.50	(2) अधिशीङ्स्थासां कर्म। 1.4.46
	(3) गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ-शब्दकर्माकर्मकाणा-मणि कर्ता स णौ। 1.4.52	(3) अभिनिविशश्च। 1.4.47
		(4) उपान्वध्याङ्वसः। 1.4.48
	(4) हृक्रोरन्यतरस्याम्। 1.4.53	दिवः कर्म्म च। 1.4.43

करण	(1) साधकतमं करणम् 1.4.42	
सम्प्रदान	(1) कर्मणा यमभिप्रेति स सम्प्रदानम्। 1.4.32	(1) रुच्यर्थानां प्रीयमाणः। 1.4.33 (2) श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः। 1.4.34 (3) धारेरुत्तमर्णः। 1.4.35 (4) स्पृहेरीप्सितः। 1.4.36 (5) क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यम्प्रति कोपः। 1.4.37 (6) राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः। 1.4.39 (7) प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता। 1.4.40 (8) अनुप्रतिगृणश्च। 1.4.41 (9) परिक्रयणे सम्प्रदान-मन्यतरस्याम्। 1.4.44
अपादान	(1) ध्रुवमपाये अपादानम्। 1.4.24	(1) भीत्रार्थानां भयहेतुः। 1.4.25 (2) पराजेरसोढः। 1.4.26 (3) वारणार्थानामीप्सितः। 1.4.27 (4) अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति। 1.4.28 (5) आख्यातोपयोगे। 1.4.29

(6) जनिकर्तुः प्रकृतिः
1.4.30

(7) भुवः प्रभवः।
1.4.31

अधिकरण (1) आधारोऽधिकरणम्।
1.4.45

9.11. समास संज्ञाओं का अन्तर्विरोध

समास-संज्ञाओं में आने वाले विरोध की पृष्ठभूमि जानने के लिए 'समास', सामासिक शब्दों की अर्थ-प्रवृत्ति और संरचना-प्रवृत्ति की दिशाएं समझना होगा। वाक्य में पृथक्-पृथक् पद के रूप में अर्थ उपस्थित करने वाले पदों का एक-पदात्मक रूप से एकार्थ उपस्थित करना 'समास' होता है। इसे ही पदों का 'एकार्थीभावसामर्थ्य'[1] कहा जाता है। वाक्य में पृथक् स्थिति वाले पद जब एकपदात्मक पाते हैं तो स्वाभावतः ये स्थितियां उभरती हैं—किसी भाग का लोप होता है, पदों का पौर्वापर्य बदलता है; उनमें रूप परिवर्तन या परिवर्धन होता है तथा स्वराघात में नवीनता आती है। समस्त-प्रातिपदिक के रूप में कभी अव्ययरूप तो कभी सविभक्तिक होता है। ये सभी समस्त पद की संरचनात्मक स्थितियां हैं। जहां तक अर्थ का संबंध है, वह अन्तर नहीं रखता। वाक्य में पदार्थ की जो भी प्रधान (विशेष्य) या अप्रधान (विशेषण) रूप में स्थिति है, समास में भी वही रहती है। दूसरे शब्दों में सामासिक पूर्वोत्तर पदों के अर्थ की प्रधानता या अप्रधानता के आधार पर 'समास' का वर्गीकरण हो सकता है, जो सार्थक और एकरूप रहेगा।

इस प्रकार का वर्गीकरण निम्नरूपों में हो सकता है :[2]

1. पूर्वपदार्थप्रधान समास (अव्ययीभाव)
2. उत्तरपदार्थप्रधान समास (तत्पुरुष)
3. उभयसमानाधिकरण समास (कर्मधारय द्विगु)
4. अन्यपदार्थप्रधान समास (बहुव्रीहि)
5. उभयपदार्थप्रधान समास (द्वन्द्व)

परन्तु उक्त प्रकारक वर्गीकरण अथवा तन्मूलक अव्ययीभाव आदि संज्ञाओं

---

1. सि० कौ० (अष्टा० 2.1.1). तत्वबोधिनी, 'यत्किञ्चित्पदजन्यपृथगुपस्थितिविषयकत्वेन लोकदृष्टानां विशिष्टविषयैकशक्त्यैकोपस्थितिजनकत्वमेकार्थीभावः।'
2. वही, पृ० 260.

का पाणिनि की दृष्टि से तभी मूल्य होगा जब उनके आधार पर समास शब्दों की संरचना के एकरूप नियम बनाए जा सकें। तभी संज्ञाकरण की लब्धार्थता है।

पाणिनि का शास्त्र संरचनात्मक-व्याकरण है न कि शब्दबोध-विवेचन का शास्त्र। अव्ययीभावादि संज्ञाओं को पाणिनि ने संरचनात्मक दृष्टि से अपनाया है। उनके अधिकार में उसने वे सभी सन्दर्भ समाहृत किए जिनकी संरचनात्मक-प्रवृत्ति समान थी। अपनी निर्धारित शास्त्र-योजना में 'अव्ययी भाव' आदि के सहारे समस्त पदों के पौर्वापर्य, अव्यय-अनव्यय भेद, प्रकृति-परिवर्तन, समासान्त विधियां, लिङ्ग-प्रत्यय तथा स्वर आदि के नियम बना दिए। सामान्य संज्ञा के विषय को संरचना की दृष्टि से विशेष 'संज्ञा' के अन्तर्गत डालने से संज्ञाओं में विरोध आया—एक की दो संज्ञाएं प्राप्त होने लगीं।

9.12. समास-संज्ञाओं के विरोध को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना अधिक वस्तुपरक होगा। पाणिनि 'अनेकमन्यपदार्थे' (अष्टा० 2.2.24) से अन्यपदार्थ के बोधक अनेकसुबन्त पदों के समास को 'बहुव्रीहि' संज्ञा देता है जबकि अन्य-पदार्थबोधक उन्मत्तगङ्गम्, शस्त्रीश्यामा, पञ्चगवम्, निष्कौशाम्बिः आदि प्रयोगों में क्रमशः अव्ययीभाव,[1] तत्पुरुष,[2] द्विगु[3] तथा तत्पुरुष[4] संज्ञाएं करता है। ऐसे स्थलों में 'अव्ययी भाव' आदि के साथ 'बहुव्रीहि' संज्ञा भी प्रवृति होना चाहती है जोकि शब्द-संरचना की दृष्टि से अभीष्ट नहीं है। समास-संज्ञाओं के इस विरोध को आकडारीय एकसंज्ञानियम से दूर कर दिया गया। पाणिनि की संरचनात्मक संज्ञाओं से पूर्वोक्त अर्थमूलक संज्ञाओं का समन्वय न होने से पाणि-नीय व्याख्याताओं को उन्हें 'प्रयोगवाद' घोषित करना पड़ा।[5]

9.13. समास-संज्ञा करने वाले सूत्रों की शैली

जैसाकि कहा गया है कि पाणिनि की समास संज्ञाएं अर्थमूलक न होकर संरचनात्मक रूप से परिभाषित हुई हैं। सूत्रकार ने 'अव्ययीभावः' (अष्टा० 2.1.5) इत्यादि रूप से संज्ञाविशेष का अधिकार करके 'अमुक पद अमुक पद से

1. अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् (अष्टा० 2.1.21).
2. उपमामानि सामान्यवचनैः (अष्टा० 2.1.55).
3. तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (अष्टा० 2.1.51)
4. कुगतिप्रादयः (अष्टा० 2.2.18)
5. देखिए—सि० कौ० पृ० 260 (सर्वसमासशेष प्रकरणम्) 'पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः। उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः। अन्यपदार्थ प्रधानो बहुव्रीहिः। उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः। इत्यपि प्राचां वादः प्रायोऽभिप्रायः।'

समास पाता है जोकि अमुक संज्ञा वाला होता है'—इस शैली में वे सन्दर्भ दे[1] दिए जहां-जहां संज्ञा लागू करनी है। यह शैली संघटक द्वारा संघटन या समुच्चय की संज्ञा करने की है।[2]

9.14. पूर्वपद प्रयोग

अष्टाध्यायी में समासघटक पदों के पूर्व तथा पर प्रयोग के भी साफ-सुथरे नियम निर्धारित किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) समास करने वाले सूत्र में जो पद 'प्रथमान्त' पढ़ा गया है वह विग्रह वाक्य के जिस पद को उपलक्षित करता है, उसका पूर्वप्रयोग होता है ;[3] जैसे अधिहरि, राजपुरुष आदि।

यह नियम केवल अव्ययीभाव तथा तत्पुरुष में ही लागू होता है। 'द्वन्द्व' और 'बहुव्रीहि' में (कुछ अपवादों को छोड़कर) सभी समस्यमान पदों के प्रथमान्त होने से विशेष नियम हैं। 'तत्पुरुष' में भी कुछ अपवाद हैं।

(2) 'द्वन्द्व' समास में 'घि' संज्ञक (इकारान्त, उकारान्त) का पूर्व प्रयोग होता है;[4] यथा हरिहरौ, मधुमाधवौ आदि।

(3) द्वन्द्व में भी जो शब्द स्वरादि (अजादि) तथा अकारान्त हैं उनका पूर्वप्रयोग होता है; जैसे—इन्द्राग्नी।

द्वन्द्व समास में यह द्वितीय नियम प्रथम का बाधक है जैसाकि 'इन्द्राग्नी' उदाहरण से स्पष्ट है। दोनों ही नियम द्वन्द्व समास में 'घि' तथा 'अजाद्यदन्त' के पूर्व प्रयोग की अनिवार्यता बताते हैं अर्थात् समस्त पद में आदि घटक उन्हें होना चाहिए। किन्तु यदि उनके सजातीय अनेक हैं तो किसी एक का (जोकि अल्पाच् हो) पूर्व प्रयोग करके शेष में यथेच्छ रवैया[5] अपनाया जा सकता है।

(4) जो शब्द समासघटक पदों में अल्पाच् (कम अच् वाला) है उसका पूर्व प्रयोग होता है;[6] जैसे भीमार्जुनौ।

(5) 'बहुव्रीहि' समास में 'सप्तम्यन्त' पद और 'विशेषण' का पूर्व प्रयोग होता

---

1. उन सन्दर्भों के सूत्रों की व्याख्या और उदाहरण प्रक्रिया ग्रन्थों का कार्य है अतः प्रकृतानुपयोगी जानकर छोड़ा जाता है।
2. इस शैली के अन्तर्गत अन्य प्रकार की संज्ञाओं का परिचय 9.19 में होगा।
3. देखिए—प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (अष्टा० 1.2.43) तथा उपसर्जनम् पूर्वम् (अष्टा० 2.2.30)
4. 'द्वन्द्वे घि' (अष्टा० 2.2.32)
5. काशिका (अष्टा० 2.2.32) 'अनेकप्राप्तावेकस्य नियमः, शेषेत्वनियमः'।
6. अल्पाच्तरम् (अष्टा० 2.2.34)

है;[1] कण्ठेकाल:, महाबाहु: आदि ।

(6) पूर्व नियम के अपवादरूप निष्ठान्त (क्तक्तवत्वन्त) का 'बहुब्रीहि' में पूर्व प्रयोग होता है;[2] यथा कृतिमति: आदि ।

(7) 'आहिताग्नि' आदि कुछ ऐसे प्रचलित बहुब्रीहि शब्द हैं जिनमें निष्ठान्त का विकल्प से पूर्व प्रयोग होता है;[3] यथा—आहिताग्नी:, अग्न्याहित आदि ।

(8) 'राजदन्त' आदि कुछ ऐसे समासपद हैं जिनमें प्राय: पूर्वोक्त सभी पूर्व नियमों के अपवाद हैं अर्थात् जिनका पूर्व प्रयोग बताया है जिनमें कुछ का पर प्रयोग भी होता है;[4] यथा—राजदन्त आदि ।

(9) 'कडार' (दुरभिमानी) आदि कुछ ऐसे गुणवाची विशेषण हैं जिनका कर्मधारय समास में पूर्व प्रयोग विकल्प से होता है; यथा—तार्किक-कडार:, कडारतार्किक आदि ।[5]

9.15. समास से सम्बन्ध रखने वाली कुछ अन्य विधियाँ हैं जिन्हें पाणिनि ने समास-संज्ञा प्रकरण में नहीं अपितु निम्नलिखित प्रकरणों में वर्णित किया है । जिन्हें वहां समझा जा सकता है ।

(1) समास का वचन नियम (अष्टा० 2.4.1-16)
(2) समास का लिङ्गनियम[6] (2.4.17-31)
(3) 'समामान्त' प्रत्यय[7] (अष्टा० 5.4.68-160)
(4) 'समास स्वर' (अष्टा० 6.1.22.3-6.2.199)
(5) समास-घटक पूर्व पद की विभक्ति का अलूक्[8] (लोपाभाव)

---

1. सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ (अष्टा० 2.2.35)
2. निष्ठा (अष्टा० 2.2.36)
3. वाहिताग्न्यादिषु (अष्टा० 2.2.37) 'आहिताग्नि' आदि आकृतिगण हैं। देखिए—गणपाठ (अष्टा० 2.2.37)
4. राजदन्तादिषु परम् (अष्टा० 2.2.31) 'न केवलमुपसर्जनस्य, अन्यस्यापि यथालक्षणंविहितस्यपूर्वनिपातस्यापवाद:, काशिका (अष्टा० 2.2.31)
5. कडारा: कर्मधारये (अष्टा० 2.2.38)
6. पाणिनि ने लिंग और वचन दोनों का नियमन शास्त्र द्वारा अनावश्यक माना है (देखिए—'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (अष्टा० 1.2.5) तब उसके द्वारा लिंग और 'वचन' के नियम 'वदतोव्याघात' लग सकते हैं। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि समास-घटक पद समास-वृत्ति के प्रभाव से अपना स्वतन्त्र 'लिंग' और 'वचन' नहीं रखते अपितु समस्त पद से यथायोग 'लिंग' और 'वचन' का प्रयोग होता, अत: उसका नियम आवश्यक है ।
7. 'समासान्त' प्रत्यय प्रकृति से भिन्न कोई अर्थ नहीं रखते । इन्हें स्वार्थप्रत्यय समझा जा सकता है । इस संज्ञा का अष्टा० की किसी विधि में भी उपयोग नहीं है । अत: यह सूत्र 'समासान्त' प्रत्ययों की तदन्तता प्रतिपादन द्वारा इनसे युक्त शब्दों का 'अव्ययीभाव' आदि संज्ञाओं से ग्रहण करा देता है । देखिए—काशिका (अष्टा० 5.4.68)
8. विभक्ति का 'लुक्' समास का प्रथम फल है। बिना विभक्ति-लुक् पद-समुदाय को समास नाम देना उन्हें एक पदात्मकता प्रदान करना है, ताकि वैसे ही स्वरादि नियम हो सकें ।

(अष्टा० 6.3.1-33)

(6) समास-घटक पूर्वस्त्रीपद का पुंवद्भाव (अष्टा० 6.3.34-42)

(7) समासघटक पूर्व पद का आदेशन (विकार) (अष्टा० 6.3.43-139)

(8) समास में एकशेष नियम (अष्टा० 1.2.64-1.2.73)

9.16. संज्ञा-परिभाषण की पाणिनीय शैली

डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने अधुनातम भाषावैज्ञानिक दृष्टि से पाणिनीय संज्ञा-विधि का समन्वय दिखाते हुए इस विषय का स्पष्ट विवेचन किया है। डॉ० मिश्र का विवेचन भावाविज्ञान की तकनीकी शब्दावली[1] में है अत: पाणिनीय अष्टाध्यायी के सामान्य अध्येता तक वह यथार्थत: पहुंचना कठिन है। लेखक का प्रयत्न होगा कि डा० मिश्र की उपलब्धियों को पाणिनि की शब्दावली में अध्येता तक पहुँचाया जाय।

9.17. प्रत्येक पाणिनीय संज्ञा-शब्द-संरचना का वैज्ञानिक अन्वाख्यान करने के लिए निर्धारित प्रकृति, प्रत्यय और वर्ण आदि व्याकरणिक उपादानों के समुच्चय का पारिभाषिक नाम होता है। फलत: प्रत्येक संज्ञा व्याकरणिक विधियों में अपने समुच्चय के प्रत्येक सदस्य का ग्रहण कराती है।

समुच्चय संज्ञाओं को परिभाषित करने की पाणिनि ने मुख्यत: चार दिशायें अपनाई हैं:

(1) **सदस्यों के रूप में समुच्चय की संज्ञा**

इनमें धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा वर्ण सभी के समुच्चय और उपसमुच्चय आते हैं। समुच्चय सँज्ञाएं परिभाषित करने के लिए पाणिनि ये विधाएं अपनाता है।

(अ) समुच्चय के आदिसदस्य के नाम से समुच्चय-संज्ञा की परिभाषा, भूवादयो जातवः (अष्टा० 1.3.1), प्रादयः (अष्टा० 1.4.58) द्वारा 'भू'

1. V. N. Mishra, 'The Descriptive Technique of panini', p. 84 : "Units defined in terms of their representation at a lower strata (i.e. to say 'emes' defined in terms of 'allos'). (a) Supramorphemic units represented as a morpheme, (b) morpheme represented as a morphophonemic entity, (c) Morphophone merepresented as phoneme, (d) phoneme represented as phonetic entity."

आदि के समुच्चय की 'धातु संज्ञा' तथा 'प्र' आदि के समुच्चय की 'निपात' संज्ञा करना।

(ब) अन्त्य इत् के साथ आदि वर्ण से समुच्चय की संज्ञा करना; अण् इक्[1] आदि प्रत्याहार।

(स) केवल अन्त्येत् से सवर्णों के समुच्चय की संज्ञा करना जैसे–उदित्[2] कु, चु, टु, तु और पु।

(द) तदादि[3], तदन्त[4], तदुपथ[5], सदस्य के नाम से समुच्चय की संज्ञ: करना; जैसे वलादि अजन्त, कोपथ आदि।

(क) अनुबन्ध-विशेषित[6] नाम से समुच्चय की संज्ञा करना; जैसे कित्, टित्, उगित् आदि।

(ख) संज्ञा-अधिकार द्वारा[7] समुच्चय की संज्ञा करना; जैसे कारक आदि।

(ग) सामान्य तत्त्व के आधार पर[8] समुच्चय का नाम; जैसे—लुमत् आदि।

(2) **संघटक के नाम से संघटन की संज्ञा**

इनके अंतर्गत पद, समास, व्युत्पन्न शब्द अनुबन्धसमुच्चय, रूपग्रामीय समुच्चय, रूपध्वनिग्रामीय और वर्णों के समुच्चय आते हैं। इस शैली के अनुसार पाणिनि संघटन को उसके अवयव से विशेषित करके संज्ञा कर देता है; जैसे 'सुप्तिङन्तं पदम्' (अष्टा० 1.4.14) आदि।

(3) **प्रतिनिध (आदेश) के नाम से प्रतिनिधेय (स्थानी) की संज्ञा (भाविनी-संज्ञा)**[9]

इनके अन्तर्गत वे संज्ञाएँ आती हैं जिन्हें पाणिनि ने प्रथम संरचना-स्तर पर

1. आदिरन्त्येन सहेता (अष्टा० 1.1.71)
2. अणुदित्सवर्णस्य चा प्रत्यय (अष्टा० 1.1.69)
3. इस हेतु पाणिनि ने सूत्र नहीं दिया है। वैसे वह 'वलादि' इत्यादि संज्ञाओं का प्रयोग करता है। देखिए, वा० 422, 'यस्मिन्नल्विधिस्तदादावल्ग्रहणे।'
4. येन विधिस्तदन्तस्य (अष्टा० 1.1.72)
5. पाणिनि ने अनेकशः प्रयोग किया है; यथा न कोपधायाः (अष्टा० 6.3.37)
6. आद्यन्तौ टकितौ (अष्टा० 1.4.46)
7. कारके (अष्टा० 1.4.23)
8. नलुमतांगस्य, (अष्टा० 1.1.62) यहां 'लु' सामान्य भाग के आधार पर 'लुक्' श्लु, लुप् तीनों का बोध होता है।
9. महा० अ० 1पा० 1 आ० 7, पृष्ठ 253, 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (अष्टा० 1.1.45) का भाष्य करते हुए संज्ञाकरण की इस शैली को 'भाविनी' संज्ञा शैली के रूप में माना है—'एवं तर्हि भाविनीयं संज्ञा विज्ञास्यते...एवमिहापि सः यणः स्थाने भवति यस्यामिनिर्वृत्तस्य सम्प्रसारणमित्येषा संज्ञा भविष्यति।'

होने वाले 'स्थानी'[1] को अगले संरचना स्तर होने पर होने वाले 'आदेश' के रूप में परिभाषित किया है; जैसे गुण, वृद्धि आदि ।

(4) **अन्वयी अथवा सहप्रयोगी के परिभाषित संज्ञाएं**

इनके अन्तर्गत वाक्य में क्रिया के साथ अन्वय द्वारा निर्धारित होने वाली कारक अधिकार में परिभाषित 'अपादान' आदि संज्ञाएं ।

इनके अन्तर्गत क्रियान्वय के द्वारा परिभाषित 'कारक' संज्ञाएं, पदों के परस्पर मिल कर एकार्थीभाव प्राप्त करने की स्थिति में परिभाषित 'समास' अधिकार की अव्ययीभाव आदि संज्ञाएं तथा 'उपसर्ग' आदि संज्ञाएं आती हैं ।

9.18. सदस्यों के रूप में परिभाषित समुच्चय की संज्ञाओं में से प्रत्याहार (4.5) तथा 'उदित् संज्ञाओं का परिचय यथास्थान दिया जा चुका है। तदादि, तदुपथ और तदन्त संज्ञाएं पाणिनीय सूत्रों में सहज समझी जा सकती हैं। अनुबन्धमूलक सभी समुच्चय-संज्ञाओं को 7.10-19 में प्रस्तुत तालिकाओं द्वारा जाना जा सकता है ।

यहाँ केवल प्रकृति-प्रत्यायात्मक रूपग्रामों के समुच्चयों की तालिका दी जा रही है ।

प्रमुख रूपग्रामीय समुच्चय-संज्ञाएं

समुच्चय	सदस्य	सन्दर्भ-सूत्र
1. धातु		
(क) मूलधातु	'भू' आदि (3.12)	भूवादयो धातवः (1.3.1)
(ख) व्युत्पन्न धातु	सनाद्यन्त (3.12)	सनाद्यन्ता धातवः (3.1.32)
बुभूष् आदि धातुओं के आत्मनेपदादिमूलक समुच्चय		
(1) आत्मनेपदी	(क) धातुपाठ में अनुदात्तेत् तथा ङित् ।	अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (1.3.12)
	(ख) भाववाच्य तथा कर्मवाच्य में सभी धातुएं ।	भावकर्मणोः (1.3.13)

1. 'स्थानी' को साधारणतः अग्रिम स्तर पर विकार पाने वाली इकाई समझ लिया जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि संरचना स्तर के क्रम से जो भी पूर्वस्तर की इकाई भावी इकाई (उपादान) द्वारा प्रतिनिधान प्राप्त करती है वही 'स्थानी' कहलाती है । 'गुण', 'वृद्धि' आदि अग्रिम संरचना स्तर पर तत्तत् वर्णात्मक इकाई से प्रतिनिहित होते हैं । अतः 'स्थानी' ही हैं ।

	(ग) सन्दर्भविशेष में आत्मनेपदवाली।	अष्टा॰ 1.3.14 से 1.3.71 तक वर्णित,
(2) उभयपदी	(क) धातुपाठ में स्वरितेत् तथा ङित्।	स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले अष्टा॰ 1.3.72
	(ख) सन्दर्भ-विशेष में पठित।	अष्टा॰ 1..3.73 से 1.3.77) तक वर्णित।
(3) परस्मैपदी	(क) उदात्तेत् तथा उक्त दो वर्गों से भिन्न अन्य।	शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् अष्टा॰ 1.3.78
	(ख) विशेष सन्दर्भ में पठित।	अष्टा॰ 1.3.79 से 1.3.93 तक वर्णित।
धातुओं के इडा गममूलक वर्ग :		
(1) सेट्	(क) धातुपाठ में उदात्त प्रतिज्ञात।	सप्तम अध्याय द्वितीय पाद
	(ख) सन्दर्भ-विशेष में सेट् पठित।	इट् प्रकरण द्रष्टव्य।
(2) नेट् (अनिट्)	(क) धातुपाठ में अनुदात्त प्रतिज्ञात।	एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (अष्टा॰ 7.2.10)
	(ख) सन्दर्भ-विशेष में पठित	इट् प्रकरण।
(3) वेट्	(क) सन्दर्भविशेष में पठित।	इट् प्रकरण।
2. प्रातिपदिक		
(क) अव्युत्पन्न	धात्वादिभिन्न अर्थवान् शब्द।	अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (1.2.45)
(ख) व्युत्पन्न	कृदन्त, तद्धितान्त, समास।	कृत्तद्धितसमासाश्च (1.2.46)
प्रातिपदिक के उपसमुच्चय		
(1) अव्यय	(क) स्वरादि शब्द (गणपाठान्तर्गत)	स्वरादिनिपातमव्ययम् (1.1.37)
	(ख) निपात।	
	(ग) असर्वविभक्ति	तद्धितश्चासर्वविभक्तिः

	तद्धित।	(1.1.38)
	(घ) मान्त एजन्त कृत्।	कृन्मेजन्तः (1.1.39)
	(ङ) क्त्वान्त, तोसुन्क-सुन्प्रत्यान्त।	क्त्वातोसुन्कसुनः (1.1.40)
	(च) अव्ययीभाव समास।	अव्ययीभावश्च (1.1.41)
अव्यय के उपसर्गमुच्चय		
(1) निपात	निपाताधिकार में पठित शब्द।	प्राग्रीश्वरान्निपाताः (1.4.57) से अधिरीश्वरे (1.4.97) तक
(क) चादि समुदाय	'च' इत्यादि गणपाठोपदिष्ट	चादयोऽसत्वे (1.4.58)
(ख) उपसर्ग	'प्र' आदि गणपाठोपदिष्ट	उपसर्गाः क्रियायोगे (1.4.59)
(ग) गति	(क) प्रादि	गतिश्च (1.4.60)
	(ख) ऊरी आदि सन्दर्भ विशेष में पठित।	अष्टा० 1.4.61 से 1.4.79 तक
(घ) कर्मप्रवचनीय	(ग) 'कर्मप्रवचनीय' अधिकार में पठित।	कर्मप्रवचनीयाः (1.4.83)
(2) अव्ययेत्तर प्रातिपदिक		
(क) सर्वनाम	'सर्व' आदि गणपाठान्तर्गत	सर्वादीनि सर्वनामानि (1.1.27) तथा (1.1.28-36।)
(ख) संख्या	बहु, गुण, क्त्वन्त, डत्यन्त।	बहुगणवतुडति संख्या (1.1.23)
(ग) षट्	षान्त, नान्त संख्या	ष्णान्ता षट् (1.1.24)
(घ) नदी	स्त्रीवाची ईकारान्त, ऊकारान्त	यूस्त्र्याख्यौ नदी (1.4.3) से (1.4.6) तक।
(ङ) घि	सखिभिन्नह्रस्व इकारान्त तथा उकारान्त	शेषोघ्यसखि (1.4.7)
3. धातु-प्रत्यय		
(क) सार्वधातुक	तिङ् शित्।	तिङ्शित्-सार्वधातुकम् (3.4.113)।

(ख) आर्धधातुक	तिङ्शित् भिन्न।	आर्धधातुकम शेष : (3.4.114) से (3.4.117) तक।
(ग) कृत्	तिङ् भिन्न।	कृदतिङ् (3.1.93)
(घ) कृत्य	'कृत्' के उपवर्गरूप में पठित।	कृत्याः (3.1.96) से (3.1.132) तक।
(ङ) तिङ्	'तिप्' आदि 18	तिप्तस्झिसिप्थस्थ-मिब्वस् मस्ताताम् झथासाथाम् ध्वमिड्व-हिमहिङ् (अष्टा० 3.4.78)
4. प्रातिपदिकप्रत्यय		
(क) सुप्	सु आदि 21	स्वौजसमौट्छष्टाभ्यां-भिस्ङेभ्यां भ्यस्ङसि-भ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्यो-स्सुप् (अष्टा० 4.1.2)
(ख) स्त्रीप्रत्यय	टाप् आदि 'स्त्री' अधिकार में पठित।	'स्त्रियाम्' (4.1.3-77)
(ग) तद्धित	'तद्धित' अधिकार में पठित 'अण्' आदि।	तद्धिता : (4.1.76) से (5.4.160) तक।

9.19. संघटक के नाम से संघटन या समुच्चय की संज्ञाओं का वर्गीकृत विवरण निम्नलिखित है :

(1) रूपग्रामीय समुच्चय

रूपग्राम प्रकृति, प्रत्यय, पद या पदों का समूह आदि (वाक्य या समास) आदि सार्थक इकाइयों के रूपों में होता है। पाणिनीय रीति से पद तो अनिवार्य रूप से समुच्चित रूपग्राम होता है।[1] पदसमूह स्वभावतः समुच्चय है। प्रत्यय रूपग्राम सार्थक इकाइयों का समुच्चय तो नहीं होते परन्तु पाणिनीय व्याकरण में व्याकरणिक कार्यों की दृष्टि से उनके भिन्न समुच्चय करने को उनके आगे-पीछे तथा मध्य में अनुबंध (इत्) जोड़ दिये गये हैं। ये 'इत्' प्रत्यय के कोई वास्तविक अवयव नहीं होते।[2] उनको अवयव-सा मानकर केवल प्रत्ययों की समुच्चयात्मक

1. सुप्तिङन्तं पदम् (अष्टा० 1.4.14)
2. अनेकान्ता अनुबन्धा (परिभा०, पृ० 16)

संज्ञाएं कर ली जाती हैं; यथा टित् शित् आदि। इन संज्ञाओं का उद्देश्य रूपग्राम (प्रकृति) का संरचना के अग्रिम स्तर पर गुण, वृद्धि, सम्प्रसारण आदि रूपध्वनिग्राम द्वारा प्रतिनिधान[1] करना होता है।

अस्तु, रूपग्रामीय समुच्चय संज्ञाओं में समास संज्ञाओं पर पर्याप्त कहा जा चुका है (9.11)। अनुबन्धमूलक संज्ञाओं का परिचय 'अनुबन्धयोजना' की तालिकाओं में (7.10-19) देखा जा सकता है। शेष संज्ञाओं के लिए सूत्र-निर्देश सहित तालिका प्रस्तुत है—

(1) रूपग्रामीय समुच्चय-संज्ञाएं (अवयव द्वारा अवयवी की संज्ञाएं)

संज्ञा	अवयव	संज्ञा-सूत्र	विवरण
धातु (व्युत्पन्न)	'सन्' आदि	सनाद्यन्ता धातवः (3.1.32)	देखिए (3.1.2)
प्रातिपदिक, (व्युत्पन्न)	कृत् तद्धित	कृत्तद्धितसमासाश्च (1.2.46)	कृदन्त, तद्धितान्त और समास की प्रातिपदिक संज्ञा।
पद	सुप्, तिङ्	सुप्तिङन्तं पदम् (1.4.14)	सुवन्त, तिङन्त से भिन्न 'पद' को देखें
उपसर्जन	प्रथमा विभक्ति	प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्[2]	समासकारक सूत्र में प्रथमान्त पद से

1. अनुबन्ध स्वयं रूपग्राम का प्रतिनिधान नहीं करते अपितु वर्गीकरण करते हैं। अतः वे रूपध्वनिग्राम नहीं हैं। वे रूपग्राम भी नहीं क्योंकि न तो वे कोई संरचनात्मक इकाई हैं और न उनका ही होता है। गुण-वृद्धि आदि प्रतिनिधान वस्तुतः अनुबन्धों का नहीं तद्घटित रूपग्राम का है। अतः यह कहना कि अनुबन्ध रूपग्रामीय तथा रूपध्वनिग्रामीय दोनों ही स्तर रखता है, ठीक नहीं है। अनुबन्ध का कोई स्तर ही नहीं है। स्तर केवल उस इकाई का है जिसे ये वर्गीकृत करते हैं। ऐसे वर्ग रूपग्राम, रूपध्वनिग्राम (आगम, आदेश) किसी भी रूप में हो सकते हैं।

तुलना कीजिए—डा० वि० नि० मिश्र, 'दि डेस्क्रिप्टिव टेकनीक आफ पाणिनि', पृ० 95.

2. ध्यातव्य है, कि पाणिनि 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' (अष्टा० 1.2.57) से 'उपसर्जन' को अपरिभाष्य घोषित कर चुका है। यहां उसी 'उपसर्जन' को दो रूपों में परिभाषित कर दोहरा कार्य लेने जा रहा है। परन्तु उसे यह करना आसान है। पाणिनीय संज्ञाएं संरचनात्मक उपयोग के लिए हैं। उनके पीछे अर्थ की धारणा नहीं है। यही कारण है कि एक ही 'उपसर्जन' शब्द को दो रूपों में परिभाषित कर प्रत्येक को नियत संरचनात्मक वृत्त में घूमने को विवश कर दिया। वस्तुतः पाणिनि का कालोपसर्जन आदि को 'अशिष्य' घोषित करना संरचनात्मक भाषाविज्ञान की दृष्टि से है।

		(1.2.43)	उपलक्षित समास-वाक्य का पद 'उपसर्जन' होता है।
उपसर्जन	एक विभक्ति	एक विभक्ति चाऽपूर्वनिपाते (1.2.44)	इस सूत्र में 'एक' शब्द नियतार्थ में है। समास-वाक्य में जो पद नियत-विभक्तिक हो वह 'उपसर्जन' कहलाता है परन्तु उसका पूर्व प्रयोग नहीं होता।
अङ्ग	परप्रत्यय	यस्मात् प्रत्यय-विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (1.1.13)	स्वविहित प्रत्यय परे रहते पूर्व 'अङ्ग' संज्ञा होता है।
विभाषा[1]	'न वा'	न वेति विभाषा (1.1.44)	निषेध और विकल्प की विभाषा संज्ञा होती है।

(2) ध्वनिग्रामीय समुच्चय-संज्ञाएं (वर्णसमुदाय संज्ञाएं)[2]

संज्ञा	घटक	संज्ञा-सूत्र	विवरण
संयोग	द् ध् न् आदि	हलोऽनन्तराः संयोगः (1.1.7)	स्वर के व्यवधान से रहित हल् समु-

1. विभाषा संज्ञा वस्तुतः 'न वा' का समुच्चय न होकर इनके अर्थ का समुच्चय है। 'इति-करणोऽर्थनिर्देशार्थः'—काशिका (अष्टा० 1.1.44)। साथ ही, पाणिनि ने 'विभाषा' के अर्थ में अनेक विलल्पसूचक शब्दों का प्रयोग किया है, यथा, उभयथा, एकेषां, अन्यतरस्याम्, आचार्याणाम् आदि। अत एव कात्यायन ने 'न वेति विभाषा' को अनावश्यक बताया गया है—'अशिष्यो वाविदितत्वात्' वा० 248 (अष्टा० 1.1.44)।
2. पाणिनि ने कुछ सांकेतिक आक्षरसमुदाय-संज्ञाएं की हैं जो 'एकाच्' द्वयच्, बहुवच्, अनेकाच् आदि रूप में हैं। ये तदक्षरघटित शब्द की बोधक होती हैं। देखिए—
(क) एकाचो द्वे प्रथमस्य (अष्टा० 6.1.1), (ख) द्वयचः (अष्टा० 4.1.121) (ग) बहुवचः कूपेषु (अष्टा० 4.2.73) (घ) एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य इस प्रकार वर्णसमुदाय भी हैं; यथा 'एकाल्', 'अनेकाल्' आदि।

			दाय 'संयोग' कहलाता है।
संहिता[1]	ध्वनि-सङ्घात	परः सन्निकर्षः संहिता (2.1.109)	वर्णों का अतिशय प्रवाहमय उच्चरित समुदाय।
टि	अन्त्याच्	अचोऽन्त्यादि टि (1.1.64)	अन्त्याच् अथवा तद्घटित समुदाय 'टि' होता है।

9.20. प्रतिनिधि के रूप में प्रतिनिधेय की संज्ञाओं की तालिका देने से पूर्व यथार्थ स्थिति का विवेचन अपेक्षित है। यहां हमें वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के 'शब्द-नित्यता' के सिद्धान्त को ध्यान में रखना आवश्यक है। हम जानते हैं कि व्याकरणकार भाषा का स्रष्टा नहीं, अपितु द्रष्टा है। जैसी संरचनात्मक समताएं विषमताएं शब्दकुल में देखता है, वैसा ही शब्दों का वर्गीकरण कर लेता है। प्रत्येक वर्ग में संरचना के 'स्तर' विश्लेषित करता है। उसके इस सारे प्रयोगात्मक दौर में एक ही उपादान अन्तिम सत्य है—और वह भाषा (शब्द) का पहले से स्थिर रूप। स्थिर शब्दरूपों में अन्वय-व्यतिरेक से अवयव-कल्पना असत्य और अर्थहीन उपादान-योजना है। शास्त्रकार द्वारा कल्पित अवयव स्वतंत्र रूप से कोई अर्थबोध नहीं कराते। उनका वह 'अर्थ' है जो शास्त्रकार अपने प्रयोगात्मक परीक्षण से उन्हें नियत करता है। इसे भाषा-वैज्ञानिक इकाई का 'भाषावैज्ञानिक अर्थ' कहा जा सकता है। अपने प्रयोगात्मक परीक्षण से विखण्डन किए गये उपादानों को जब वह क्रमिक संयोजन-प्रक्रिया से गुज़ारता है तो उसकी इस प्रयोगशाला का प्रत्येक उपादान अपने से आगे के स्तर पर अन्य उपादान से प्रतिनिधान पाता है। यह क्रम तब तक चलता है जब तक उपादानों का संयोजन उसी पूर्व स्थिर इकाई के रूप में व्यक्त न हो जाय। यह प्रक्रिया कृत्रिम होने से कभी-कभी कृत्रिम स्तर और कृत्रिम उपादान भी अपनाती है परन्तु वे क्षणिक होते हैं। अगले ही क्षण वे वास्तविक उपादान (जोकि पूर्व में ही था) से प्रतिनिधान पाते हैं।[2]

1. संहितैक पदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
   नित्या समासे वाक्ये सा विवक्षामपेक्षते॥
2. वाक्य०, कां० 2 कारिका 240 :
   'उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानां चोपलालनाः।
   असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥"

अस्तु, उपादान कृत्रिम हों या अकृत्रि शास्त्रकार की दृष्टि से पूर्ववर्ती उपादान से भावी उपादान अपने स्तर पर पूर्वस्थिर हैं। उसे तो केवल 'स्थान्यादेश' रीति से संरचना-क्रम दिखा देना है। वह स्वयं इन उपादानों के स्थान्यादेश सम्बन्धों का निर्धारक है। अत: जानता है कि किस उपादान का स्थान कौनसा उपादान लेने जा रहा है; या आने वाले उपादान को किस संज्ञा से बुलाना है।

संरचना के अग्रिम स्तर पर आने वाले उपादान (संज्ञी) की संज्ञाओं को महाभाष्यकार ने 'भाविनी संज्ञा'[1] कहा है। इस भाविनी संज्ञा का आधार 'शब्दनित्यतावाद'[2] है। जिसके अनुसार कोई भी 'ध्वनि' या 'ध्वनिसंघात' न नष्ट होता है और न दूसरे को नष्ट करता है अपितु प्रक्रियात्मक दृष्टि से यथायोग अपने पूर्ववर्ती का प्रतिनिधान करता है। भाषाविज्ञान के अध्येता की यह भ्रान्ति ही होगी, यदि वह शब्द-संरचना की प्रक्रिया में वर्णित तत्तद स्तरों के आदेशन (Alternation) को तात्विक ध्वनि-विकार समझता है। यहां परिणाम नहीं होता प्रति-निधान होता है। भारतीय शाब्दिक इस 'प्रतिनिधान-सिद्धान्त' के पारदृश्वा रहे हैं। आज के भाषाविज्ञान में भी यह सिद्धान्त अपनी जड़ जमा चुका है।[3]

9.21. भाविनी संज्ञाओं का वर्गीकरण (प्रतिनिधि द्वारा प्रतिनिधेय-संज्ञा)

'भाविनी' संज्ञाओं को निम्न वर्गों[4] में समझा जाना चाहिए :

(1) **अर्थग्रामीय संज्ञाएं** : इस वर्ग में उन अर्थात्मक संधारणाओं को लिया

---

1. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 7, पृ० 253, इग्यणः सम्प्रसारणम् (अष्टा० 1.1.45)। इसका भाष्य करते हुए पतञ्जलि ने यण् के स्थान पर आने वाले 'इक्' को विना अस्तित्व में आये 'सम्प्रसारण' संज्ञा कैसे दी गई? यह पूर्वपक्ष करते हुए समाधान किया है—एवं तर्हि भाविनीयं संज्ञा विज्ञास्यते।...एवमिहापि स यणः स्थाने भवति यस्यभिनिर्वृतस्य सम्प्रसारणमित्येषा संज्ञा भविष्यति।'
2. कात्यायन, वा०, 68-69 (अष्टा० 1.1.1) 'सतो वृद्ध्यादिषु संज्ञाभावाचदान्वय इतरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः' तथा 'सिद्धन्तु नित्यशब्दत्वात्'।
3. V. N. Mishra, The Descriptive Technique of Panini, p. 95 : "The substitution is actually representation by some element at the next lower stratum..."
4. अनेकों भाविनी संज्ञाएं वे होती हैं जिन्हें शास्त्रकार सूत्रों में 'संज्ञा-संज्ञी के रूप में उल्लेख नहीं करता, अपितु उसकी 'स्थान्यादेश' रीति से उन्हें समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, हम 'लट्' को 'वर्तमान' नाम से जानते है, केवल इसीलिए कि पाणिनीय रीति से 'वर्तमान' जो कि संरचना के प्रथम स्तर (अर्थग्रामीय स्तर) का उपादान है, अगले स्तर पर 'लट्' द्वारा आदेशित होने जा रहा है। वस्तुतः इन संज्ञाओं का विवेचद भाषा-संरचना के स्तरों की क्रमिक शृंखला तथा उसके उपादानों का वर्गीकरण ही है।

जा सकता है जिन्हें सूचित करने को शास्त्रकार रूपग्रामीय स्तर पर किसी प्रकृति या प्रत्यय (रूपग्राम) का विधान करता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रातिपदिक तथा धातु दोनों वर्ग की प्रकृति के अर्थ परिभाषित नहीं किए गए हैं। तथापि 'धातुपाठ' में जैसाकि आजकल 'भू' संज्ञायाम् आदि रूप से निर्देश मिलता है, 'संज्ञा' आदि अर्थ वे अर्थग्रामीय संज्ञाएं हैं जिनका 'भवति' आदि रूपों की संरचना के रूप-ग्रामीय स्तर पर 'भू' आदि रूपग्राम प्रतिनिधान करते हैं। जैसा कि अनेकशः स्पष्ट किया गया है कि संरचनात्मक व्याकरण 'अर्थ' को उतना ही महत्त्व देता है जितने अंश में रूपसंरचना का भेद स्पष्ट करने में उसका योग होता है, अन्यथा उसे लोकव्यवहार पर छोड़ता है। पाणिनीय व्याकरण में, जिसने उक्त कारण से अर्थनिरपेक्ष और अर्थसापेक्ष दोनों विधाएं[1] अपनायी हैं, अनेक अर्थग्रामों का उल्लेख मिलता है; जैसे :

(क) **कर्तृ-कर्म-भाव** : ये वे अर्थग्राम हैं जिनका रूपग्रामीय स्तर पर 'लकार' (तिङ्) तथा 'कृत्' प्रत्ययों द्वारा प्रतिनिधान बताया गया है।[2]

(ख) **वर्तमानादि काल विध्यादि अर्थ तथा अर्थात्मक धारणाएं** : ये भी अर्थग्रामीय स्तर को वे संज्ञाएं हैं जो तत्तत् लकारप्रत्ययों से रूपग्रामीय स्तर पर प्रतिनिहित होती हैं।

(ग) **कारक संज्ञाएं** : कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, तथा अधिकरण क्रिया तथा तज्जनक के सम्बन्ध की अर्थग्रामीय संज्ञाएं हैं जिन्हें रूपग्रामीय स्तर पर द्वितीयादि कारक विभक्तियां प्रतिनिहित करती हैं।[3]

(घ) **वाक्यात्मक अर्थग्राम** : सूक्ष्म दृष्टि से तो ध्वनिसङ्घातरूप वाक्य भी स्ववाच्य अर्थ का प्रतिनिधि ही होता है। तथापि संरचना-क्रम की दृष्टि से उसे 'कृत्' 'समास' तथा 'तद्धित', 'एकशेष', 'सनाद्यन्त' आदि रूपग्रामों से पूर्वस्तर

1. V. N. Mishra, The Descriptive Technique of Panini, p. 111. "Panini intuitionally, without the modern equipment of mathematical modelling, evolved a system of description which (1) is independent of consideration of meaning as a factor in description of forms, (2) is based on sets and subsets as explained in the earlier chapter, and (3) is binary."
2. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (अष्टा० 3.4.69), कर्त्तरि कृत् (अष्टा० 3.4.67)
3. अर्थग्राम तथा रूपग्राम का समानान्तरण संरचना-विश्लेषण का एक वैशिष्ट्य है। सिद्धान्ततः एक अर्थग्राम का अभिधान एक ही रूपग्राम-प्रतिनिधि से होना चाहिए। अतएव कारक-विशेषात्मक अर्थग्राम जहां किसी रूपग्राम से अभिहित हो जाता है, वहां उसका प्रतिनिधान करने को द्वितीयादि विभक्ति रूपग्राम नहीं आते। देखिए—'अनभिहिते' (अष्टा०2.3.1)

पर 'अर्थग्राम' ही माना जायगा, क्योंकि अग्रिम स्तर पर उसका प्रतिनिधान उक्त रूपग्रामों से यथायोग होता है।[1]

अर्थग्रामीय संज्ञाओं का उपर्युक्त प्रस्तुतीकरण प्रकृत में दिशा-निर्देशन हेतु पर्याप्त है। वैसे अष्टाध्यायी में चुन-चुन कर निकालने में रूपग्रामों की संख्या में ही अर्थग्राम होंगे।

(2) **रूपग्रामीय संज्ञाएं** : अर्थग्रामीय संज्ञाओं के विवेचन में जिन प्रातिपदिक, धातु सुप्, तिङ्, कृत्, तद्धित, समास, एकशेष, सनाद्यन्त संज्ञाओं की चर्चा की गई है कि वे सभी रूपग्राम हैं, जिनका प्रतिनिधित्व अग्रिम संरचना-स्तर पर रूपध्वनिग्रामों से होता है। पाणिनि ने 'भाविनी' संज्ञा शैली को रूपग्रामीय-स्तर पर कम अपनाया है। इनमें उसने सदस्य द्वारा समुच्चय की संज्ञा संघटक द्वारा समुच्चयसंज्ञा, संघटन की संज्ञा करने की शैली को ही प्रमुखता दी है। 'भाविनी' संज्ञा शैली को उसने रूपध्वनिग्रामीय संज्ञा तक सीमित रखा है। इसका कारण भी समझा जा सकता है। रूपध्वनिग्राम[2] रूपग्राम के किसी एकदेश में ध्वन्यादि-परिवर्तन का रूपग्रामीय तथा ध्वनिग्रामीय स्तर के मध्यस्तर का अमूर्त्त रूप हैं जोकि अग्रिम स्तर पर ध्वनितत्व के रूप में प्रगट होता है। एकदेशी प्रतिनिधित्व करने वाले रूपध्वनिग्राम के साथ रूपग्राम का 'भाविनी संज्ञा' द्वारा तादात्म्य वैसा तर्कसंगत नहीं जैसाकि रूपध्वनिग्राम का ध्वनिग्राम के साथ। उदाहरण के लिए गुण, वृद्धि-सम्प्रसारण आदि रूपध्वनिग्रामों का अपने संज्ञियों (प्रतिनिधियों) से पूरा तादात्म्य या अभेद है; किन्तु 'मृजेर्वृद्धिः' (अष्टा० 7.2 114) आदि स्थलों में 'मृज्' का और 'वृद्धि' का तादात्म्य नहीं केवल अवयवावयीवसम्बन्ध सा बनता है। अतः जैसे प्रतिनिधि 'आदेच्' को वृद्धि नाम दिया गया है वैसे वृद्धि को 'मृज' नाम नहीं दिया जा सकता।

(3) **रूपध्वनिग्रामीय प्रतिनिधेय संज्ञाएं** : इन्हें तालिका में सूत्र-निर्देश सहित दिया गया है—

---

1. सि० कौ०, पृ० 260, सर्वसमासशेषप्रकरणम्, कृत्तद्धितसमासशेषसनाद्यन्तरूपाः पञ्चवृत्तयः। परार्थाभिधानं वृत्तिः। वृत्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः।
2. Robert A. Hall, Jr. 'Introductory Linguistics', p. 138 : "An alternation of phonemes within a given morpheme bridges the gap between the morphological and the phonemic levels, and hence is called 'morphophonemic.'"

रूपध्वनिग्रामीय संज्ञाएं

संज्ञा	संज्ञा-सूत्र	विवरण
वृद्धि	वृद्धिरादैच् (अष्टा० 1.1.1)	
गुण	अदेङ् गुण : (अष्टा० 1.1.2)	
सवर्ण	तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम् (अष्टा० 1.1.9)	
प्रगृह्य	ईदुदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् (अष्टा० 1.1.11)	विशेष सन्दर्भों में 'प्रगृह्य-संज्ञा' को देखिए (अष्टा० 1.1.12-19)
सम्प्रसारण	इग्यणः सम्प्रसारणम् (अष्टा० 1.1.45)	
लोप	अदर्शनं लोपः (अष्टा० 1.1.60)	
अण्	अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः (अष्टा० 1.1.69)	अण् = अच् और यण् उदित् = कु, चु, टु, तु, पु
तपर	तपरस्तत्कालस्य (अष्टा० 1.1.70)	पाणिनि ने 1.1.90 द्वारा कथित 'अण्' की सवर्ण-बोधकता का संकोच कर दिया। अष्टा० सूत्रों में अच् वर्णों के साथ (पूर्व या पश्चात्) जहां 'त्' जोड़ा गया है, वहां उन्हें 'तपर' नाम से जाना जाता है तथा वे केवल सूत्र में पठित 'तत्काल' मात्र का बोध कराते हैं अपने सवर्णभेदों का नहीं।

(4) **ध्वनिग्रामीय प्रतिनिधेय संज्ञाएं** : ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि वे ध्वनिग्रामीय संज्ञाएं हैं जिनका प्रतिनिधित्व शब्दोच्चारण में 'ध्वनि' के वस्तुरूप से प्रतिनिधित्व पाता है। ये संज्ञाएं सूत्रोल्लेख सहित तालिका में दी गई हैं :

ध्वनि-ग्रामीय संज्ञाएं

अनुनासिक	मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (1.1.8)	ङ् आदि
ह्रस्व	ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (1.2.27)	अ आदि
दीर्घ	,,	आ आदि
प्लुत	,,	आ इ आदि
उदात्त	उच्चैरुदात्तः (1.2.29)	उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तीनों स्वरभेद 'बलाघात' या 'स्वराघात' के भेद हैं जो संस्कृत भाषा में अति प्राचीन रूप में अर्थ की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण थे।[1]
अनुदात्त	नीचैरनुदात्तः (1.2.30)	
स्वरितः	समाहारः स्वरितः (1.2.31)	
एकश्रुति	एकश्रुतिदूरात्सम्बुद्धो (1.2.33)	उदात्तादि त्रैस्वर्य का अभेद 'एकश्रुति' बताया गया है।
अवसान	विरामोऽवसानम् (1.4.110)	
अभ्यास	पूर्वोऽभ्यासः (6.1.4)	द्वित्व की गई धातु का पूर्व भाग अभ्यास होता है।
आम्रेडितम्	तस्य पारमाम्रेडितम् (8.1.1)	सन्दर्भ-विशेषों में द्वित्व किए नामिक पदों की आम्रेडित संज्ञा होती है।

9.22. डा० वि० नि० मिश्र ने इस सन्दर्भ में जो कुछ विवेचन किया है उसे केवल स्तरभेद पर प्रतिनिधि भेद की दृष्टि से ही लेना होगा न कि 'संज्ञासंज्ञी' की दृष्टि से क्योंकि पाणिनि ने अर्थग्रामीय संज्ञाओं को परिभाषित नहीं किया है। इस अवसर पर डा० मिश्र का प्रयत्न पाणिनि द्वारा अपनाये गये संरचना-

1. 'उदात्तादि' का उच्चारणसम्बन्धी वस्तुरूप तथा अर्थ-बोध को प्रभावित करने की उसकी प्रक्रिया आज हाथ से निकल चुकी है। मम्मट के शब्दों में 'वेदे एव न काव्ये स्वरो विशेष-प्रतीतिकृत्' (काव्यप्रकाश, द्वि० उल्लास, का० 19)। पाणिनि ने भी जो स्वरनियम दिए हैं वे उसकी संरचनात्मक संज्ञा आदि के घेरे से बंधे हैं तथा पुरातन भाषा के तत्सन्दर्भों में स्वरों के नाम उल्लेख करने के अतिरिक्त अर्थदृष्टि से उनका महत्त्व निर्णीत नहीं कर पाते।

स्तरों, संरचना उपादानों (अर्थ प्रकृति-प्रत्यय) का आधुनिक भाषा विज्ञान की संरचनात्मक शब्दावली से समानान्तरण बैठाना लक्ष्य रहा है।[1] सन्देह नहीं कि इस अंश में उनकी उपलब्धि पाणिनीय विधा को अद्यतन भाषाविज्ञान के निकट ला देती है और नवीन अध्येता को पाणिनीय शास्त्र का अधुनातन वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करने की दिशा देती है। जहां तक अनुबन्धों के 'रूपध्वनिग्राम' के समानान्तर मानने का प्रश्न है डा० मिश्र यह तो स्वीकारते हैं कि अनुबन्ध रूप-ध्वनिग्रामीय स्तर पर रूपग्राम का प्रतिनिधित्व तो करते हैं, तथापि वे 'रूपध्वनि-ग्राम' नहीं कहे जा सकते। इसमें दो कठिनाइयां हैं— प्रथम अनुबन्धों की स्थिति रूपग्रामीय और रूपध्वनिग्रामीय दोनों स्तर पर हो जाती है जबकि कोई भी संरचनात्मक उपादान केवल एक स्तर पर ही हो सकता है। द्वितीय अगले स्तर पर इनका प्रतिनिधान 'ध्वनिग्राम' नहीं 'शून्य' (लोप) से होता है।[2] हमारा इस विषय में स्पष्ट मत है कि अनुबंध संरचना किसी भी स्तर पर किसी उपादान का साक्षात् या असाक्षात् प्रतिनिधित्व करते हैं और न उनका ही किसी संरचनात्मक स्तर पर कोई प्रतिनिधि बनता है। अनुबन्धों का 'लोप' के द्वारा प्रतिनिधित्व भी पाणिनीय रीति से संरचनात्मक स्तर पर नहीं अपितु 'उपदेश' अवस्था में ही समझा जाना है।[3] अतः अनुबन्धों का संरचना इकाई के रूप में माने जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

9.23. पूर्वपरयोग अथवा संरचनात्मक स्थितिमूलक संज्ञाएं

उपधा	'अलोऽन्त्यात्पूर्वउपधा'	
		(अष्टा० 1.1.65)
उपसर्ग	'उपसर्गाः क्रियायोगे'	
		(अष्टा० 1.4.59)
गति	'गतिश्च'	(अष्टा० 1.4.60) गतिसंज्ञा के सन्दर्भ अष्टा० 1.4.60 से 1.4.82 तक हैं।
समासान्तः	'समासान्ताः'	(अष्टा० 5.4.68)

9.24. संज्ञाओं के इस वर्ग में डा० मिश्र ने टित्, कित्, मित् को भी सम्मिलित कर लिया है जो तत्तत् आगम का संकेत होने से कोई असंगत नहीं है। किन्तु यहां थोड़ी असावधानी हुई लगती है। डा० मिश्र ने टित्, कित् संज्ञाओं के द्वारा

1. देखिए : V. N. Mishra, The Descriptive Technique of panini, p. 95
2. वही, पृ० 65
3. कैयट, प्रदीप (महा० अ० 1 पा० 1 आ० 4, पृ० 131 :
'अनुबन्धो न धात्वेकदेशः, यस्मादुपदेश एवेत्संज्ञा।'

होने वाला अवयवता नियम 'आगम' के वृत्त सेबाहर प्रत्यय तथा प्रत्ययादेश तक फैला दिया है जो वस्तुस्थिति के विपरीत है।[1] यहां वे न 'आचार्य शैली' का विचार कर पाये और न 'परश्च' (अष्टा० 3.1.2) के परत्व-नियम का। पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रत्ययपरत्वनियम का अपवाद कोई टित्, कित् प्रत्यय या उसका आदेश है, ऐसा नहीं लगता। 'मित्'-सामर्थ्य से 'श्नम्' तथा प्रत्यय-विधिसूत्र में स्पष्ट नियम से केवल दो प्रत्यय उक्त नियम के अपवाद हैं— 'बहुच्'[2] तथा 'अकच्'[3]।

9.25. निष्कर्ष

(क) पाणिनि-शास्त्र की सभी संज्ञाएं चाहे वे अन्वर्थ हैं या अनन्वर्थ 'कृत्रिम' हैं। उनका केवल संरचनात्मक महत्त्व है।

(ख) स्वशास्त्रोपयोगी संज्ञाओं की सारी शब्दावली उसने स्वयं निर्मित शास्त्रीय ताने-बाने से चुनी है।

(ग) लघु से लघु संज्ञा संरचना के विभिन्न स्तरों पर अपने बहुसंख्य संज्ञियों का सहज बोध कराती है। प्रत्येक संज्ञा एक समुच्चय का नाम है।

(घ) 'संज्ञा' निर्धारण के पीछे सूत्रकार की भाषावैज्ञानिक योजना है। उसकी संज्ञाएं संरचना के सभी स्तरों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

(ङ) अनुबन्ध का प्रयोग शुद्ध रूप से सांकेतिक है, अतः उसके संरचनात्मक उपादानों में परिगणन की आवश्यकता नहीं है।

(च) पाणिनीय संज्ञाओं की सबसे बड़ी विशेषता परम्परा-निर्वाह, अन्वर्थता, अर्थनियतता तथा सरलता है।[4]

---

1. V. N. Mishra, The Descriptive Technique of panini, p. 100
2. विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु (अष्टा० 5.3.68)
3. अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः (अष्टा० 5.3.71)
4. S. D. Laddu, "Evolving a technical terminology for descriptive grammars," Indian Antiquary, Vol. V, April 1971, p. 83.

अध्याय 10

परिभाषाएं और नियम-सूत्र

विधिसूत्र की प्रवृत्ति में आने वाली अव्यवस्था को दूर करने में सहायक होने से परिभाषा को भी सामान्यत: 'नियम'[1] नाम दे दिया जाता है। अत: यहां इन दोनों का सूक्ष्म भेद जान लेना उचित होगा।

10.1. परिभाषा और नियम का अन्तर

परिभाषा-सूत्र वस्तुत: कोई स्वतन्त्र विधि नहीं करता। वह तो विधि-सूत्र का अंग होता है। उसके द्वारा विधि-सूत्र को समर्पित किया गया 'पद' या 'अर्थ' उसे अभीष्ट लक्ष्य में प्रवृत्त करता है अनभीष्ट से रोक देता है। उसका नियमत्व इतना ही है कि वह न हो तो अनिष्ट स्थल में 'विधि' की प्रवृत्ति हो जाय।[2] इसके विपरीत नियम-सूत्र सामान्य विधि के उद्देश्यता-विषय में अनावश्यक विधि के रूप में अवतीर्ण होता है। अर्थात् जो कार्य सामान्यविधि द्वारा सहज हो सकता है उसे सम्पन्न करने को शास्त्रकार का यह अतिरिक्त प्रयत्न होता है।[3] ऐसा प्रयत्न विध्यंश में निष्प्रयोजन होने से यह सूचित करता है कि शास्त्रकार सामान्यविधि के उद्देश्यता-विषय को सीमित करना चाहता है। अतएव नियम-

---

1. कात्यायन—महा० अ० 1 पा० 1 आ० 9, पृ० 361, वा० 376 : 'तस्मिंश्तस्मादिति पूर्वोत्तरयोर्योगाविशेषान्नियमार्थं वचनं दध्युदकं पचत्योदनम्।'
2. देखिए तस्मिन्निति, तस्मादिति (अष्टा० 1.1 66-67) पर नागेश, लघु० शेखर, 'परिभाषाणां नियमत्वं तु यदि परिभाषासूत्रं न स्यात्तदा व्यवहितादावपि प्रवृत्तिः स्यादित्येतावतेति दिक्'।
3. शेषवेंकटाचल शास्त्री, लघुत्रिमुनिकल्पतरु, पृ० 4 : 'पक्षप्राप्तानुवादको विधिः-नियमविधिः।'

सूत्र को 'संकोच विधायक' सूत्र कहा जाता है।[1] नियमसूत्र द्वारा किये जाने वाले संकोच का यह अर्थ नहीं होता कि सामान्य या व्यापक विधि की उद्देश्यता को 'नियमसूत्र' की 'उद्देश्यता' को सीमित कर दिया गया। ऐसा मानने से तो सामान्यविधि की सर्वथा निरर्थकता हो जायगी और स्पष्टतः एक 'उद्देश्य' के लिए दो-दो सूत्रों की रचना उपहासास्पद लगेगी। अतः नियमसूत्र सामान्य-सूत्र की उद्देश्यता के अन्तर्गत आने वाली तथा स्वयं की उद्देश्यता से व्यापक उद्देश्यता में सामान्य-सूत्र की प्रवृत्ति को रोकता है। मीमांसा शास्त्र ऐसे नियम को परिसंख्याविधि कहता है।[2] संक्षेप में कहना होगा कि नियमसूत्र अपनी प्रवृत्ति के सन्दर्भ में सामान्य-विधि को वहीं केन्द्रित कर लेता है; अन्य प्रवृत्ति-सन्दर्भ में वह काम करता है तो करे। 'संयोगान्तस्यलोपः' (अष्टा० 8.2.23) सूत्र सामान्यतः पद के 'संयोगान्त' का लोप करता है। इसी सन्दर्भ में पाणिनि 'रात्सस्य' (अष्टा० 8.2.24) से रेफ से परे 'स्' के संयोगान्तलोप का विधान करता है। यह एक अतिरिक्त और व्यर्थ प्रयत्न सूचित करता है कि 'संयोगान्त' लोप के अन्तर्गत रेफ से परे जो भी 'लोप' संभव है उनमें केवल 'स्' का ही लोप हो अन्य का नहीं। फलतः रेफ से परे अन्य हल का संयोगान्त लोप नहीं होता; जैसे 'ऊर्क्' में 'क्' का लोप नहीं होता। अन्य संयोगान्त लोपों को यह नहीं रोकता।

10.2. पाणिनीय और अपाणिनीय परिभाषाएं

विधिसूत्रों का लाघव तथा उनके अर्थ की निःसंदिग्धता एवं पूर्णता पाणिनि का लक्ष्य था। इसके लिए जो भी तकनीकी सूत्र आवश्यक थे, उसने अष्टाध्यायी में ग्रथित कर दिये। ये पाणिनीय परिभाषाएं कहलाते हैं। विधि-सम्बन्धी अनेकों ऐसे सामान्य नियम भी हैं जिन्हें उसने शास्त्र में सूत्रों के रूप में स्थान नहीं दिया अपितु अध्येता के सामान्य ज्ञान पर छोड़ दिया तथा यह अवसर दिया कि अत्यावश्यक होने पर वे शास्त्रकार के सूत्र-व्यवहार से कुछ निष्कर्ष प्राप्त कर लें। पाणिनीय सूत्र-शास्त्र के व्याख्याताओं ने लौकिक न्याय तथा पाणिनि के सूत्र-व्यवहार से अनेक परिभाषा नियम बनाये हैं। ऐसे नियम कात्यायन वार्तिकों और महाभाष्य में तत्तत् सन्दर्भों में उल्लिखित हैं। इनका कर्त्ता स्वयं पाणिनि

1. मनोरमा, पृ० 168. प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (अष्टा० 1.1.62) पर सभापति शर्मोपाध्याय की टिप्पणी, 'नियमस्थले व्यर्थीभूतशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकम्, व्यर्थताप्रयोजकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं यद्रूपं तद्रूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन व्यर्थताप्रयोजकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्ने सङ्कोचो जायते।'

2. शेषवेंकटाचल शास्त्री, लघुत्रिमुनिकल्पतरु, पृ० 4 : 'इतरव्यावृत्तिफलको विधिः परिसंख्याविधि :।'

नहीं, केवल इस अर्थ में ये अपाणिनीय हैं। वैसे व्याख्याकारों ने यथासम्भव इन्हें पाणिनि सूत्र-व्यवहार का अनुमोदन दिया है। अस्तु, आज पाणिनि सूत्रशास्त्र का अनिवार्य अंग बन जाने से ये परिभाषाएं भी बहुत महत्त्व पा गई हैं। ऐसी परिभाषाओं का संग्रह[1] नागेश ने अपने 'परिभाषेन्दु शेखर' ग्रन्थ में किया है।

10.3. पाणिनीय परिभाषा का कार्यमूलक वर्गीकरण

व्याकरणिक कार्य की दृष्टि से पाणिनीय परिभाषा-सूत्रों का विभाजन निम्न वर्गों में कर सकते हैं :

(1) सूत्र-घटक पदों की विभक्तियों का अभिप्रायविशेष में विनियोजन करने वाली परिभाषाएं :

(क) षष्ठी स्थाने योगा (अष्टा० 1.1.49)
(क) तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (अष्टा० 1.1.66)
(ग) तस्मादित्युत्तरस्य (अष्टा० 1.1.67)
(घ) प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (अष्टा० 1.2.43)[2]
(ङ) तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (अष्टा० 3.1.92)[3]

(2) 'स्थानि' नियमार्थ परिभाषाएं :

(क) इको गुणवृद्धी (अष्टा० 1.1.3)
(ख) अलोऽन्त्यस्य (अष्टा० 1.1.52)
(ग) ङिच्च (अष्टा० 1.1.53)
(घ) आदेः परस्य (अष्टा० 1.1.54)
(ङ) अनेकाल्शित्सर्वस्य (अष्टा० 1.1.55)

(3) आदेशनियमार्थ

(क) एच इग्ह्रस्वादेशे (अष्टा० 1.1.48)
(ख) स्थानेऽन्तरतमः (अष्टा० 1.1.50)
(ग) उरण्रपरः (अष्टा० 1.1.51)

---

1. नागेश—परिभा०, पृ० 3 : 'प्राचीन वैयाकरणतन्त्रे वाचनिकान्यत्र पाणिनीय तन्त्रे ज्ञापकन्यायसिद्धानि भाष्यवार्तिकयोरुपनिबद्धानि यानि परिभाषारूपाणि तानि व्याख्यायन्ते।'

2. यह सूत्र यद्यपि 'उपसर्जन' संज्ञा करता है किन्तु इसका लक्ष्योपयोगी वाक्यार्थबोध स्वयं में पूर्ण नहीं हो पाता। समास-विधायक सूत्रों में 'प्रथमान्त' पद इसका 'प्रवृत्ति-लिंग' है। समास-सूत्र के प्रथमान्त पद से उपलक्षित विग्रह-वाक्स्थ पद की 'उपसर्जन' संज्ञा होती है।

3. सूत्र में 'तत्र' पद से 'धातोः' (अष्टा० 3.1.92) अधिकार लिया गया है।

(घ) तस्य लोपः[1] (अष्टा० 1.3.9)
(ङ) यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (अष्टा० 1.3.10)

(4) आगम-अवयवता नियामक परिभाषाएं :

(क) आद्यन्तौ टकितौ (अष्टा० 1.1.46)
(ख) मिदचोऽन्त्यात्परः (अष्टा० 1.1.47)

(5) प्रतीकप्रत्ययस्थानिक आदेश-नियामक[2]

(क) युवोरनाकौ (अष्टा० 7.1.1)
(ख) आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् (अष्टा० 7.1.2)
(ग) झोऽन्तः (अष्टा० 7.1.3)
(घ) अदभ्यस्तात् (अष्टा० 7.1.4)
(ङ) आत्मनेपदेस्वनतः (अष्टा० 7.1.5)
(च) ठस्येकः (अष्टा० 7.3.50)
(ज) इसुसुक्तान्तात् कः (अष्टा० 7.1.51)

(6) प्रत्ययोद्देश्यता निर्णायक[3]

(क) धातोः (अष्टा० 3.1.91)
(ख) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (अष्टा० 4.1.1)
(ग) समर्थानां प्रथमाद्वा (अष्टा० 4.1.82)

(7) समासादिवृत्तिनिर्णायक

(क) समर्थः पदविधिः[4] (अष्टा० 2.1.1)
(ख) विभाषा (अष्टा० 2.2.11)

---

1. यह सूत्र यद्यपि 'इत्' के स्थान में लोप-विधि करता है तथापि यह 'लोप'-शून्य रूपग्राम की भांति कोई सार्थकता नहीं रखता। अतः यह 'विधि' न होकर परिभाषा ही है, जिसका आशय 'इत्' को जन्मतः (उपदेश में ही) लुप्त बताना है। (देखिए कैयट, 'प्रदीप' न धातुलोप आर्धधातुके (अष्टा० 1.2.4) पर 'उपदेश एवेत्संज्ञा।'

2. निर्दिष्ट सूत्र यद्यपि अष्टा० के विधि काण्ड में हैं परन्तु तत्तत्प्रतीक प्रत्यय के विधायक सूत्रों में 'एकवाक्यता' पाकर प्रत्ययों को संरचना के अगले स्तर पर वस्तुरूप देते हैं। अतः आदेश विधि करने पर भी परिभाषा जैसा काम करते हैं।

3. ये सूत्र अधिकारत्वेन परिभाषा का कार्य करते हैं।

4. यह परिभाषा भाषावैज्ञानिक सिद्धान्त देती है। इसके अनुसार जो भी संरचनात्मक इकाई (विशेष रूप से सार्थक प्रकृति-प्रत्यय, समुदाय, पदसमुदाय) अगले स्तर पर पूर्व स्तर की इकाई का प्रतिनिधित्व करती है उसमें परार्थाभिधान-सामर्थ्य स्वतः सिद्ध है। (देखिए, सि० कौ०, पृ० 260)

(8) सूत्रों के 'बलाबल' या प्रवृत्ति-क्षेत्र की नियामक

(क) आकडारादेकासंज्ञा (1.4.1)

(ख) विप्रतिषेधे परंकार्यम् (1.4.2)

(ग) स्वरितेनाधिकार: (1.3.11)

(घ) वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (3.1.94)

(ङ) अनुदात्तंपदमेकवर्जम्[1] (6.1.158)

10.4. उपर्युक्त वर्गीकृत परिभाषाओं में अनेक परिभाषाएं स्वतोव्याख्यात हैं। किन्तु कुछ परिभाषाएं अपने अर्थ तथा विधि-सूत्र में उपयोग की दृष्टि से अधिक तकनीकी हैं। अष्टाध्यायी के अध्येता को उनके अर्थ एवं प्रयोग में सतर्क दृष्टि अपनाने की आवश्यकता है। 5.11 के अन्तर्गत परिभाषा के समुच्चित 'लिङ्गज्ञान' की आवश्यकता पर बल दिया गया है। परिभाषा-प्रवृत्ति का लिङ्ग-ज्ञान परिभाषा-सूत्रों के विभक्तिमूलक ऊपरी अर्थ कर लेने से कदापि सम्भव नहीं है। सूत्रकार के प्रत्येक यत्न के पीछे जो अभिप्राय छिपा है उसे यथायोग स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है। यहां कतिपय परिभाषाओं के तकनीकी महत्त्व का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है :

(1) तस्मिन्निति निर्दिष्टेपूर्वस्य—इस परिभाषा का 'तस्मिन्' पद 'तद्' सर्वनाम का सप्तम्यन्त रूप है। सर्वनाम शब्द स्वाभावत: वक्ता के अभिप्रेतार्थ को प्रतिनिधित्व करते हैं। अत: इस परिभाषा का 'तस्मिन्' पद पाणिनीय सूत्रों में औपश्लेषिक-अधिकरण-सूचक 'सप्तम्यन्त' पदों का संकेत करता है। सूत्रकार ने जिस किसी विधि-सूत्र में औपश्लेषिक सप्तम्यन्त पद द्वारा कोई आदेश, आगम आदि विधि की है, वहीं यह परिभाषा 'निर्दिष्टे, पूर्वस्य' दोनों पद उपस्थित कर देती है। औपश्लेषिक पद द्वारा निर्दिष्ट विधि भी वहीं कहलाएगी जहाँ सप्तम्यन्त पद से उपलक्षित पदार्थ निमित्त कोटि में ही। यदि कहीं 'आगमी' या 'स्थानी' को ही सूत्रकार ने 'सप्तमी' से सूचित कर दिया है तो वहां 'निर्दिष्टे, पूर्वस्य' उपस्थित नहीं होंगे। वस्तुत: ऐसे सूत्रों में 'पर' घटक की विधि करना सूत्रकार का लक्ष्य होता है। वहां स्वभावत: निमित्त कोटि में पंचम्यन्त पद होता है, जिसके आधार पर 'निर्दिष्टस्य परस्य' का लाभ 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा से होता है। अतएव ऐसे स्थानों में सन्देह दूर रखने को 'उभयनिर्देशे पञ्चमी निर्देशो बलीयान्' नियम माना जाता है। इस तथ्य को एक-दो उदाहरणों से भलीभांति समझा जा सकता है। 'ङ: सि धुट्' (अष्टा० 8.3.29) सूत्र में 'सि' औपश्लेषिक सप्तमी वाला पद है। किन्तु सूत्रकार को

1. यह परिभाषा स्वर-विधि में जिस स्वर को स्वरित या उदात्त बता दिया जाता है उसे छोड़कर शेष पूरे शब्द को अनुदात्त नियम करती है।

यहां उसकी औपश्लेषिक अधिकरणता विवक्षित नहीं है अपितु 'स्थानिता' अर्थात् 'आगमिता' विवक्षित है । अतः यहां यह परिभाषा 'निर्दिष्टे, पूर्वस्य' पदों को उपस्थित नहीं करेगी। इसके विपरीत 'शि तुक्' (अष्टा० 8.3.31) 'शि' की औपश्लेषिक अधिकरणता ही विवक्षित है । वहां 'निर्दिष्टे, पूर्वस्य' उपस्थित होते हैं। और 'नश्च' (अष्टा० 8.3.30) से अनुवर्त्यमान 'नः' पञ्चम्यन्त का षष्ठ्यन्त में विपरिणाम होता है ।

उक्त विवेचन से इस परिभाषा के बारे में ये निष्कर्ष निकलते हैं :

(क) अष्टा० के केवल उन्हीं विधिसूत्रों में जहां सप्तम्यन्त पद की औपश्लेषिक अधिकरणता विवक्षित है, वहीं यह परिभाषा 'निर्दिष्टे, पूर्वस्य' दोनों पद उपस्थित करती है ।

(ख) यह 'आगम' और 'आदेश' दोनों विधियों में काम आती है ।

(ग) यह विधिघटक पंचम्यन्त पद का षष्ठ्यन्त में विपरिणाम करा देती है।

(घ) इसका 'प्रवृत्ति-लिङ्ग' केवल सप्तम्यन्त पद नहीं अपितु औपश्लेषिक अधिकरण का सूचक सप्तम्यन्त पद है । अतएव न तो यह 'ड : सि घुट्' आदि षष्ठ्यर्थक सप्तमी में प्रवृत्त होती है; न 'जनपदे लुप्' (अष्टा० 4.2.81) आदि वैषयिक सप्तमी में, और न ही 'कर्तृकर्मणोः' कृति (अष्टा० 2.3.65) आदि 'सतिसप्तमी' में (5.11) ।

(2) **तस्मादित्युत्तरस्य**—इस परिभाषा का 'तस्मात्' पद विधिसूत्रों के दिग्योग-लक्षण पंचम्यन्त पदों का अर्थतः[1] अनुकरण है । अतः जिन विध-सूत्रों में दिग्योगलक्षणपञ्चमी वाले पद से निर्दिष्ट विधि होगी, वहां यह सूत्र 'निर्दिष्टस्यपरस्य' पद उपस्थित कर देगा । यदि पंचम्यन्त पद से निर्दिष्ट विधि में इसकी प्रवृत्ति से कहीं बाधा आती है तो मानना होगा कि सूत्रकार वहां दिग्योगलक्षणा पंचमी नहीं अपितु कारक पंचमी (अपादान लक्षणा) मानता है । 'नित्यं ङितः' (अष्टा० 3.4.99) में अनुवर्त्यमान 'धातोः' पद की पंचमी के आधार पर इसकी प्रवृत्ति मान ली जाय तो वहां 'निर्दिष्टस्य परस्य' पद उपस्थित कर देगी । उस दशा में 'आदेः परस्य' (अष्टा० 1.1.54) की प्रवृत्ति से 'ङित्' के आदि का लोप प्राप्त होगा । अतः उक्त विधि-सूत्र में 'धातोः' पद का अर्थ—'धातोः परस्य' न करके 'धातोर्विहितस्य' समझना होगा । संक्षेप में इस परिभाषा की प्रवृत्ति की ये विशेषताएं हैं—

(क) इसका 'प्रवृत्ति-लिङ्ग' 'दिग्योगलक्षणा पञ्चमी' है ।

1. शब्दानुकरण मानने से केवल 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (अष्टा० 6,1,103) आदि में ही प्रवृत्त हो सकती है, 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (अष्टा० 8,4,61) आदि में नहीं । अतः बहुलक्ष्यानुरोध से विविधसूत्रघटक पंचम्यन्त पदों का अर्थतः अनुकरण मानना होता है ।

(ख) यह 'आगम', 'आदेश' और 'अतिदेश' विधि में जहां भी इसका प्रवृत्ति-लिङ्ग है, प्रवृत्त होती है।

(ग) यह विधि-सूत्र में 'निर्दिष्टस्य परस्य' पद उपस्थित करती है।

(घ) यह सप्तमी का षष्ठी में विपरिणाम करा देती है।

(3) **आदेः परस्य**—यह परिभाषा जहां कहीं आदेश-विधि में 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा से 'परस्य' उपस्थित होता है वहीं परसम्बन्धी आदेश का आदित्व में पर्यवसान कर देती है।

(4) **स्थानेऽन्तरतमः**—यह परिभाषा 'स्थान्यादेश'—व्यवस्था में अत्यन्त महत्त्व रखती है। इसके अनुसार 'स्थानी' को वही आदेश प्रतिनिहित कर सकता है जो उससे अधिकतम सादृश्य रखता है। यह सादृश्य चार रूपों में देखा जाता है[1] :

(क) **स्थानसादृश्य**—किसी 'ध्वनि' के स्थान में 'आदेश' रूप होने वाली 'ध्वनि' में उच्चारण-स्थान की समानता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। चेता, जेता में 'ए' 'गुण' स्थान-सादृश्य से होता है।

(ख) **गुणसादृश्य**—वर्णगत घोषात्वादि धर्मों की समानता इस कोटि में आती है। व्यंजन ध्वनियों के आदेश में इसका पर्याप्त महत्त्व है। 'वाग्घरि' में 'ह्' को 'घ्' गुणकृत सादृश्य से होता है।

(ग) **परिमाणसादृश्य**—ध्वनिस्थानिक आदेश में यदि उक्त दोनों सादृश्य न मिलें तो उच्चारण-काल के परिणाम के सादृश्य से भी आदेश हो जाता है; जैसाकि 'देवर्षि' आदि में 'अर्' गुण होता है।

(घ) **अर्थसादृश्य**—रूपग्रामीय स्तर पर विधीयमान आदेश इसी साम्य पर आधारित होते हैं; जैसे 'तृज्वत्क्रोष्टुः' (अष्टा० 7.1.95 द्वारा 'क्रोष्टृ' आदेश तथा तस्थस्थमिपां तांतंतामः' (अष्टा० 3.4.101) से होने वाले ताम् आदि आदेश अर्थसादृश्य से होते हैं।

(5) **समर्थानां प्रथमाद् वा**—'तद्धित' प्रत्यय काण्ड के आरम्भ में प्रस्तुत इस परिभाषा का अपना एक विशेष महत्त्व है। समासप्रकरण के आरम्भ में 'समर्थः पदविधिः' (अष्टा० 2.1.1) से पदसम्बन्धी सभी विधियों को जिनमें 'तद्धित' भी सम्मिलित है, 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य होने पर विहित किया है। वाक्य से प्रतीत होने वाले अर्थ के अभिधान में जहां 'समास' आदि का सामर्थ्य है, वहीं ये विधियां होती हैं, अनन्वित तथा अनेकार्थीभाव-सन्दर्भों में नहीं। मध्य में 'समर्थानां प्रथमाद् वा' (अष्टा० 4.1.82) परिभाषा का उपस्थापन तद्धित सूत्रों की विशेष

1. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 7, पृ० 266

शैली के कारण करना पड़ा है। तत्तत् अर्थों में प्रत्ययविधि करने वाले सूत्र उस वाक्य का प्रतिरूप होते हैं, जिसका कि वे तद्धितवृत्ति से रूपान्तरण करते हैं। उनमें 'धातोः' आदि की तरह सर्वत्र पंचम्यन्त प्रकृति का प्रयोग नहीं होता जिससे प्रत्ययोद्देश्यता का सहज ज्ञान हो सके। उदाहरणार्थ 'तस्यापत्यम्' (अष्टा० 4.1.92), 'साऽस्यदेवता' (अष्टा० 4.2.24) आदि सूत्रों को लिया जा सकता है। सूत्रकार द्वारा उक्त परिभाषा प्रस्तुत कर देने से ऐसे सूत्रों में जो 'प्रथम' पद— 'तस्य', 'सा' आदि हैं, इनसे उपलक्षित विग्रहवाक्यघटक पद से 'तद्धित' प्रत्यय का विधान होता है। उपगोः अपत्यम्, इन्द्रो देवताऽस्य इत्यादि वाक्यों में 'उपगोः' तथा 'इन्द्रः' आदि पदों से प्रत्ययविधि होती है न कि 'अपत्य' या 'देवता' आदि से। 'समर्थानां'—यह पद निर्धारण में षष्ठी होने से विग्रहवाक्य में 'प्रथम' भी समर्थ शब्दकुल से ही लिया जाय इसकी स्पष्ट प्रतीति करा देता है।

वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्—यह परिभाषा 'धातोः' (अष्टा० 3.1.91) के अधिकार में पठित है। विशेषविधि स्वाभावतः सामान्य विधि की बाधक होती है।[1] यह परिभाषा का धात्वाधिकार में पठित विशेष प्रत्ययविधियों के अपवादत्व में कुछ संकोच कर देती है। इसके अनुसार 'स्त्रियां क्तिन्' (अष्टा० 3.3.94) के अधिकार में पठित प्रत्ययों को छोड़कर 'असरूप' (भिन्न रूप) अपवादप्रत्यय वैकल्पिक स्थिति पा जाते हैं। फलतः सामान्य प्रत्यय भी होते हैं और उनके अपवादभूत विशेष भी। उदाहरणार्थ 'दातव्यम्' शब्द-रचना में 'तव्य' तथा 'देयम्' में 'यत्' दोनों होते हैं। किन्तु 'सरूप' अपवाद-प्रत्यय बाधक ही होता है; जैसे 'पोरदुपधात्' (अष्टा० 3.1.98) से विहित 'यत्' अपने विषय में 'ऋहलोर्ण्यत्' (अष्टा० 3.1.124) का अपवाद ही होगा। अतः 'लभ्' धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय कदापि न होगा अपितु यत् ही होगा और शब्दरचना 'लभ्यम्' ही होगी।

10.5. 'अव्यवस्थित घटक' का सिद्धांत

10.4. के अन्तर्गत 'तस्मिनन्निति', 'तस्मादित' परिभाषाओं का प्रयोग-प्रकार व्याख्यात किया है। इन दोनों परिभाषाओं के पीछे सूत्रकार का शब्द-रचना में 'अव्यवहित-घटक'[2] का सिद्धान्त भी निहित है। व्याकरणिक संरचना का निरूपण

---

1. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 7, पृ० 258
2. Bloomfield, Language, p. 167 : "Any complex form can be fully described (apart from its meaning) in terms of the immediate constituent forms and the grammatical features (texemes) by which this constituent forms are arranged."

करते समय दो पूर्व-पर उपादानों का उल्लेख करना होता है, अर्थात् अमुक वर्ण, या अमुक धात्वादि प्रकृति को अमुक वर्ण या प्रत्यय के परे होने पर अमुक व्याकरणिक कार्य (आदेशादि) हो अथवा अमुक से परवर्ती अमुक को अमुक कार्य हो इत्यादि रीति अपनानी होती है। इस प्रकार के 'पूर्व-पर' उपश्लेष-मूलक विधान उस समय सन्दिग्ध हो जाते हैं, जब इनके द्वारा गृहीत उपादान एक से अधिक संख्या में या व्यवहित इकाइयों की शृंखला बनकर आ जाते हैं। इस स्थिति को उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है: 'इको यणचि' (अष्टा० 6.1.77) सूत्र अच् के उपश्लेष में 'इक्' के स्थान में 'यण्' आदेश करता है। उपश्लेष व्यवहित और अव्यवहित दोनों में होता है। अतः अच् परे रहते कोई व्यवहित इक् है तो उसे भी 'यण्' का आदेशनियम लागू होगा, जो कि लक्ष्य-संरचना की दृष्टि से उचित नहीं है—'इत्यादि' शब्द में 'इति' के आदिम 'इक्' (इ) को भी तकारोत्तरवर्ती 'इ' का उपश्लेष प्राप्त है; ठीक वैसे ही 'आदि' के अन्तिम 'इ' को भी पूर्व में स्थित 'आ' आदि 'अच्' का उपश्लेष प्राप्त है। अतः जब तक यह नियम न किया जाय कि अच्उपेश्लिष्ट 'इक्' को यण् होगा और वह 'अव्यवहित पूर्व' को ही होगा, तब तक सन्देहस्थिति रहेगी। यही स्थिति 'पर' (उत्तर) उपादान पर भी लागू होती है। जैसे 'पूर्वता' व्यवहित अव्यवहित दोनों पर लागू होती है वैसे ही 'परता' भी। 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (अष्टा० 8.4.61) की प्रवृत्ति को 'उत्संस्तम्भनम्' में तभी रोका जा सकता है जब 'अव्यवहित पर' का नियम लागू हो।

उक्त उदाहरण ध्वनिपरिवर्तन स्तर तक के हैं। 'अव्यवहित घटक' का नियम रूपग्रामीय स्तर पर भी लागू होता है। पाणिनि का 'भूसुवोस्तिङि' (अष्टा० 7 3.88) सूत्र 'तिङ्' उपश्लेष में 'भू' और 'सु' को गुण का निषेध करता है। इस सूत्र में 'तिङि' पर से यदि सामान्य रूप से 'तिङ्' परे रहते मात्र अर्थ लें अर्थात् पूर्वोक्त 'अव्यवहित घटक' का नियम में न लावें तो शब्दसंरचना-नियमों में कठिनाइयां पैदा हो जाएंगी। उस दशा में 'भवति' आदि में भी गुण न हो सकेगा। क्योंकि 'भू' से तिङ् परे अर्थात उपश्लिष्ट है। 'अव्यवहित घटक' का नियम लागू कर देने से कठिनाई हल हो जाती है क्योंकि 'शप्' व्यवधान होने से 'तिङ्' अव्यवहित नहीं है।

रूपग्रामीय स्तर पर 'अव्यवहित-घटक शृंखला का विच्छेद-क्रम से सातत्य : पाणिनि का अद्भुत प्रयोग

भाषा-संरचना की लघुतम इकाई वर्ण से लेकर, प्रकृति, प्रत्यय, पद तथा वाक्य आदि जब किसी दीर्घतर इकाई के अवयव बनते हैं तो उनमें उत्तरोत्तर अव्यवहित घटकता लागू होती जाती है। भाषाविज्ञान की शब्दावली में इस

प्रक्रम को भाषिक उपादानों की श्रृंखला कहा जाएगा । संरचना प्रक्रिया में इन उपादानों में होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख इनकी सापेक्षस्थिति से ही किया जाता है । दूसरे शब्दों में, संरचनात्मक परिवर्तनों का वर्णन करने को उपादान श्रृंखला को विच्छिन्न करना आवश्यक हो जाता है । पाणिनि ने रूपग्रामीय स्तर पर 'अव्यवहित घटक' की श्रृंखला का विच्छेद करके उसके सातत्य का क्रमिक निर्वाह किया है । इस हेतु उसने प्रकृति को तद्विहित प्रत्यय की सापेक्षता से प्रत्यय के परे रहते 'अङ्ग' नाम दिया है । दोनों के अव्यवधान में होने वाले रूप-ध्वनिग्रामीय कार्यों का उल्लेख 'अंग' और 'प्रत्यय' की सापेक्ष स्थिति में वर्णित किए हैं । साथ ही अपनी संरचना-योजना के अनुसार प्रकृति-प्रत्यय की विच्छिन्न श्रृंखला को संरचनात्मक उद्देश्य से क्रमशः सातत्य दिया है । सामान्यतः संरचना में 'व्युत्पाद्य रचना' के पूर्व और पर दो ही अव्यवहित घटक होते हैं परन्तु पाणिनीय रीति से कुछ ऐसे व्युत्पाद्य उपादान हैं जिनकी संरचना में एक ही प्रकृति के साथ दो-दो प्रत्यय उपादानों का संयोजन होता है; जैसे—तिङन्त रूपों को लिया जा सकता है । 'भवामि' आदि व्युत्पाद्य रूपों में 'भू+शप (अ) +मि' इस स्थिति में एक ही 'भू' प्रकृति के सापेक्ष दो प्रत्यय (शप्, मिप्) घटकों की श्रृंखला है ।

पाणिनि ने 'अंग' संज्ञा द्वारा इस श्रृंखला को अव्यवहित प्रत्यय तक विच्छिन्न किया ।[1] उसके योग में रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तनों का उल्लेख करके 'अंग' को 'मि' की अपेक्षा में रखकर रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तनों का उल्लेख किया । पदस्य (अष्टा० 8.1.16) तथा पदात् (अष्टा० 8.1.17) के अधिकार में विहित व्याकरणिक कार्य भी वाक्यान्तर्गत पदों की 'अव्यवहित घटकता' पर आधारित है । व्याकरणिक प्रक्रिया में यह सिद्धान्त संरचना-स्तर की लघुतम इकाई 'वर्ण' से लेकर महत्तम इकाई 'वाक्य' तक निर्धारित किए संरचनात्मक नियमों को क्रमिक और तर्कसंगत बना देता है । 'असिद्धं बहिरङ्ग-मन्तरङ्गे' परिभाषा भी इसी सिद्धान्त का पोषण करती है ।[2]

नियम-सूत्रों का वर्गीकृत-विवरण

नियम-सूत्रों का परिभाषा सूत्रों की भांति बहुत तकनीकी स्वरूप नहीं होता । जैसाकि बताया गया है कि उनका कार्य सामान्य-विधि की उद्देश्यता में संकोच कर देना हैं अतः वे स्वयं भी 'विधि' तुल्य ही होते है, । अष्टाध्यायी के नियम-सूत्रों को कार्य की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है—

---

1. यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (अष्टा० 1.4.13)
2. महा० अ० 1 पा० 1 आ० 8, पृ० 312

(1) **एकशेष-नियम**—द्वन्द्व-समास में अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं जहां समस्यमान पदों में केवल एकशेष रहता है। पाणिनि ने इस सम्बन्ध में नियामक-सूत्रों को अष्टाध्यायी 1.2.64-73 तक संगृहीत किया है। इन्हें नियम-सूत्र इस अंश में कहा जाता है कि समस्यमान दो या बहुत पदों के सामान्यतः प्राप्त प्रयोग में एक के प्रयोग का नियम कर देते हैं।

(2) **समास का एक वचन**—'चार्थे द्वन्द्वः' (अष्टा० 2.2.29) से सामान्यतः इतरेतर नियम योग और समाहार में द्वन्द्व प्राप्त होता है। पाणिनि ने 'द्विगुरेकवचनम' अष्टा० 4.1.1 से 4.1.16 तक संगृहीत सूत्रों से द्वन्द्व का एकवचन नियम किया है, जो वस्तुतः समाहार में एकवचन स्वयं सिद्ध होने से निर्दिष्ट सन्दर्भों में 'समाहार द्वन्द्व' ही हो, इस रूप में पर्यवसित होता है।

(3) **समास का लिङ्ग-नियम**—तीनों लिंगों के केवलान्वयी[1] होने से तथा लोक-व्यवहार में लिंग के अर्थाधीन होने से शास्त्र हैं शब्द-विषयक लिंग[2] नियम किया जाता है। अष्टाध्यायी में यद्यपि 'व्यक्ति' और 'वचन' दोनों को अशिष्य घोषित किया है[3] तथापि समास-विषयक लिंग और वचन का नियम उनकी रूप-संरचना से सम्बन्ध रखता है। अतः पाणिनि ने उनका नियमन किया है। तत्तत् समास का लिंग-नियम करने वाले सूत्र अष्टा० 2.4.17 से 2.4.31 तक हैं।

(4) **समासविषयक पूर्व-पद-प्रयोग-नियम**—वाक्य में पदों के पौर्वापर्य का कोई नियम नहीं होता किन्तु उसे प्रतिनिहित करने वाले समास में पदों का पौर्वापर्य निश्चित होता है। पाणिनि ने ऐसे नियम सूत्रों का संग्रह अष्टा० 2.2.30 से 2.2.38 तक किया है।

(5) **आत्मनेपद-परस्मैपद-नियम**—'लस्य' (अष्टा० 3.4.77) अधिकार में पठित तिबादि अठारह प्रत्ययों का धातु मात्र से सामान्यतः प्रयोग होता है। उनका तत्तत् धातु-प्रकृत्ति से नियमन करने को सूत्रकार ने विशेष नियम-सूत्र उपदिष्ट किये हैं। 'आत्मनेपद' के नियामक सूत्र अष्टा० 1.3.12 से 1.3.77 तक हैं। 'परस्मैपद' विषयक नियम-सूत्र अष्टा 1.3.78 से 1.3.93 तक हैं।

(6) **पुरुष-नियम**—पाणिनि ने 'तिङ्' प्रत्ययों में प्रत्येक 'त्रिक' की उत्तम-मध्यम-प्रथम' पुरुष संज्ञा की है।[4] इन सभी का लकार के स्थान में सामान्यतः

---

1. लघु० श०, स्त्रियाम् (अष्टा० 4.1.3)
2. Robert A. Hall, Jr., Introductory Linguistics, p. 154 :
   "In many instances, even in terms referring to living beings, grammatical gender is arbitrarily assigned and has no connection with sex..."
3. तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (अष्टा० 1.2.53)
4. तिङस्त्रीणित्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः (अष्टा० 1.4.101)

प्रयोग प्राप्त होने पर युष्मदादि सामानधिकरण्य में पुरुष विशेष का नियम किया गया है। ये नियम-सूत्र अष्टा० 1.4.105 से 1.4.108 तक हैं।

(7) **कारकविभक्ति-नियम**—'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (अष्टा० 4.1.1) के अधिकार में पठित 'स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्' (अष्टा० 4.1.2) से सामान्यतः सभी 'सुप्' प्रत्यय प्रातिपदिक से विहित हैं। 'कर्मणि द्वितीया' (अष्टा० 2.3.2) आदि कारक-विभक्ति सूत्रों से 'कर्मत्वाश्रयात्प्रातिपदिकात् द्वितीयैव' इस प्रकार के अर्थनियम हो जाते हैं जिसका प्रतिफल कर्मादि अर्थों में तत्तद विभक्ति का नियमन करना होता है। ये सूत्र अष्टा० 2.3.1 से 2.3.73 तक हैं।

(8) **वचन-नियम**—'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (अष्टा० 4.1.1) तथा 'लस्य' (अष्टा० 3.4.77) के अधिकार में विहित 'सु' आदि, तथा 'तिप्' आदि प्रत्यय सामान्यतः वर्णित है। अतः एकत्वादि-विशेष की वाच्यता होने पर 'एकवचन' आदि का नियम आवश्यक है। वचन-नियम-सूत्र 'बहुषु बहुवचनम्' (अष्टा० 1 4.21) तथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (अष्टा० 1.4.22) हैं।

(9) **गोत्र-युव-प्रत्ययविषयक-नियम**—प्रत्यपत्य नवीन प्रत्यय की प्राप्ति में 'एकोगोत्रे' (अष्टा०4.1.93) द्वारा केवल एक प्रत्यय का नियम किया जाता है। इसी प्रकार 'युवापत्य' में गोत्र प्रत्ययान्त प्रकृति से ही 'युव' प्रत्यय हो और एक ही हो—ऐसा नियम 'गोत्राद्यून्यस्त्रियाम' (अष्टा० 4.1.94) से किया गया है। अतः गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः, तत्पुत्रोऽपि गार्ग्यः। इसी प्रकार गर्गस्य युवापत्यम् गार्ग्यायणः तत्पुत्रो पि गार्ग्यायणः। संक्षेप में इन नियमों का सार प्रकृति-नियम करने में समझना चाहिए। गोत्रप्रत्यय केवल मूलप्रकृति से ही होता है तथा युवप्रत्यय गोत्रप्रत्ययान्त प्रकृति से होता है।

उक्त नियम-सूत्रों के सन्दर्भ अष्टाध्यायी में प्रायः एकत्र हैं तथा उनका कार्य-क्षेत्र भी व्यापक है, अतः इन पर प्राधान्येन प्रकाश डाला गया है। कतिपय नियम-सूत्र अन्य-सन्दर्भों में भी हैं जिनका विधि-सूत्र के साथ यथायोग समन्वय देखा जा सकता है।

अध्याय 11

अतिदेश और अधिकार का विधान

11.1. इस अध्याय का मुख्य विषय अष्टाध्यायी के अतिदेश सूत्रों और अधिकार सूत्रों को पूर्वोक्त वर्गीकरण के अनुसार प्रस्तुत करना तथा उसकी पृष्ठभूमि में निहित सूत्रकार की योजना का विवरण देना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन दोनों प्रकार के सूत्रों का परिगणन कर देना उपादेय रहेगा।

11.2. शास्त्रातिदेश

(1) वर्तमानसामीप्ये
वर्तमानवद्वा (3.3.131)
(2) आशंसायां भूतवच्च (3.3.132)
(3) कालेभ्यो भववत् (4.2.34)
(4) चरणेभ्यो धर्मवत् (4.2.46)
(5) गोत्रादङ्कवत् (4.3.80)
(6) जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन
समानशब्दानां बहुवचने (4.3.100)
(7) क्रीतवत् परिमाणात् (4.3.156)
(8) तत्र च दीयते कार्यं भववत् (5.1.96)
(9) समूहवच्चबहुषु (5.4.22)

उक्त प्रकारक शास्त्रातिदेशों का अभिप्राय यह है कि तत्तत् धातुप्रकृति और प्रातिपदिक प्रकृति से तत्तत् अर्थ-सन्दर्भों में जो प्रत्ययविहित किये गये हैं वे उन्हीं प्रकृतियों से उल्लिखित अर्थों में भी अतिदिष्ट किये जा रहे हैं। ऐसे अतिदेश सन्दर्भों में कार्यातिदेश नहीं माना जा सकता क्योंकि उससे प्रकृति-प्रत्यय के सांकर्य का भय रहता है; उदाहरणार्थ—'कालेभ्यो भववत्' सूत्र से अतिदिश्यमान

भवाधिकार के शास्त्रों में यदि कार्यातिदेश मान लिया जाय तो प्रावृष् आदि विशेष कालवाची प्रकृतियों से जिन भवार्थक प्रत्ययों का निर्देश किया गया है वे कालवाची अन्य प्रकृतियों से भी होने लगेंगे। जबकि ऐसा अभीष्ट नहीं है। शास्त्रातिदेश मानने से यह बाधा उपस्थित नहीं होती क्योंकि उस दशा में तत्तत् अर्थ-सन्दर्भों में जिस प्रकृति-विशेष का उल्लेख करके जो शास्त्र (सूत्र) जो प्रत्यय-विधि कर रहा है उस अर्थ-सन्दर्भ में उस शास्त्र का उसी रूप में अतिदेश होने से उस प्रकृति से वही प्रत्यय होता है।

ये शास्त्रातिदेश यह भी संकेत करते हैं कि एक ही व्युत्पन्न शब्द के साथ अनेक प्रकार की अर्थवृत्तियां जुड़ी रहती हैं। उनका निर्णय केवल सन्दर्भगत प्रयोग से ही हो सकता है। प्रावृषेण्य शब्द जिस प्रकार प्रावृट् (वर्षा) में उत्पन्न वारिद आदि का विशेषण हो सकता है, उसी प्रकार प्रावृट् में दीयमान ऋण का भी। पाणिनि ने इन शास्त्रातिदेशों द्वारा शब्दों की व्यापक अर्थवृत्तियों का संकेत कर दिया है और इन सन्दर्भों में सहज ही शास्त्रों की आवृत्ति के अनावश्यक भार से स्वयं को मुक्त कर लिया है। यह अतिदेश-सरणी अष्टाध्यायी के अध्येता को तत्तत् अर्थाधिकार में पठित सूत्रों के क्रम में परिवर्तन का रंचमात्र भी अवसर नहीं देती।

11.3. कार्यातिदेश

(1) स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (1.1.56)
(2) अचः परस्मिन्पूर्वविधौ (1.1.57)
(3) प्रत्ययलोपेप्रत्ययलक्षणं (1.1.62)
(4) गाङ् कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्[1] (1.2.1) से (1.2.26) तक।
(5) कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः (3.1.87)
(6) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च (3.2.171)
(7) लोटोलङ्वत् (3.4.85)
(8) अन्तादिवच्च (6.1.85)
(9) गोतोणित् (7.1.90)
(10) सख्युरसम्बुद्धौ (7.1.92)
(11) सनवल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे (7.4.93)
(12) एकं बहुव्रीहिवत् (8.1.9)
(13) कर्मधारयवदुत्तरेषु (8.1.11)

1. पाणिनि ने जिन प्रत्ययों को अनुबन्ध-युक्त नहीं किया उनके योग में भी विशेष व्याकरणिक कार्य साधने को अनुबन्धों का अतिदेश किया है।

कार्यातिदेश का अभिप्राय शास्त्र की उस विधा से है जिसके अन्तर्गत शास्त्रकार अनेकों संरचनात्मक कार्यों का उल्लेख करने को पृथक् सूत्ररचना करके शास्त्रगौरव नहीं करना चाहता अपि तु जिन सन्दर्भों में व्याकरणिक कार्यों का विधान कर दिया गया है उनका सुविधानुसार अन्यत्र अतिदेश कर देता है; उदाहरणार्थ—'तस्थस्थमिपाम् तांतन्तामः' (अष्टा० 3.4.101) द्वारा ङित लकार में 'ताम्' आदि आदेश विहित हैं। लोट् लकार में ङित् लकारों से कुछ रूपों में भिन्नता होते भी इस अंश में समानता है। अतः सूत्रकार भिन्न कार्य के लिए उसके टित् रूप की रक्षा करते हुए उक्त सन्दर्भ में उसमें लङ्त्व का अतिदेश करता है जिसका प्रतिफलन कार्यातिदेश में होता है। यह अतिदेशन विधा भी पाणिनि का बहुत बड़ा लाघवअस्त्र है। इससे उसने अनेक प्रत्ययरूपग्रामों में जहां कार्योपयोगी अनुबन्धन सम्भव न हुआ वहां भी तत्प्रयुक्त कार्य का लाभ उठाने को ङित्व आदि अतिदेश किये हैं जैसा कि गाङ्कुटादि अतिदेश प्रकरण से स्पष्ट है।

11.4. निमित्तातिदेश

(1) लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने (1.2.51)
(2) विशेषणानां चाजातेः (1.2.52)
(3) पूर्ववत् सनः (1.3.62)
(4) आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य (1.3.63)

उपर्युक्त निमित्तातिदेश-सूत्र प्रत्यय-योग से संरचना के द्वितीय स्तर को प्राप्त की हुई प्रकृति को उसकी प्रथम स्तर की अवस्था दे रहे हैं ताकि उस दशा में जिस-जिस व्याकरणिक कार्य के प्रति उसमें निमित्तता थी, वह द्वितीयस्तर पर भी तदवस्थ रहे। अङ्गाः, पञ्चालाः, आदि जनपद शब्दों के प्रथमस्तरिक प्रकृतिभूत क्षत्रियवाची 'अङ्ग', 'पञ्चाल' आदि शब्द जिस भी निमित्त से बहुवचन और पुंल्लिग थे, उसी निमित्त का अतिदेश 'लुपियुक्तवद्व्यक्तिवचने' (अष्टा० 1.2.51) द्वारा द्वितीय स्तर की जनपदनामवाची अङ्ग, पञ्चाल आदि प्रकृति मे हो जाता है। ऐसे ही 'पूर्ववत् सनः' आदि से होता है। यहां न तो शास्त्रातिदेश माना जा सकता है और न कार्यातिदेश ही। 'शास्त्रातिदेश' पक्ष में 'पूर्व' शब्द से प्रत्यासत्या आत्मनेपद प्रकरण के पूर्वोद्दिष्ट सूत्र-कुल का ग्रहण होगा। उस दशा में जिन धातुविशेषों से जिन-जिन सन्दर्भों में आत्मनेपद-विधि हुई है सन्नन्त-अवस्था में केवल उन्हीं से और उन्हीं अर्थों में आत्मने-पद होगा। धातु-सामान्य से सन्नन्त में कोई व्यवस्था न होगी। कार्यातिदेश पक्ष में सन्नन्त धातु से पूर्ववत् आत्मनेपद हो यही अर्थ होगा। तब केवल आत्मनेपद ही होगा। परस्मैपद सर्वथा न होगा, जबकि परस्मैपदी धातु के सन्नन्त रूप से परस्मैपद

अभीष्ट है। साथ ही, उभयपदी धातु से कर्तृगामी क्रियाफल होने पर ही सन्नन्त से आत्मनेपद विधि इष्ट है अन्यथा परस्मैपद होता है। निमित्तातिदेश मानने से सन्नन्त स्तर से पूर्वस्तर की निमित्तता के अनुसार यथायथ आत्मनेपद तथा परस्मैपद हो जाते हैं। यही स्थिति 'आमन्त' से 'कृ' के अनुप्रयोग में देखी जा सकती है।

11.5. रूपातिदेश

(1) द्विर्वचनेऽचि (1.1.59)

(2) तृज्वत्क्रोष्टुः (7.1.95)

'चक्रे' आदि में 'द्विर्वचनेऽचि' द्वारा द्विर्वचनकर्त्तव्यता में 'अच्' स्थानिक 'यण्' आदेश का स्थानिवत् किया जाना नियतकालिक रूपातिदेश है। द्विर्वचन हो जाने पर स्थानी पुनः आदेश रूप हो जाता है।[1] 'तृज्वत्क्रोष्टुः' का रूपातिदेश स्थानी में भावी आदेश का अतिदेश है। वस्तुतः क्रोष्टु, क्रोष्टृ दोनों ही शब्द स्वतंत्र-रूपक ग्राम हैं। सभी विभक्तियों में दोनों का स्वतंत्र प्रयोग न हो इसलिए 'तृज्वद्' भाव के अतिदेश द्वारा सर्वनामस्थान और स्त्रीलिंग में केवल 'क्रोष्टृ' के प्रयोग का नियम कर दिया गया। तृतीयादि 'अजादि' विभक्तियों में दोनों शब्दों के रूप होते हैं। अन्यत्र 'क्रोष्टु' का ही प्रयोग होता है[2] (7.1.95-97)।

11.6. 'अर्थातिदेश'

(1) जात्याख्यायामेकस्मिन्
बहुवचनमन्यतरस्याम् (1.2.58-62)

(2) स्त्री पुंवच्च

(3) प्रहासे च मन्योपपदे
मन्यतेरुत्तम एकवच्च (1.4.106)

(4) द्विगुरेकवचनम् (2.4.1.16)

अष्टाध्यायी में जहां भी वचन तथा लिंग का अतिदेश हुआ है, सर्वत्र अर्थातिदेश समझना चाहिए। यदि वचन—लिंगविषयक अतिदेशों में रूपातिदेश मान लिया जाय तो अनेक शब्द-संरचनात्मक बाधाएं होंगी; उदाहरणार्थ—(अष्टा० 1.2.58) में यदि पारिभाषिक एकवचन के लिए बहुवचन का अतिदेश मानें तो उनमें परस्पर स्थान्यादेश-भाव हो जाने से बहुवचन अपने स्थानी एकवचन के रूप में ग्रहण होकर अनेक बाधाएं उत्पन्न कर सकता है; जैसे—'व्रीहिभ्यः

1. काशिका (अष्टा० 1.1.59)
2. मनोरमा, पृ० 184

आगत:' आदि में 'घेर्ङिति' (अष्टा० 7.3.111) से गुण प्राप्त होगा ।[1]

इसी प्रकार 'त्रिलोकी' आदि द्विगु समास में यदि एकवचन अर्थ (एकत्व) का अतिदेश न मानें तो बहुत्व अर्थ का सूचक होने से 'त्रिलोकी' आदि के अनुप्रयोगों (विशेषण) में बहुवचन का प्रयोग होगा क्योंकि वह स्वयं तो द्विगु समास नहीं है ।[2] स्त्रीपुंवच्च आदि द्वारा जहां कहीं पुंवद्भाव होता है वहां भी पुंवद्रूपमात्र का अतिदेश मानने में बाधाएं आती हैं । रूप के पुंवद् होने पर भी अर्थ के स्त्रीत्व विशिष्ट रहने में तन्मूलक विधियां प्रवृत्त होंगी; जैसे 'गार्गी च गार्ग्यायणौ च' गर्गाः, 'तान् गर्गान् पश्य' आदि में 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (अष्टा० 6.1.103) नत्व नहीं करेगा ।[3] अर्थातिदेश मानने से कहीं बाधा नहीं आती ।

11.7. व्यपदेशातिदेश

(1) आद्यन्तवदेकस्मिन् (1.1.21)

व्याकरणिक कार्य की सिद्धि के लिए जिस एकमात्र इकाई में आद्यन्तता सम्भव नहीं होती उसमें 'व्यपदेशातिदेश' से उसका आरोप होता है; जैसे—'कर्त्तव्यं' इत्यादि में 'तव्य' प्रत्यय में आदि को उदात्त होता है वैसे ही 'औपगव' आदि में 'अण्' प्रत्यय को आद्युदात्त हो जाता है । अन्तातिदेश से 'आभ्याम्' आदि में 'सुपि च्' (अष्टा० 7.3.102) से दीर्घ हो जाता है ।

11.8. तादात्म्यातिदेश

(1) सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे (2.1.2)

तादात्म्य शब्द का अर्थ—तद्भिन्न होते हुए उससे अभिन्न प्रतीत होना होता है ।[4] उक्त सूत्र पूर्ववर्ती सुबन्त का परवर्ती आमन्त्रित (संबोध) से तादात्म्य अतिदिष्ट करता है । यह अतिदेश केवल स्वर-विधि में ही होता है । इसका व्याकरणिक फल 'परशुनावृश्चन्' आदि में 'आमंत्रितस्य च' (अष्टा० 6.1.197) से पूर्ववर्ती 'परशुना' के आदि स्वर का उदात्त होना है ।

---

1. महा० अ० 1, पा० 2, आ० 2, पृ० 66 वा० 716 : 'अर्थातिदेशात्सिद्धम्' ।
2. महा० अ० 2, पा० 4, आ० 1, पृ० 533, वा० 1555 : 'तत्रानुप्रयोगस्यैकवचनाभावो द्विगुत्वात्' ।
3. महा० अ० 1, पा० 2, आ० 3, पृ० 102 : 'इदं सर्वेषु एव स्त्रीग्रहणेषु विचार्यते—स्त्रीग्रहणेषु स्त्रीप्रत्ययग्रहणं वा स्यात्, स्त्र्यर्थग्रहणं वा, स्त्रीशब्दग्रहणं वेति···अथार्थग्रहणं न दोषो भवति ।'
4. मंजूषा, पृ० 34 : 'तादात्म्यं च तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयामानत्वम् ।'

11.9. कार्याभावातिदेश

(1) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (8.1.72)

अष्टाध्यायी में 'पदस्य' (अष्टा० 8.1.16) तथा 'पदात्' (अष्टा० 8.1.17) के अधिकार में पद से परे पद को होने वाले कार्यों का उल्लेख है। निर्दिष्ट सूत्र से आमंत्रित को अविद्यमानवत् का अतिदेश होना, उसकी पद के रूप में पूर्व-वृत्तिता का अभाव कर देता है। फलतः आमंत्रित से परे तिङ्निघात तथा 'युष्मद्-अस्माद्' को होने वाले ते, मे आदि आदेश नहीं होते।

11.10. संज्ञाधिकार

(1) कारके (1.4.23)
(2) प्राग्रीश्वरान्निपाताः (1.4.56)
(3) कर्मप्रवचनीयाः (1.4.83)
(4) प्राक्कडारात् समासः (2.1.3)
(5) अव्ययीभावः (2.1.5)
(6) तत्पुरुषः (2.1.22)
(7) शेषो बहुव्रीहिः (2.2.23)
(8) चार्थे द्वन्द्वः (2.2.29)
(9) प्रत्ययः (3.1.1.)
(10) कृदतिङ् (3.1.93)
(11) कृत्याः प्राङ्ण्वुलः (3.1.95)
(12) तद्धिताः (4.1.76)

इन संज्ञाधिकारों के पीछे सूत्रकार की धारणा स्वशास्त्रीय संज्ञाओं का संरचनात्मक उद्देश्य से परिगणन करने की रही है। संज्ञाकरण की इस विधा से उसे रूप संरचना में समानता रखने वाले शब्दों का एक ही समुच्चय बनाने की सुविधा प्राप्त हो गई। केवल यही नहीं संज्ञाधिकार की विधा ने उसे सामान्य कार्य के लिए व्यापक संज्ञा तथा विशेष कार्य के लिए तदन्तर्गत व्याप्त संज्ञा करने की छूट भी मिल गई। उदाहरणार्थ 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (अष्टा० 1.4.56) से होने वाली व्यापक 'निपात' संज्ञा अपने अन्तर्गत गति, उपसर्ग, कर्मप्रवचनीय इन व्याप्य संज्ञाओं को समेटे रहती है। व्याप्य संज्ञाओं के अन्तर्गत आए शब्द-समुच्चयों को उन संज्ञाओं से उद्दिष्ट विशेष कार्य प्राप्त होते हैं और व्यापक निपात संज्ञा से सभी को अव्ययत्व रूप समान कार्य भी प्राप्त होता है।[1]

1. स्वरादिनिपातमव्ययम (अष्टा० 1.1.37)।

11.11. परिभाषाधिकार

(1) आकडारादेका संज्ञा (1.4.1)
(2) सहसुपा (2.1.4)
(3) समर्थानां प्रथमाद्वा (4.1.82)

परिभाषाधिकार द्वारा सूत्रकार ने तत्तत् प्रकरणविशेष में विधि-सूत्रों में पद-विशेष की उपस्थिति का लाभ उठाया है जैसाकि उपर्युक्त में अन्तिम दो परिभाषाओं द्वारा होता है अथवा सम्बद्ध प्रकरण के अन्तर्गत संभावित शास्त्र-विरोध को दूर करने का लक्ष्य पूरा किया है जैसाकि प्रथम परिभाषा से 'एक संज्ञा' नियम द्वारा होता है।

11.12. विषय या प्रकरण का अधिकार

(1) धातोः (3.1.91)
(2) भूते (3.2.84)
(3) लस्य (3.4.77)
(4) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (4.1.1)
(5) स्त्रियाम् (4.1.3)
(6) तस्यापत्यम्[1] (4.1.92)
(7) शेषे (4.2.92)
(8) संहितायाम् (6.3.114)
(9) अङ्गस्य (6.4.1)
(10) आर्धधातुके[2] (6.4.46)
(11) अलुगुत्तरपदे (6.3.1)
(12) सर्वस्य द्वे (8.1.1)
(13) पदस्य (8.1.16)
(14) पदात् (8.1.17)

उपर्युक्तप्रकारक अधिकार-सूत्र विषय या प्रकरण का नाम सूचित करते हैं। भाष्यकार ने अधिकारसूत्र से प्राप्त इस लाभ को अधिकारगति नाम दिया है।

1. अष्टाध्यायी में 'अपत्य' आदि अनेक प्रकार के अर्थाधिकार वर्णित हैं जिन्हें सूत्रकार ने स्वयं अपने शास्त्र में प्रकरण की भांति उल्लेख किया है जैसाकि चरणेभ्योधर्मवत् (अष्टा० 4.2.46) आदि अतिदेश सूत्रों से स्पष्ट है। ये सूत्र उल्लिखित अर्थ-प्रकरणों के सूत्रों का अर्थान्तर में शास्त्रातिदेश करते हैं।
2. अष्टा० में यह अधिकार 2.4.35 द्वारा भी हुआ है।

11.13. प्रत्ययाधिकार

(1) प्राग्दीव्यतोऽण् (4.1.83)
(2) स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् (4.1.87)
(3) प्राग्वहतेष्ठक् (4.4.1)
(4) प्राग्घिताद्यत् (4.4.75)

पाणिनि ने तद्धित अर्थों की विविधता को देखते हुए तथा उन सभी अर्थों में उक्त प्रकारक प्रत्ययों की एकरूपता परख कर व्यापक क्षेत्र रखने वाले प्रत्यय का दीर्घ अधिकार किया तथा उसके अन्तर्गत विशेष प्रकृतियों से यथायोग अपवाद प्रत्ययों का उल्लेख कर दिया। इस प्रकार के प्रत्याधिकार तद्धित प्रत्यय-ग्रामों के आधार पर शब्दों का वर्गीकरण करने की दिशा देते हैं।

11.14. असिद्धाधिकार

(1) असिद्धवदत्राभात् (6.4.22)।
(2) पूर्वत्रासिद्धम् (8.2.1)।

सूत्रकार ने स्वनिर्मित सूत्रों में कहीं सह-प्रसक्ति रूप में और कहीं एक सूत्र की प्रवृत्ति के पश्चात् अन्य सूत्र की अभीष्ट प्रवृत्ति के रूप में आने वाले अन्तर्विरोधों को दूर करने के लिए अष्टाध्यायी में उपर्युक्त दो सूत्रों द्वारा असिद्धकाण्ड की योजना की है। असिद्धत्व सिद्धान्त का प्रयोग पाणिनि की व्याकरणिक प्रतिभा का एक आश्चर्यकारी प्रयोग है। इसका विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा।

अध्याय 12

सूत्रों के बाध्य-बाधक भाव तथा सिद्धासिद्धता का सिद्धान्त

12.1. विवेचनाधीन भाषा का संरचनात्मक विश्लेषण करने को शास्त्रकार जिन नियमों का निर्धारण करता है उनके अन्तर्विरोध दो रूपों में उभर कर आते हैं :

(क) दो विरोधी-नियमों (सूत्रों) की एक ही लक्ष्य में सहप्रसक्ति।

(ख) एक नियम की प्रसक्ति के उत्तरकाल में अपर नियम की अनभीष्ट प्रसक्ति।

12.2. स्वयं निर्धारित सूत्रों के उक्तप्रकारक अन्तर्विरोधों को परिहृत करने के लिए—शास्त्रकार को वे विधाएं अपनानी होती हैं जिनके सहारे अभीष्ट सूत्र यथायोग अपना लक्ष्य-संस्कारक निर्विवाद प्रयोग करा सके तथा अनभीष्ट सूत्र की प्रवृत्ति को रोका जा सके।

12.3. पाणिनि ने अष्टाध्यायी के सूत्रों में यत्र-तत्र आने वाले उपर्युक्त प्रकारक अन्तर्विरोधों को दूर करने के लिए दो दिशाएं अपनायी हैं :

(क) सहप्रसक्ति वाले सूत्रों को बाध्यबाधकभाव माना है। अर्थात् सह-प्रसक्त दो सूत्रों में किसे प्रवृत्त होना है और किसे रोका जाना है—इस विषय में या तो स्पष्ट सूत्र है अथवा सामान्य तर्क पर छोड़ दिया है।

(ख) बलीयस्त्व के आधार पर अनभीष्ट प्रसक्ति वाले तथा अपने कार्य के द्वारा लक्ष्य में अनभीष्ट सूत्र-प्रसक्ति की भूमिका बनाने वाले सूत्रों को असिद्ध (Neutralized) घोषित किया है।

12.4. अष्टाध्यायी सूत्रों के बलाबल-निर्धारण के लिए शास्त्रकार ने केवल एक परिभाषा-सूत्र का उल्लेख किया है—विप्रतिषेधे-परं कार्यम् (अष्टा० 1.4.2)। इस परिभाषा-नियम से सूत्रों के बलाबल निर्धारण की आंशिक पूर्ति ही होती है।

सूत्र में पूर्वसूत्र की अपेक्षा परसूत्र को बलीयस्त्व देने वाला अंश (परंकार्यम्) जितना सरल लगता है उतना ही 'विप्रतिषेधे' अंश कार्यान्वयन की दृष्टि से दुर्बोध है। इस अंश को दुर्बोध इसलिए कहा गया है कि परशास्त्र को बलीयस्त्व प्रदान करने से पूर्व अपनी निर्णायक भूमिका की प्रवृत्ति के लिए अध्येता प्रवर्त्तमान सूत्रों के विषय में बहुप्रकारक सामान्य-ज्ञान की अपेक्षा रखता है। 'विप्रतिषेध' का अर्थ 'तुल्य-बल-विरोध' है।[1] अतः सहप्रसक्ति वाले सूत्रों में जब तक यह निर्णय न हो जाय कि वे वस्तुतः तुल्यबल-विरोध रखते हैं अर्थात् उनमें अन्य प्रकार से बाध्यबाधकभाव नहीं है तब तक पाणिनि का यह परिभाषा-सूत्र 'परम्-कार्यम्' का नियम नहीं कर सकता।[2] सूत्रों के तुल्य-बल-विरोध के ज्ञान-बिन्दु तक पहुंचने का सूत्रकार ने स्वयं कोई सूत्रात्मक साधन नहीं दिया है। इसका निर्णय उसने अध्येता के सामान्य-ज्ञान पर छोड़ दिया है अथवा कहना चाहिए कि अध्येता से अपेक्षा की है कि वह 'आचार्य-शैली' तथा लौकिक न्याय के सहारे उन सामान्य-सिद्धान्तों को तय करे जो किन्हीं दो सूत्रों की एक ही लक्ष्य में सहप्रसक्ति होने पर बलाबल (बाध्य-बाधक) का निर्णय कर सकें।[3] सूत्र-शास्त्र की कलात्मक तकनीक और संक्षिप्तता पर अतिशय आग्रह यदि ऐसी अपेक्षाएं कराये तो आश्चर्य भी क्या? अष्टाध्यायी के व्याख्याताओं ने सहर्ष इस दायित्व को निभाया और सूत्रों के अन्तर्विरोधों को दूर करने की दिशा में 'आचार्य-शैली' से ज्ञापित कतिपय नियम निर्धारित कर दिये। ये नियम व्याकरण जगत् में ज्ञापक-न्याय सिद्ध परिभाषाओं के रूप में स्वीकृत किये गये और अष्टाध्यायी के प्रति उपकारक होने से आज इसके पूरक बन गये हैं। 'नागेश' का 'परिभाषेन्दु-शेखर' इसी प्रकार के नियमों का संकलन है।

12.5. बाधबीज; पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरंबलीयः

अष्टाध्यायी सूत्रों की प्रयोगिक अवेक्षा और जाँच पड़ताल करके व्याख्याओं ने सूत्रों की उन विशेषताओं को निर्धारित कर लिया जो सूत्र-विशेष को अन्य सूत्र के प्रति 'बाधक' बनाती हैं। ये बाधकत्व लक्षण विशेषताएं ही 'बाधबीज' कह-

1. काशिका (अष्टा० 1.4.2) 'तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः'।
2. वही, 'उत्सर्गापवादनित्यानित्यन्तरंगबहिरंगेषु तुल्यबलता नास्तीति नायमस्य योगस्य विषयो, बलवत्तैव तत्र भवितव्यम्'।
3 द्रष्टव्य—महा अ० 1, पा० 1, आ० 7, पृ० 258 : 'नैवेश्वर आज्ञापयति, नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति—असम्भवे अपवादैरुत्सर्गाबाध्यन्तामिति। किं तर्हि? लौकिकोयम् दृष्टान्तः। लोके हि सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति। तद् यथा—दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयताम् तक्रं कौण्डिन्याय इति, सत्यपि सम्भवे दधिदानस्य तक्रदानं निवर्तकं भवति'।

लाती हैं।[1] अष्टाध्यायी सूत्रों में 'पूर्व-पर-नित्यअन्तरंग-अपवाद' का क्रमशः उत्तरोत्तर बलीयस्त्व रहता है अर्थात् पूर्व से पर, नित्य, अन्तरंग तथा अपवाद; 'पर' से 'नित्य' 'अन्तरंग' और 'अपवाद'; 'नित्य' से 'अन्तरंग' और 'अपवाद'; तथा 'अन्तरंग' से 'अपवाद' बलवान् होते हैं। इन बाधबीजों को कतिपय उदाहरणों द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है।

(1) **'पूर्व' के प्रति 'पर' का बाधकत्व**—'आदे : परस्य' अष्टा० 1.1.54) का 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' (अष्टा० 1.1.55) से बाध होता है। फलतः 'अष्टाभ्य औश्' (अष्टा० 7.1.21) का 'औश्' सर्वादेश होता है।

(2) **'पर' के प्रति 'नित्य का बाधकत्व**—'कृताकृतप्रसङ्गी विधि' 'नित्य' कहलाती है।[2] अर्थात् अपने विरोधी के प्रवृत्त होने अथवा न होने से जिसकी प्रवृत्ति बाधित नहीं होती। तुदति, रुणद्धि आदि में परसूत्र 'पुगन्तलघूपधस्य च' (अष्टा० 7.3.86) को नित्य होने से बाधित कर 'तुदादिभ्यः शः' (अष्टा० (अष्टा० 3.1.77) तथा 'रुधादिभ्यः श्नम् (3.1.78) 'श' और 'श्नम्' करते हैं क्योंकि गुण हो या न हो विकरण तो होंगे ही।

(3) **'पर' के प्रति 'अन्तरङ्ग' का बाधकत्व**—विवेचनाधीन प्रयोग में जिस सूत्र की निमत्तता दूसरे सूत्र की निमित्तता से पूर्व ही सम्पन्न होती है। वह 'अन्तरङ्ग' कहलाता है। इसके विपरीत 'बहिरङ्ग' होता है। अन्तरंग और बहिरंग का 'बाध्य-बाधक भाव' 'अव्यवहित-घटक' के सिद्धान्त पर आधारित है।[3] 'उभये' में 'प्रथमचरमताल्पार्धकतिपयनेमाश्च' (अष्टा० 1.1.33) से प्राप्त 'जस्'-सापेक्ष वैकल्पिक सर्वनामता को रोककर 'सर्वादीनि-सर्वनामानि' (अष्टा० 1.1.27) अन्तरंग 'नित्य' सर्वनाम संज्ञा करता है।

(4) **'पर' के प्रति 'अपवाद का बाधकत्व**—सामान्य विधि की अनिवार्य प्रवृत्ति के विषय में जो नवीन विधि आरम्भ की जाती है वह 'विशेष होने से 'सामान्य' का अपवाद बन जाती है। 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (अष्टा० 1.1.55) सामान्यविधि के विषय से 'ङिच्च' (अष्टा० 1.1.53) अन्त्यादेश नियम विशेष विधि है। अतः सर्वादेश की बाधक हैं।

(5) **'नित्य' के प्रति 'अन्तरङ्ग' का बाधकत्व**—'ग्रामणिनी' कुले आदि में 'ह्रस्वोनपुंसकेप्रातिपदिकस्य' (अष्टा० 1.2.47) अन्तरङ्ग होने से 'नपुंसकस्य

1. बाधकत्वलक्षण परिभाषाओं के प्रकरण को नागेश के परिभाषेन्दुशेखर के व्याख्याताओं ने 'बाधबीज प्रकरण' नाम दिया है—देखिए—परिभा० भूति० पृ० 101
2. परिभा०, पृ० 110 : 'कृताकृतप्रसंगि नित्यं तद्विपरीतमनित्यम्'।
3. महा० अ० 1, पा० 1, आ० 8, पृ० 312 : 'यथैव चाऽनुपूर्व्यर्थानां प्रादुर्भावस्तथैव शब्दानामपि। तद्वत्कार्यैरपि भवितव्यम्।'

झलच:' (अष्टा० 7. 72) नित्य 'नुम्'-विधि को पूर्व प्रवृत्त होने से रोक देता है तथा ह्रस्व कर देना है। यदि ऐसे प्रयोगों में पहले नुम्' हो जाय तो प्रातिपदिक की अजन्तता नष्ट हो जाने से ह्रस्वविधि नहीं हो सकती।

(6) **अन्तरङ्ग के प्रति 'अपवाद' का बाधकत्व**—दैत्यारि:, औश्र: में अन्तरंगतया प्राप्त होती हुई आद्गुण:' (अष्टा० 6.1.87) तथा इकोयणचि' (अष्टा० 6.1.77) विधियों को अपवाद होने से 'अक: सवर्णदीर्घ:' (अष्टा० 6.1.101) बाधित कर देता है।

12.6. असिद्धत्व सिद्धान्त (The Theory of Neutralization) :

किन्हीं दो सूत्रों की सहप्रसक्ति से उत्पन्न अन्तर्विरोध को अथवा किसी एक की प्रवृत्ति के पश्चात् उसे आधार मानकर अन्य सूत्र की अनभीष्ट प्रवृत्ति को दूर करने के लिए सूत्रकार ने सूत्र-विधियों को सापेक्ष (पूर्व के प्रति 'पर' आदि रीति से) स्थिति में जो अमान्यता घोषित की है, उसे 'असिद्धत्व' का सिद्धान्त कहा जाता है। महाभाष्यकार ने असिद्धत्व के उद्देश्य को बहुत ही सार रूप में इस प्रकार सूचित किया है—'असिद्धवचनमादेशलक्षणप्रतिषेधार्थमुत्सर्गलक्षणभावार्थं च'। इसका सीधा आशय 'स्थानी' को निमित्त मानकर होने वाली विधियों को प्रवृत्त कराना तथा 'आदेश' को निमित्त मानकर प्रवृत्त उत्तरकालिक विधियों को रोकना है।[1] आधुनिक भाषाविज्ञान में भी असिद्धत्व सिद्धान्त को स्वीकृत करना पड़ा है।[2] यद्यपि यह बहुत स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त का अवतरण शास्त्रकार की स्वनिर्मित संरचना-नियमों को अन्तर्विरोध-रहित न बना सकने

1. जितेन्द्र बुद्धि, काशिकाविवरणपंजिका, (अष्टा० 8.2.1) : 'आदेशो लक्षणम् निमित्तंयस्य तदादेशलक्षणम्। तस्य प्रतिषेध: सोऽर्थ: प्रयोजनं यस्य तत् तथोक्तम्। उत्सर्गलक्षणभावार्थमिति। उत्सृज्यते निवर्त्यते इत्युत्सर्ग: स्थानिलक्षणम् उत्सर्गोलक्षणं निमित्तं यस्य तदुत्सर्गलक्षणं कार्य्यम्। तस्य भाव उपजनन उत्सर्गलक्षणभाव:।'
2. V. N. Mishra, The Descriptive Technique of Panini, p. 106 : "What is termed as neautralization of Sutras by Buiskool is actually the maxim well known in a generative grammar —a number of linguistic levels of representation are to be built up order from high to low, so constructed that be can generate all utterances by stating the permitted sequences of highest level elements, the constituency of each highest level elements in terms of elements of the second level, finally stating the phonemic constituency of elements of the next-lowest level.

की विवशता से हुआ है। यह विवशता शास्त्रकार का असामर्थ्य नहीं अपितु भाषाशब्दों की अनियत संरचनात्मक प्रवृत्तियां हैं जिन्हें अन्तिम रूप से वर्गीकृत करना असम्भव हो जाता है।[1]

12.7. अष्टाध्यायी में 'असिद्धत्व' के अवतरण की भूमिका

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान शब्द-रूपों का संरचनात्मक साम्य और वैषम्य के आधार पर समुच्चयन करता है। यह समुच्चयन शत-प्रतिशत निर्विरोध या निर्विवाद नहीं होता। ऐसा होना भी सम्भव नहीं लगता क्योंकि प्रत्युच्चारण-भेद रखने वाले ध्वनि-संघात (शब्द) को सभी परिस्थितियों में एक रूप रह पाना कठिन है। साथ ही भाषावैज्ञानिक वर्गीकरण में शब्द को अर्थ के प्रतीक रूप में ग्रहण किया जाता है।[2] अतः कभी-कभी ध्वनिगत साम्य के सर्वथा अभाव में भी तत्तत् अर्थों की प्रत्यायकता की सामानता के आधार पर ही विभिन्न शब्द रूपों को एक ही मूल के समुच्चय में समाहृत कर लिया जाता है। ऐसा करने में शास्त्रकार का उद्देश्य प्रत्येक मूल शब्द को संरचना के सभी स्तरों से, जोकि विवेचनाधीन भाषा में उसने देखे हैं, एकरूपता से गुज़ारना रहता है। इस एक-रूपता के निर्वाह में शास्त्रकार कहीं अर्थगत-साम्य और कहीं यथासम्भव ध्वनिगत-साम्य का अनुसरण अपनी विश्लेषण-सुविधा की दृष्टि से करता है। शब्द रूपों के समुच्चयन की योजना के आरम्भ में शास्त्रकार जिन विषमताओं को (विशेष रूप से ध्वनित विषमताओं को) उपेक्षित कर देता है, वे शब्द-संरचना के एक विशेष मोड़ पर अपना विरोध दिखाने लगती हैं। ये विरोध उन नियमों की एक-रूपता में बाधक बनना चाहते हैं जो संरचना के पूर्व स्तर पर उनकी उपेक्षा करके निर्धारित किये गये हैं। वस्तुतः शब्द-संरचना की कतिपय अनियत प्रवृत्तियों की उपेक्षा का ही अपर नाम 'असिद्धता' है।

---

1. Robert A. Hall, Jr. 'Introductory Linguistics', p. 119 :
   "It must not be tnought that linguistic analysis, and especially phonemics, is a cut-and-dried series of procedures for arriving at rigidly formulated results. In many instances, it is possible for analysts to start from the same data, and, pecause of differences in premises, to arrive at different conclusions."
2. Robert A. Hall Jr., Introductory Linguistics, p. 14 :
   "That which is symbolised by any given feature of a language is the meaning of that feature."

उपर्युक्त निष्कर्ष को वस्त्वात्मक-रूप देने की दृष्टि से अष्टाध्यायी के सन्दर्भ से कुछ उदाहरण चुन सकते हैं। पाणिनि ने अकारान्त प्रातिपदिक शब्दों का एक समुच्चय माना और यञादि 'सुप्' विभक्तियों में उनके अन्तिम 'अ' को दीर्घ-विधि (सुपि च 7.3.102) का नियम कर दिया, जैसे रामाभ्यां, सर्वाभ्याम् आदि। इस नियम के सन्दर्भ में अकारान्त प्रातिपदिकवर्ग में उस शब्द-कुल की उपेक्षा की गई जो संरचना के विशेष मोड़ पर अकारान्त न होने पर भी इन विभक्तियों के योग में अकारान्त हो जाता है जैसे, राजन् आदि शब्द। इसी प्रकार 'स्मै' आदि प्रत्यय-विधियों में अकारान्त-सर्वनाम शब्दों का समुच्चय निर्धारण करते समय 'अमुष्मै, अमुष्मात्' में मिलने वाले उकरान्त 'अमु' की उपेक्षा की गयी।[1] समुच्चय-निर्धारण के समय की ये ही उपेक्षाएं वस्तुतः असिद्धत्व-सिद्धान्त की जननी है। जिसे हम शास्त्रकार की 'उपेक्षा' नाम दे रहे हैं, दूसरे शब्दों में यह उसकी संरचना तकनीक के अन्तर्गत कुछ शब्दों या ध्वनियों की अनियत-स्थिति है। इस अनियत-स्थिति से निर्धारित शास्त्र-नियमों को लक्ष्य में प्रवृत्ति पाने में कोई बाधा न पड़े, उसने इन स्थितियों को जन्म देने वाले सूत्र-समुदाय को नियत प्रवृत्ति वाले सूत्रों की दृष्टि में असिद्ध कर दिया। अपने ही बनाए हुए सूत्रों में कुछ को सिद्ध और कुछ को असिद्ध घोषित करना शास्त्रकार की तकनीक का एक अंग होता है[2] जबकि उसके अध्येता को यह सब मनमाना आचरण

---

1. निरुक्त से सूचना मिलती है कि वैदिक भाषा में 'इम', 'अमु' और 'अ' तीनों ही सर्वनाम शब्द थे; जैसे—इमस्य, पाहि, अन्धसः, इमं वो निण्यं आचिकेत। इमा स्त्रीलिंग नहीं मिलता। 'अमुत' का ऋग्वेद में पांच बार प्रयोग हुआ है। पाणिनि ने संरचना की एकरूपता बनाने को इदम्, अदस् जैसे हलन्त सर्वनामों को भी अकारान्त सर्वनाम वर्ग में रख दिया अर्थात् वर्गीकरण के क्षण इनके उस रूप की उपेक्षा कर दी, जो प्रक्रिया के दौरान 'अ' तथा 'अमु' रूप में होना है। परिणामतः उस स्थिति में उसके अकारान्तमूलक 'स्मै' आदेश विधायक सूत्रों की प्रवृत्ति में उन सूत्रों का, जिनके द्वारा इन सर्वनामों को उक्त रूप दिया गया विरोध आ गया। इस दशा में पाणिनि को अग्रिम संरचना स्तर पर पहुंचे हुए शब्द रूप को स्वनिर्मित प्रक्रिया नियम निर्वाह के लिए पुनः पूर्व संरचना स्तर पर धकेलना पड़ा ताकि उस स्तर पर जो विधि लागू हो सकती थी सरलता से प्रवृत्त हो सके। इसे ही स्थानलक्षणभावार्थ (1.6) कहा जाता है। देखिए—काशीनाथ राजवाडे, निरुक्त—प्रथम भाग, प्रस्तावना।
2. Robert A. Hall Jr, Introductory Linguistic, p. 24 :
"To a considerable extent, the techniques used in analyzing any given phenomenon are determined by the characterstics of the phenomenon itself."

लग सकता है।

12.8. अष्टाध्यायी में असिद्धत्व-योजना के सन्दर्भ

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में तीन स्थलों पर असिद्धत्व का उल्लेख किया है— अष्टा० 6.1.86; 6.4.22; 8.2.1।

12.9. षत्वतुकोरसिद्ध : (अष्टा० 6.1.86)

इस सूत्र के द्वारा 'एकः पूर्वपरयोः' (अष्टा० 6.1.84) के अधिकार में विहित गुणादि एकादेश षत्व-विधि और तुग्-विधि के विषय में असिद्ध किए गए हैं। इस असिद्धता के फलस्वरूप एकादेश न तो षत्वविधि का साधक और न तुग्-विधि का बाधक बनता है। उदाहरणार्थ 'कोऽसिचत्, कोऽस्य, योऽस्य, कोऽस्मै, योऽस्मै' इत्यादि में पूर्वरूप एकादेश के असिद्ध होने से मध्य में अकार का व्यवधान आ जाता है और सकार को इण् (ओ) से अव्यवहित परत्व न मिलने से षत्व नहीं होता। अधीत्य, प्रेत्य आदि में दीर्घ एकादेश तथा गुण एकादेश के असिद्ध होने से 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (अष्टा० 6.1.71) से 'तुक्' आगम हो जाता है।

12.10. असिद्धवदत्राभात् (अष्टा० 6.4.22)

'अङ्गस्य' (अष्टा० 6.4.1) अधिकार के अन्तर्गत यह असिद्धाधिकार हुआ है। इस अधिकार के अन्तर्गत 'षष्ठ अध्याय' चतुर्थपादे के सभी सूत्र (154) आते हैं। इस असिद्धत्व की अपनी कुछ विशेषताएं हैं जो इस प्रकार हैं—

(क) यह असिद्धत्व दो सूत्रों के सहप्रसक्तिरूप अन्तर्विरोध को दूर नहीं करता। वह तो इस असिद्ध अधिकार में 'विप्रतिषेध' नियम से ही होता है। यह तो केवल पूर्वप्रवृत्त शास्त्र को ही पश्चात् प्रवृत्ति वाले शास्त्र की दृष्टि में असिद्ध करता है।

(ख) इससे 'पूर्व' के प्रति 'पर' असिद्ध नहीं होता जैसाकि 'पूर्वत्रासिद्धम्' द्वारा होता है अपितु लक्ष्य में पूर्वप्रवृत्त कोई भी 'आभीय' सूत्र इतर आभीय सूत्र की कर्त्तव्यता में असिद्ध होता है चाहे वह पूर्व हो अथवा पर हो।

(ग) एक आभीय-सूत्र की असिद्धता केवल समानाश्रय अन्य आभीय की कर्त्तव्यता में लागू होती है। अर्थात् लक्ष्य में जितने शब्द-भाग को एक 'आभीय' अपनी प्रवृत्ति का आश्रय बनाता है उतने को ही यदि द्वितीय 'आभीय भी बनाता हो तभी असिद्धत्व होता है। जैसे 'पपुषः पश्य'; 'चिच्युषः 'पश्य', 'लुलुवुषः पश्य' इत्यादि में 'वसोः सम्प्रसारणम्' (अष्टा० 6.4.131) से किया गया सम्प्रसारण क्रमशः 'आभीय काण्ड' के 'आतो-

लोपः इटि च' (अष्टा० 6.4.64) एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (अष्टा० 6.4.82), अचि श्नुधातु भ्रुवांय्वोरियङ्वङौ (अष्टा० 6.4.77) की कर्त्तव्यता में असिद्ध नहीं होता क्योंकि उक्त तीनों विधियां केवल 'वस्वन्त' भाग को अपना आश्रय बनाती हैं जबकि सम्प्रसारण-विधि विभक्तिपर्यन्त भाग को आश्रय बनाती हैं। अतः ये विधियां समानाश्रय नहीं विभिन्नाश्रय हैं।

12.11. 'आभीय' असिद्ध काण्ड में सभी सूत्र तो एक-दूसरे के समानाश्रयविधि ही करते हैं और न ही सभी असिद्धता प्राप्त करते हैं। अनेकों सूत्र तो केवल तत्तत् कार्यविशेष-योजना के अन्तर्गत संगृहीत हैं। उदाहरण के लिए 'श्नान्नलोपः' (अष्टा० 6.4.23) का नलोप-प्रकरण केवल प्रसंगात् है। अतः इस असिद्धत्व प्रकरण के प्रयोजनों को तालिका-बद्ध रूप में प्रस्तुत करना अधिक उपादेय होगा क्योंकि उससे आभीय प्रकरण की समग्र उद्देश्यता वस्तुरूप में आ जाएगी।

आभीय काण्ड के असिद्ध सूत्रों की तालिका

असिद्ध-सूत्र	समानाश्रय-सूत्र जिसके प्रति असिद्ध है	उदाहरण
'शा हौ' (6.4.35)	हुझल्भ्यो हेर्धिः (6.4.101)	शाधि
घ्वसोरेद्धावभ्यास लोपश्च (9.4.119)	,, ,,	एधि च
अतो हे : (6.4.105)	अत उत् सार्वधातुके (6.4.110)	कुरु
चिणो लुक् (6.4.104)	लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (6.4.71)	अकारि
एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (6.4.82)	,, ,,	आयन
श्नसोरल्लोपः (6.4.111)	आडजादीनाम् (6.4.72)	आस्ताम्
अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपोझलि क्ङिति (6.4.37)	अतो हेः (6.4.105)	आगहि
,, ,,	अतो लोपः (6.4.48)	गतः
हन्तेर्जः (6.4.36)	अतो हेः (6.4.105)	जहि
श्वयुवमघोनामतद्धिते (6.4.133)	यस्येति च (6.4.148)	मघोनः
इरयो रे (6.4.76)	आतो लोप इटि च (6.4.64)	दध्रे

नित्यं करोते : (6.4.108)	अत उत्सार्वधातुके (6.4.110)	कुर्वः, कुर्मः
'स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्म्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रह- दृशां वा चिण्वदिट् च' (6.4.62)	णेरनिटि (6.4.51)	कारिष्यते
चिणो लुक्[1] (6.4.104)	चिणो लुक् (6.4.104)	अकारितराम्

12.12. पूर्वत्रासिद्धम् (अष्टा० 8.2.1)

अष्टम अध्याय के द्वितीय पाद के इस प्रथम सूत्र द्वारा अष्टाध्यायी के स्पष्टतः दो भाग हो जाते हैं—प्रथम भाग इस सूत्र से पूर्व का सम्पूर्ण सूत्र-कुल जो सपादसप्ताध्यायी कहा जाता है और जिसे इस सूत्र की दृष्टि से सरलतापूर्वक सिद्धकाण्ड नाम दिया जा सकता है; द्वितीय भाग, इस सूत्र से आगे का सूत्र समुदाय जिसे त्रिपादी कहा जाता है और जिसे इस सूत्र की दृष्टि से असिद्ध काण्ड कहना अधिक समीचीन होगा।

12.13. असिद्धत्व के दो रूप

'पूर्वत्रासिद्धम्' के अधिकार-सूत्र[2] होने से उसके द्वारा विहित असिद्धत्व की दो दिशाएं हैं :

(क) सपादसप्ताध्यायी के प्रति त्रिपादी की असिद्धता;

(ख) त्रिपादी पूर्व शास्त्र के प्रति परशास्त्र की असिद्धता।

सपादसप्ताध्यायी के प्रति त्रिपादी के असिद्ध होने से दो रूपों में परिणाम निकलता है। प्रथमतः जब किसी लक्ष्य में सपादसप्ताध्यायी के सूत्र की तथा त्रिपादी के सूत्र की सहप्रसक्ति होती है तो त्रैपादिक के असिद्ध होने से सपादसप्ताध्यायी के सूत्र को अवसर प्राप्त होता है; जैसे 'अमुष्मै, अमुष्मात् इत्यादि में त्रैपादिक 'अदसो सेर्दादु दो मः' (अष्टा० 8.2.80) के असिद्ध होने से सपादसप्ताध्यायीस्थ 'सर्वनाम्नः स्मै' (अष्टा० 7.1.13) तथा 'ङसिङ्योः स्मात् स्मिनौ' (अष्टा० 7.1.15) द्वारा 'स्मै' और 'स्मात्' आदेश होते हैं। ऐसे ही 'सुपर्वाणो' इत्यादि में 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (अष्टा० 8.4.2) त्रैपादिक

1. यह सूत्र 'चिण्' से परे प्रत्यय का 'लुक्' करता है जो अन्ततः प्रत्यय के आदि 'त' को होता है। यही 'लुक्' 'अकारितराम्' में भी प्राप्त है। अतः सूत्र की पुनः प्रवृत्ति में प्रथम प्रवृत्ति द्वारा विहित 'तलोप' असिद्ध हो जाता है। यह असिद्धता विषय-भेद से एक ही सूत्र की प्रथम प्रवृत्ति तथा पश्चात् प्रवृत्ति के मध्य है।

2. महा० अ० 8, पा० 2, आ० 1, पृ० 356, वा० 'पूर्वत्रासिद्धमधिकारः'।

णत्व-विधि के असिद्ध होने से 'नोपधायाः' (अष्टा० 6.4.7) से दीर्घ हो जाता है। द्वितीय, पूर्वप्रवृत्त त्रैपादिक के असिद्ध होने से उसके द्वारा उत्पन्न स्थिति में सपादसप्ताध्यायीस्थ विधि प्रवृत्त नहीं होती; जैसे राजभिः, राजभ्याम्, राजसु इत्यादि में अकारान्त 'अंग' को होने वाली 'ऐस्', 'दीर्घ', 'एत्व' विधियां नहीं होतीं।

त्रैपादिक में पूर्व के प्रति परशास्त्र के असिद्ध होने से दो त्रैपादिक सूत्रों की सहप्रसक्ति में पूर्व को अवसर प्राप्त होगा; जैसे—'पुनर् रमते' आदि में 'रोरि' (अष्टा० 8.3.14) तथा 'खरवासनयोर्विसर्जनीयः' (अष्टा० 8.3.15) की सह-प्रसक्ति में पूर्व का 'रोरि' ही प्रवृत्त होता है—पुना रमते।

पर त्रैपादिक के असिद्ध होने से उसके द्वारा प्रदत्त भूमिका का आश्रय लेकर पूर्वत्रैपादिक प्रवृत्त नहीं होता; जैसे—गोधुङ्मान् आदि में पूर्व प्रवृत्त घत्व के असिद्ध होने से 'झयः' (अष्टा० 8.2.10) 'मतुप्' के 'म' को 'व' नहीं करता।

12.14. त्रैपादिक असिद्धत्व अपवाद सूत्र का नहीं

अपवाद क्योंकि एक विशेषविधि होता है अतः उस पर असिद्धत्व-नियम लागू नहीं होता। अतएव 'गोधुक्' आदि प्रयोगों में 'होढः' (अष्टा० 8.2.31) के पूर्व होते हुए भी 'दादेर्घातोर्घः' (अष्टा० 8.2.32) अपवाद होने से प्रवृत्त होता है अर्थात् असिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार 'काष्ठतट्' आदि में अपवाद होने से स्कोः 'संयोगाद्योरन्तेच (अष्टा० 8.2.29) परसूत्र होते हुए भी अपवादतया 'संयोगान्तस्य लोपः' (अष्टा० 8.2.23) संयोगान्तलोप का बाधक होता है।

12.15. सपादसप्ताध्यायीस्थ परिभाषा, अतिदेश तथा अधिकारों से त्रिपादी का सम्बन्ध

'पूर्वत्रासिद्धम्' द्वारा सपादसप्ताध्यायी समुदाय की दृष्टि से त्रैपादिक समुदाय के असिद्धत्व विधान का शास्त्र को लक्ष्योपयोगी वाक्यार्थ की दिशा देने वाली सिद्धकाण्ड की 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य', 'तस्मादित्युत्तरस्य', 'षष्ठी स्थाने योगा' आदि परिभाषाओं तथा सपादसप्ताध्यायीस्थ पदस्य (अष्टा० 8.1 16) अधिकार तथा स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (अष्टा० 1.1.56) तथा अन्तादिवच्च (अष्टा 6.1.85) आदि अतिदेश पर कोई प्रभाव नहीं होता। भाष्यकार ने स्पष्ट शब्दों में यह तथ्य सूचित किया है—'यद्यपीदं तत्रासिद्धं तथ्विह सिद्धम्।[1]

भाष्यकार के कथन से तो केवल पूर्वत्रासिद्धम् की अभिप्रेतार्थ ध्वनि ही निकलती है, वास्तविकता यह है कि सिद्धत्व और असिद्धत्व का प्रश्न तभी उठता

1. महा० अ० 8 पा० 2 आ० 1, पृ० 355

है जब शास्त्र अपना अप्रामाण्यरहित लक्ष्य-संस्कारक वाक्ययार्थ देने में समर्थ हो। उक्त परिभाषाएं शास्त्रों के बलाबल से सम्बन्ध नहीं रखतीं अपितु सूत्रों को अपना वाक्ययार्थ बोधन करने की दिशा देती हैं। अतः ऐसी परिभाषाओं के प्रति किसी भी सूत्र के असिद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे कतिपय परिभाषाएं जो सूत्रों का किसी-न-किसी अंश में बलाबल-सम्पादन करती हैं त्रिपादी में प्रवृत्त नहीं होतीं। ऐसी परिभाषाओं में पाणिनि-पठित केवल दो परिभाषाएं हैं—'विप्रतिषेधेपरंकार्यम्' (अष्टा० 1.4.1)[1] तथा 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (अष्टा० 6.1.158) अपाणिनि-पठित परिभाषाओं में 'असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे तथा 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तम् तद्विघातस्य'—दो परिभाषाएं त्रिपादी में प्रवृत्त नहीं होतीं।

12.16. शृङ्गग्राहिकया असिद्धत्वविधान

'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र की प्रयोगविधा के विषय में नागेश ने 'लघुशब्देन्दु शेखर' में बहुत ही महत्त्वपूर्ण दिशा का निर्देश किया था—'शृङ्ग्राहिकयैव तु तत्तच्छास्त्रं प्रति तस्यासिद्धत्वं प्रतिपाद्यते'। इसका आशय यह है कि सपादसप्ताध्यायी समुदाय के प्रति त्रिपादी समुदाय की असिद्धताकथनमात्र से; अथवा पूर्व के प्रति पर की असिद्धता कह देने से 'पूर्वत्रासिद्धम्' का वस्त्वात्मक महत्त्व नहीं समझा जा सकता, जब तक कि असिद्ध होने वाले सूत्र तथा जिसके प्रति असिद्ध है उस सूत्र को एक-एक करके न पकड़ लिया जाय। इस विधा को उसने 'शृङ्ग्राहिका' नाम दिया है जिसका अभिप्राय है कि जैसे एक-एक 'गोव्यक्ति' का सींग पकड़कर 'अयं गौः, अयं गौः' इस प्रकार बोध कराया जाय[2] उसी प्रकार प्रत्येक सूत्र व्यक्ति को पकड़कर 'एतस्मिन् पूर्वत्र कर्त्तव्ये एतत् परम् असिद्धम्' ऐसे बोध होना चाहिए। जहां तक हमारा ज्ञान है भारत के किसी पाणिनीय व्याख्याता ने इस महत्त्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह नहीं किया।

12.17. आचार्य बुशकूल और उसका त्रिपादी

नागेश के द्वारा प्रदर्शित 'शृङ्ग्राहिका' शैली से त्रिपादी का व्याख्यान करने का श्रेय डच विद्वान् बुशकूल (Buiskool) को जाता है। उसकी मूल्यवान कृति 'त्रिपादी' पाणिनीय व्याकरण के अध्येता के लिए अत्यन्त उपयोगी है। विद्वान्

---

1. महा० अ० 8, पा० 2, आ० 1, पृ० 355 : वा० 'पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य'।
2. शोधकर्ता को 'शृंगग्राहिका' का यह पदार्थ-बोध आचार्य श्री वेदानन्द झा, व्या० साहि०, न्या०, एम० ए० की कृपा से प्राप्त हुआ।

लेखक ने बहुत ही वैज्ञानिक और सुबोध पद्धति से पाणिनि के असिद्धत्व-सिद्धान्त का व्याख्यान किया है। पाणिनि के इस असिद्ध-काण्ड द्वारा सभी अन्तर्विरोध परिहृत हो पाते हैं अथवा नहीं तथा कहीं अनावश्यक रूप से किसी सूत्र को तो असिद्ध काण्ड में नहीं डाल दिया गया, निर्णय दे पाना बहुत व्यापक और स्वतन्त्र अध्ययन की अपेक्षा रखता है। वार्तिककार को कुछ विधियों का सिद्धत्व-विधान करना पड़ा है जैसे—'सिज्लोप एकादेशे सिद्धोवक्तव्यः' आदि ।[1] अतः इसकी प्रतिसूत्र समीक्षा की जानी चाहिए। आचार्य बुशकूल ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है ।[2] हमें यह मानना होगा कि हमारे इस डच आचार्य ने त्रिपादी असिद्धकाण्ड का जो अध्ययन प्रस्तुत किया है यह एक महत्त्वपूर्ण दिशा का आरम्भ है। यह बात दूसरी है कि पाणिनीय शास्त्र की बहुत-सी जादुई विशेषताओं'[3] में से 'असिद्धत्व-सिद्धान्त' नाम की जटिल विशेषता का उसने 'सर्वत्रैव सिद्धमिति[4] कहकर उपहास कर लिया हो। किन्तु यह उपहास पाणिनीय कृति के प्रति उसकी कोई अवमानना प्रकट नहीं करता क्योंकि उसकी यत्नपूर्वक की गई कृति—'त्रिपादी' पाणिनि का सबसे बड़ा सम्मान है।

1. विशेष विवरण के लिए देखिए—काशिका, अष्टा० 8.2.3।
2. त्रिपादी, पृ० 74
3. पाणिनीय संरचना प्रक्रिया पर 'बुश्कूल' का यह कथन द्रष्टव्य है—वही, पृ० 15 :
   "Frequently elements are replaced by others. And so on, We are reminded of a classic chemical experiment and think of the iron-sulphide, which acquires properties that were not inherent in the sulpher nor in the metal either. Or of the iron-fillings, which, strewn about as a shapeless mass, obaying megnatic forces, range themselves to fixed figures, according to fixed laws."
4. वही, पृ० 156

सहायक-ग्रन्थ-सूची

A. संस्कृत-ग्रन्थ

ईश्वर कृष्ण—सांख्यकारिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-6।

ओरम् भट्ट—व्याकरणदीपिका (पाणिनि सूत्रवृद्धि), ई० जे० लजारस एण्ड कम्पनी, मेडिकल हाल प्रेस, बनारस, 1916।

कैयट—प्रदीप, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

कौण्डभट्ट—वैयाकरणभूषणसार, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी—नवाह्निकमहाभाष्य भूमिका, चौखम्बा, वाराणसी, 1947।

गौतम—न्यायसूत्र।

जगदीश तर्कालंकार—शब्दशक्तिप्रकाशिका, चौखम्बा, वाराणसी, 1934।

जिनेन्द्रबुद्धि—काशिकाविवरणपंजिका, श्रीचन्द्र चक्रवर्ती, दि रिसर्च सोसाइटी राजशाही बंगाल, 1913-16।

जैमिनि—मीमांसा सूत्र।

जिनेन्द्र सरस्वती—तत्वबोधिनी, वेंकटेश्वर, बम्बई, संवत् 2015।

नागेश—वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा, गाजीपुर, संवत् 1986।

नागेश—वैयाकरणसिद्धान्तलघुसंजूषा, मोतीलाल बनारनीदास, वाराणसी।

नागेश—परिभाषेन्दुशेखर।

नागेश—लघुशब्देन्दुशेखर, चौखम्बा, वाराणसी।

पतंजलि—महाभाष्य, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1967।

भट्टोजिदीक्षित—सिद्धान्तकौमुदी।

भटटोजिदीक्षित—प्रौढ़मनोरमा, संस्कृत पुस्तक प्रचार, वाराणसी।

भर्तृहरि—वाक्यपदीयम्, चौखम्बा, वाराणसी, 1961।

भर्तृहरि—महाभाष्यटीका (चतुर्थ आह्निक पर्यन्त), स० वी० स्वामी-

नाथन, काशी विश्वविद्यालय, सं० 2021।

मम्मट—काव्य-प्रकाश।

यास्क—निरुक्त, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला दशम पुष्पम्।

वरदराज—लघुसिद्धान्त कौमुदी, श्री घरानन्द शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास।

वर्धमान—गणरत्न महोदधि, जूलियस एग्लिङ्ग, मोतीलाल बनारसीदास। 1963।

वामन जयादित्य—काशिका, चौखम्बा, वाराणसी।

बालकृष्ण पंचोली—वैयाकरण भूषणसार प्रभाटीका।

सायण—ऋग्वेदभाष्यभूमिका, ऋक्सूक्तवैजयन्ती, प्रो० हरिदामोदर वेलणकर, वैदिक संशोधन मंडल, पूना।

सभापति शर्मोपाध्याय—लघुमंजूषाभूमिका।

सोमदेव—कथासरितसागर, मोतीलाल बनारसीदास, 1970।

शिवदत्त दाधिमथ—सारदर्शिनी, सि० कौ० टिप्पणी, श्री वेंकटेश्वर, बम्बई, 1925।

शिवदत्त दाधिमथ—सिद्धान्तकौमुदी।

शेषवेंकटाचलशास्त्री—लघुत्रिमुनिकल्प।

B. Selected Works of Linguistics and Paninian Grammar

A.E. Darbyshire—Exercises in Linguistics for Language Teachers, Bombay, 1971.

Indian Literature : Chawkhamba Sanskrit Studies, Varanasi, Vol. VIII.

Betty Shafts—Grammatical Method in Panini, New Havan, 1961.

Charles Hockett—A Course in Modern Linguistics, Indian Edition, 1970.

F. Kielhorn—Katyayan and Patanjali, Ideological Book House, Varanasi, 1963.

G. V. Devsthali—Anubandhas of Panini, Poona, 1967.

G. V. Devsthali, 'Phit Sutras of Santanava', Poona, 1967.

H. A. Gleason Jr.—An Introduction to Descriptive Linguistics, 1955, Oxford & IBH Publishing Co. Calcutta.

H. E. Buiskool—The Tripadi Leiden.

Irach J. S. Taraporewala—Sanskrit Syntax, Munshi Ram Manohar Lal, Delhi, 1967.

I. J. S. Taraporewala—Elemets of the Science of Language, Calcutta Uuiversel, 1962.

K. A. Subramania Iyer—Vakyapadiya of Bharthari with the Vritti, Deccan College, Research Institute, Poona, 1965.

K. V. Abhyankar—A Dictionary of Sanskrit Grammar, Oriental Institute, Baroda, 1961.

Bloomfield—Language, Moti Lal Banarasi Das, Banaras.

Mahadeva Vedantin—Unadikosa, edited by K. Kunjunni Raja, University of Madras, 1956.

Manomohan Ghose—Paniniya Siksa, University of Calcutta, 1938.

Monier Williams—Sanskrit Language, Chowkhamba Sanskrit Series, Vol. XXI, 1962.

N. Krishnaswami—An Introduction to Linguistics for Language Teachers, Somaiya Publications Pvt. Ltd., Bombay, 1971.

P. Thime—Panini and Vedas, Globe Press, Printers, Publishers, Allahabad, 1935.

R. H. Robins—General Linguistics, An Introductory Survey, Longmans, London, 1967.

Robert A. Hall, Jr.—Introductory Linguistics, Indian Edition, Delhi, 1961.

Shripad Krishna Belvalkar—Systems of Sanskrit Grammar.

Siddheshwar Verma—Critical Studies in the Phonetic Observations of Indian Gramarians, Munshi Ram Manohar Lal, Delhi, 1961.

S. C. Basu—Astadhyayi Panini, Moti Lal Banarsi Das, 1962.

T. Burrow—The Sanskrit Language, Chowkhamba, Varanasi, 1965.

Vidyanivas Misra—The Descriptive Technique of Panini, Mouton & Co., 1966.

W. D. Whitney—Sanskrit Grammar, Delhi, 1962.

अनुभूतिस्वरूपाचार्य—सारस्वत व्याकरणम्, निर्णयसागर, बम्बई, 1952 ।

कपिलदेव—संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और पाणिनि, भारतीय प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, अजमेर।

डा० केशवराम पाल—हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में अर्थ परिवर्तन, मेरठ, 1964।

चन्द्रगोभिन—चान्द्र व्याकरण, सम्पादक—क्षितीशचन्द्र चटर्जी, पूना, 1961।

टी० बरो—संस्कृत भाषा, अनुवादक भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965।

देवनन्दी—जैनेन्द्र व्याकरणम्, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1956 ।

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री—संस्कृत शिक्षण की नवीन योजना, साहित्य भण्डार, मेरठ।

भोलानाथ तिवारी—भाषाविज्ञानकोश, ज्ञानमण्डल, वाराणसी।

भोलानाथ तिवारी—भाषाविज्ञान (चतुर्थ संस्करण), किताब महल, इलाहाबाद, 1951।

भोलाशंकर व्यास—संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1961।

युधिष्ठिर मीमांसक—वैदिक स्वर मीमांसा, अमृतसर, 1958।

रामगोपाल—वैदिक व्याकरण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1965।

शिवनारायण शास्त्री—वैदिक वाङ्मय में भाषा-चिन्तन, इण्डोलाजिकल बुकहाउस, दिल्ली।

सत्यकाम वर्मा—भाषा-तत्त्व और वाक्यपदीय, भारतीय प्रकाशन, दिल्ली, 1968।

मैक्समूलर—भाषा विज्ञान पर भाषण, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, 1964।

C. Other Works

Albrecht Weber—The History of Indian Literature, Chowkhamba Sanskrit Studies, Varanasi, Vol. VIII.

M. Winternitz—A History of Indian Literature, Univer-

sity of Calcutta, 1959.

Arthur A. Macdonell—A History of Sanskrit Literature, Moti Lal Banarsi Das, Delhi, 1965.

A. B. Keith—A History of Sanskrit Literature, Translated by Mangal Deva Shastri, Moti Lal Banarsi Das, 1967.

Theodore Goldstucker—Panini, edited by S. N. Shastri, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi.

Gori Nath Shastri—The Philosophy of Word and Meaning.

D. C. Kapoor—Set Theory and Real Analysis, Krishna Bros. Amritsar, 1970.

Suryakant—Rk Tantram, Mehar Chandra Lakshman Das, Delhi.

Mangal Deva—Rigveda Pratisakhya, Vaidik Swadhyaya Mandir, Varanasi.

W. D. Whitney—Atharvaveda Pratisakhya, Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, Vol. XX.

Satyakama Verma—Sanskrit Vyakarana ka Udbhav aur Vikas, Moti Lal Banarsi Das, Delhi, 1971.

V. S. Apte—The Students Sanskrit-English Dictionary.

V.S. Agarwala—Panini Kalina Bharatvarsh, Chawkhamba, sam, 2012.

Yudhisthira Mimansak—Sanskrit Vyakarana Shastra ka Itihas, Dehradun, Sam, 2007.

D. Research Journals and Papers

Proof. C.K. Pandey—'Patanjali', The Journal of the Bihar Research Society, Vol. XLIV, 1958.

Prof. J. N. Kapoor—Mathematics & Linguistics, a paper read in a Seminar, Meerut.

R. N. Dandekar—Some Aspects of the Indo Mediterranean Contats-Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. L, Poona, 1969.

S. D. Laddu—Evolving a Technical Terminology for Des-

criptive Grammar, Indian Antiquary, Vol. V, April, 1971.

S. D. Joshi—Two Methods of Interpreting Panini, Publication of the Centre of advanced study in Sanskrit. Reprinted from the Journal of the University of Poona, Humanities section, No. 23, pp. 53-61.

□□□